सामाजिक विचारधाराएँ

सामाजिक विचारधाराएँ

लेखक
विनेश खरे

दिल्ली पुस्तक सदन
दिल्ली—पटना

प्रकाशक
भारती मन्दिर
ए ४/४७ अमर कॉलोनी
लाजपत नगर नई दिल्ली





मूल्य १ ०



मुद्रक
…नात्मक मुद्रण एजेन्सी द्वारा
… प्रो के प्रस …
…ल्ली।

विषय-सूची

कार्ल मार्क्स (Karl Marx)

आगस्त कौंत (कॉम्टे) (Auguste Comte)

टालकोट पारसन्स (Talcott Parsons)

विलफ़ेरडो परेटो (Vilfredo Pareto)

इमाइल दुर्खीम (Emile Durkheim)

टालकोट पारसन्स (Talcott Parsons)

भूमिका

सामाजिक चिन्तन का प्रारम्भ सम्भवतः तभी से हुआ था जबसे कि मानव इतिहास का। ऐसा शायद ही कोई विद्वान और विचारक हुआ हो जिसने समाज के बारे में कुछ विचार प्रकट न किये हों। दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और धार्मिक ग्रन्थों में समाज तथा उसकी विभिन्न प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में तरह-तरह के विचार देखने को मिलते हैं। समाज तथा उसकी प्रक्रियाओं पर विचार करते समय अलग-अलग विद्वानों के अलग-अलग दृष्टिकोण रहे हैं। १९वीं शताब्दी में आगस्त कॉम्टे ने सामाजिक सिद्धान्तों में एकसूत्रता स्थापित करके समाजशास्त्र रूपी एक नये शास्त्र को जन्म दिया। उसके बाद से अब तक कितने ही विचारक हुए हैं जिन्होंने समाज और उसकी प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में विशुद्धतः समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया। फिर भी सामाजिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में जो अलग-अलग सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं उनमें अलग-अलग चीजों को सामाजिक व्यवस्था का मूल तत्त्व तथा समाज में परिवर्तन लाने वाला मुख्य परिवर्तनकारी तत्त्व मानकर चला गया है। किन्हीं सिद्धान्तों में भौगोलिक तत्त्वों को बुनियादी तथा परिवर्तनकारी तत्त्व माना गया तो किन्हीं सिद्धान्तों में आर्थिक, धार्मिक, आध्यात्मिक अथवा सांस्कृतिक तत्त्वों को। किसी काल विशेष में किसी प्रकार के सिद्धान्तों का बोलबाला रहा तो किसी काल विशेष में किसी प्रकार के सिद्धान्तों का। पर ऐसा नहीं हुआ है कि एक काल में एक ही प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ हो। प्रत्येक काल में अनेक प्रकार के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। अतः हमने इस पुस्तक में सामाजिक विचारों अथवा सिद्धान्तों का वर्गीकरण ऐतिहासिक कालों के अनुसार न करके सिद्धान्तों की अनुरूपता के आधार पर किया है।

हमने इस पुस्तक के प्रारम्भ में प्रायः सभी मुख्य समाजशास्त्रीय स्कूलों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इससे पाठक को यह जानकारी हो जाएगी कि सामाजिक विचारधाराएँ कितनी शाखाओं (स्कूलों) में विभक्त हैं तथा प्रत्येक किस्म

भूमिका

सामाजिक चिन्तन का प्रारम्भ सम्भवतः तभी से हुआ था जबसे कि मानव इतिहास बना। ऐसा शायद ही कोई विद्वान और विचारक हुआ हो जिसने समाज के बारे में कुछ विचार प्रकट न किये हों। दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और धार्मिक ग्रन्थों में समाज तथा उसकी विभिन्न प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में तरह-तरह के विचार देखने को मिलते हैं। समाज तथा उसकी प्रक्रियाओं पर विचार करते समय अलग-अलग विद्वानों के अलग-अलग दृष्टिकोण रहे हैं। १९वीं शताब्दी में आगस्त कॉम्टे ने सामाजिक सिद्धान्तों में एकसूत्रता स्थापित करके समाजशास्त्र रूपी एक नये शास्त्र को जन्म दिया। उसके बाद से अब तक कितने ही विचारक हुए हैं जिन्होंने समाज और उसकी प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में विशुद्धतः समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया। फिर भी सामाजिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में जो अलग-अलग सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं उनमें अलग-अलग चीजों को सामाजिक व्यवस्था का मूल तत्व तथा समाज में परिवर्तन लाने वाला मुख्य परिवर्तनकारी तत्व मानकर चला गया है। किन्हीं सिद्धान्तों में भौगोलिक तत्वों को बुनियादी तथा परिवर्तनकारी तत्व माना गया तो किन्हीं सिद्धान्तों में आर्थिक, धार्मिक, आध्यात्मिक अथवा सांस्कृतिक तत्वों को। किसी काल विशेष में किसी प्रकार के सिद्धान्तों का बोलबाला रहा तो किसी काल विशेष में किसी प्रकार के सिद्धान्तों का। पर ऐसा नहीं हुआ है कि एक काल में एक ही प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ हो; प्रत्येक काल में अनेक प्रकार के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। अतः हमने इस पुस्तक में सामाजिक विचारों अथवा सिद्धान्तों का वर्गीकरण ऐतिहासिक कालों के अनुसार न करके सिद्धान्तों की अनुरूपता के आधार पर किया है।

हमने इस पुस्तक के प्रारम्भ में प्रायः सभी मुख्य समाजशास्त्रीय स्कूलों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इससे पाठक को यह जानकारी हो जाएगी कि सामाजिक विचारधाराएँ कितनी शाखाओं (स्कूलों) में विभक्त हैं तथा प्रत्येक विचार

की विचारधारा का बुनियादी दृष्टिकोण क्या है। चूंकि इस पुस्तक का उद्देश्य आगरा विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में दिये गए सभी समाजशास्त्रियों के सामाजिक विचारों का विवरण, विवेचन व तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है, अतः सामाजिक विचारों का इतिहास प्रस्तुत करते समय इन सभी समाजशास्त्रियों के सिद्धान्तों तथा बुनियादी दृष्टिकोणों का विशद रूप से उल्लेख किया गया है। अतः प्रथम अध्याय के अवलोकन से ही पाठक को यह जानकारी मिल जाएगी कि इन सभी समाजशास्त्रियों में से कौन किस स्कूल का है और इस कारण उसके विचार किन अन्य समाजशास्त्रियों से मिलते-जुलते हैं तथा किन समाजशास्त्रियों के विचारों से किस रूप में भिन्न हैं। अतः इस अध्याय को पढ़ लेने पर पाठक के लिए आगरा विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में उल्लिखित समाजशास्त्रियों के विचारों का विस्तृत अध्ययन आसान हो जाएगा।

प्रथम अध्याय में सामाजिक विचारों का इतिहास तथा समाजशास्त्रीय स्कूलों का वर्गीकरण व संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने के बाद आगस्त कॉम्टे, दुर्खीम परेटो वेबलन कार्ल मार्क्स, महात्मा गांधी मैक्स वेबर सोरोकिन और पारसन्स के विचारों तथा सिद्धान्तों का विवरण व विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इनमें से प्रत्येक का जीवन परिचय देने के साथ-साथ उनके चिन्तन की पृष्ठभूमि से भी अवगत कराया गया है। इस बात का बहुत ज्यादा ध्यान रखा गया है कि भाषा अत्यन्त सरल तथा बोधगम्य हो। चूंकि आगरा विश्वविद्यालय के प्रश्नपत्र अंग्रेजी में आते हैं अतः पारिभाषिक शब्दों को कोष्ठकों में दे दिया गया है। इसके अलावा पुस्तक के अन्त में पारिभाषिक शब्दों की दो सूचियाँ दी गई हैं। पहली सूची में पारिभाषिक शब्द हिन्दी में देकर उनके सामने उनके अंग्रेजी पर्याय दिये गए हैं। दूसरी सूची में पारिभाषिक शब्द अंग्रेजी में देकर उनके सामने उनके हिन्दी पर्याय दिये गए हैं। इससे छात्रों को हिन्दी अथवा अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों के पर्याय तथा अर्थ ढूंढने में आसानी रहेगी।

इस पुस्तक को मूल ग्रन्थों के आधार पर तैयार किया गया है और इसे छात्रों के लिए अधिकाधिक उपयोगी बनाने की चेष्टा की गई है। यदि कहीं कोई त्रुटि या कमी रह गई हो तो इस सम्बन्ध में दिये गए सुझावों तथा पुस्तक को बेहतर बनाने के लिए दिये गए सुझावों का लेखक द्वारा पूर्णतया सम्मान किया जाएगा।

—हितेश खरे

१९८१

सामाजिक विचारों का इतिहास

सामाजिक विचारों का इतिहास

अरस्तू (Aristotle) ने कहा है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और यदि कानून तथा न्याय (समाज) न हो तो वह दूसरे सभी जीवों से बदतर साबित हो सकता है। मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के कारण सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्यों के बीच ऐसे सम्बन्ध रहे हैं जिन्हें सामाजिक सम्बन्ध कहा जा सकता है। उसके इन सामाजिक सम्बन्धों ने ही सामाजिक चिन्तन को जन्म दिया। आदिम काल में सामाजिक चिन्तन का स्वरूप लोक-कथाएं तथा लोकोक्तियाँ थीं। जैसे-जैसे मनुष्य ने प्रगति की जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढ़ा और उसके सामाजिक सम्बन्धों में जटिलता आयी वैसे वैसे उसके सामाजिक चिन्तन के स्वरूप भी बदलते गये। सामाजिक सम्बन्धों की जटिलताओं के फलस्वरूप ही सामाजिक चिन्तन का वर्गीकरण सम्पन्न हुआ। मनुष्य के चिन्तन की धाराएं अनेक वर्गों में विभक्त हुईं, जैसे कि धार्मिक चिन्तन दार्शनिक चिन्तन भौतिक चिन्तन और सामाजिक चिन्तन। चिन्तन और प्रयोग के सम्मिश्रणों द्वारा विभिन्न विज्ञानों का जन्म हुआ। इन विज्ञानों ने मनुष्य के चिन्तन की समस्त धाराओं तथा उसके चिन्तन की समस्त पद्धतियों को प्रभावित किया।

चूंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः उसके चिन्तन की समस्त धाराओं में सामाजिक चिन्तन के अंश मिलते हैं। चाहे कोई धार्मिक ग्रन्थ हो अथवा दार्शनिक मनोवैज्ञानिक या भौतिक वह सामाजिक चिन्तन से अछूता नहीं रहा है। पर सामाजिक चिन्तन ने एक स्वतन्त्र शास्त्र अथवा विज्ञान का रूप बहुत बाद में ग्रहण किया। विभिन्न प्रकार के चिन्तनों में निहित सामाजिक चिन्तन को निकालकर तथा इन सामाजिक चिन्तनों को समन्वित करके उसे एक नये शास्त्र (यानी समाजशास्त्र) के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय आगस्त कोंट (Comte) को प्राप्त है। यही कारण है कि उन्हें समाजशास्त्र का जन्मदाता कहा गया है।

सामाजिक चिन्तन का काल विभाजन

सामाजिक चिन्तन का इतिहास मानव इतिहास का ही एक अंग है, अतः उसका काल-विभाजन भी इतिहास के काल-विभाजन के अनुसार किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में उसे आदिम काल प्राचीन काल मध्यकाल पूर्व आधुनिक काल और आधुनिक काल में विभाजित किया जा सकता है। लेकिन किसी भी ऐतिहासिक काल में सामाजिक चिन्तन अथवा समाज-शास्त्रीय सिद्धान्त अथवा समाज-शास्त्रीय विचार एक जैसे नहीं रहे। एक ही ऐतिहासिक काल में अलग अलग प्रकार के सामाजिक सिद्धान्तों को जन्म मिला। अतः सामाजिक विचारों का अध्ययन करने के लिए बेहतर यह होगा कि हम उनका वर्गीकरण ऐतिहासिक कालों के अनुसार न करके सिद्धान्तों की अनुरूपता के आधार पर करें। ऐसा करने पर समाजशास्त्रीय विचारों को लगभग एक दर्जन धाराओं अथवा स्कूलों में विभक्त कर सकते हैं।

यंत्रीयतावादी स्कूल

यंत्रीयतावादी (Mechanistic) स्कूल के अन्तर्गत उन सभी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को रखा जा सकता है जिनमें सामाजिक प्रक्रिया की व्याख्या भौतिक विज्ञान रसायन-शास्त्र अथवा यंत्र विज्ञान आदि के नियमों के अनुसार की गयी है। इन सिद्धान्तों में मानव व्यवहार तथा सामाजिक प्रक्रियाओं को भौतिक या रासायनिक प्रक्रियाओं अथवा इसी प्रकार की किसी अन्य प्रक्रिया के अनुरूप मानकर चला गया है। इन सिद्धान्तों के पीछे यह धारणा रही है कि प्राकृतिक नियम सभी चीजों पर समान रूप से लागू होते हैं अतः जो प्राकृतिक नियम किसी भौतिक पदार्थ अथवा रासायनिक प्रक्रिया पर लागू होता है वही नियम मनुष्य और उसके व्यवहारों तथा सामाजिक प्रक्रियाओं पर भी लागू होना चाहिए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिन कालों में भौतिक-शास्त्र अथवा गणित-शास्त्र ने उल्लेखनीय प्रगति की उन कालों में इस स्कूल के अनुयायियों द्वारा भौतिक-शास्त्र तथा गणित-शास्त्र के निष्कर्षों को सामाजिक प्रक्रियाओं पर लागू करने की विशेष रूप से कोशिश की गयी। यही कारण है कि सत्रहवीं शताब्दी में यंत्रीयतावादी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का बोलबाला रहा। इस शताब्दी में भौतिक-शास्त्र को भौतिक प्रक्रियाओं की व्याख्या करने में जो सफलताएं हासिल हुई थीं उन्होंने इस शताब्दी के समाजशास्त्रीय विचारकों को भौतिक-शास्त्रीय निष्कर्षों के माध्यम से सामाजिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने के लिए प्रेरित किया था। उन्होंने मनुष्य का अध्ययन उसे एक भौतिक पदार्थ अथवा एक प्रकार

को मशीन मानकर किया । उसके जीवन तथा उसके कार्यों को मानवरूपी मशीन के कार्य-कलाप माना गया और उसकी मृत्यु को यह माना गया कि मशीन टूट गयी । कुछ यन्त्रीयतावादी समाजशास्त्रियों ने मनुष्य पर खगोल के नियम लागू किये जिसके फलस्वरूप सामाजिक प्रक्रियाओं की व्याख्या गणित के नियमों के अनुसार की गयी । इन सभी सिद्धान्तों में मनुष्यों की इच्छा-शक्ति को कोई स्थान नहीं दिया गया । सत्रहवीं शताब्दी के बाद भी जिन समाजशास्त्रियों ने सामाजिक प्रक्रियाओं की यन्त्रीयतावादी व्याख्याएँ प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, उनमें भी किसी-न-किसी हद तक अथवा किसी-न-किसी रूप में वे ही सिद्धान्त देखने को मिलते हैं जिनका प्रतिपादन सत्रहवीं शताब्दी के यन्त्रीयतावादी विचारकों ने किया था । लेकिन यह सही है कि बाद के यन्त्रीयतावादी विचारकों ने पूर्ववर्ती विचारकों की पद्धतियों तथा उनके निष्कर्षों को विकसित किया और इसके लिए उन्होंने विभिन्न विज्ञानों के नवीनतम निष्कर्षों का इस्तेमाल किया । इस स्कूल के प्रतिनिधियों में एच॰ सी॰ कैरे, बोरोनोफ ई॰ सोल्वे एल॰ विनियार्स्की ए॰ पी॰ बारसेलो हैरेट डब्लू॰ ओस्टवाल्ड डब्लू॰ बेक्टेरेफ, एजवर्थ एफ॰ कार्ली ए॰ पेन्टले टी॰ एन॰ कारवर, लाफ्ड जे॰ लोटका और वेल्फ्रेडो परेटो के नाम उल्लेखनीय हैं ।

एच॰ सी॰ कैरे ने १९वीं शताब्दी में सामाजिक प्रक्रिया की भौतिकशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत करने की उल्लेखनीय चेष्टा की है । उन्होंने 'सामाजिक विज्ञान के सिद्धान्त' नामक अपनी पुस्तक में कहा है कि वस्तुओं (Matter) पर लागू होने वाले नियम समान हैं भले ही उन वस्तुओं का स्वरूप कुछ भी क्यों न हो । उनका कहना है कि कोयला मिट्टी लोहा पत्थर पेड़ घोड़ा बैल और मनुष्य सभी पर समान नियम लागू होते हैं । इसी आधार पर उन्होंने अपने समाजशास्त्रीय तथा आर्थिक सिद्धान्तों का निर्माण किया । वे सिद्धान्त भी कैरे के इसी सिद्धान्त के अनुरूप हैं जिनमें यह मानकर चला गया है कि मनुष्य समाज के एक अणु के समान है और आणविक गुरुत्वाकर्षण के नियम उस पर समान रूप से लागू होते हैं । कैरे की ही भाँति बोरोनोफ, हैरेट लोटका और बारसेलो यह मानकर चले हैं कि मानव शरीर एक भौतिक व्यवस्था है । जिस प्रकार भौतिकशास्त्र के नियम अन्य चीजों पर लागू होते हैं ठीक उसी प्रकार वे मनुष्य पर भी लागू होते हैं और लाख इच्छा करने पर भी मनुष्य गुरुत्वाकर्षण के नियमों से बच नहीं सकता । जो नियम भौतिक शक्तियों पर लागू होते हैं वे ही सामाजिक शक्तियों पर भी लागू होते हैं । इसी प्रकार बक्टेरिफ, सोल्वे और डब्लू॰ ओस्टवाल्ड ने सामाजिक प्रक्रियाओं की व्याख्या रसायनशास्त्रीय दृष्टिकोण स

की है। एस० विनियारस्की ने सामाजिक व्यवस्था (Social aggregate) को बिन्दुओं की व्यवस्था (System of points) कहा है जिसमें व्यक्ति अपनी निरन्तर गतिशीलता के फलस्वरूप एक-दूसरे के निकट आते रहते हैं अथवा एक-दूसरे से दूर होते रहते हैं। उनका कहना है कि इस गतिशीलता का मुख्य कारण आकर्षण है। उन्होंने मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को भी शारीरिक शक्ति (Biological Energy) का संशोधित रूप माना है और उन्होंने शक्ति (Energy)-सम्बन्धी सिद्धान्त मनुष्य तथा समाज पर लागू किया है।

परेटो के सिद्धान्त

विल्फ्रेडो परेटो को भी यन्त्रीयतावादी स्कूल के अन्तर्गत माना जाता है यद्यपि वास्तव में वे किसी भी स्कूल के नहीं थे। उनका सिद्धान्त बिलकुल ही नया और भिन्न प्रकार का है। उन्होंने यन्त्रीयतावादी पद्धति को अपनाया है और विशुद्ध अर्थशास्त्र अथवा अन्य विशुद्ध सामाजिक विज्ञानों के निष्कर्षों को अपने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में प्रयुक्त किया है। उन्होंने समाजशास्त्र को एक ऐसा समन्वित विज्ञान कहा है जो विशुद्ध अर्थशास्त्र तथा अन्य विशुद्ध सामाजिक विज्ञानों के निष्कर्षों को दृस्तगत करता है। परेटो ने समाजशास्त्र को एक विज्ञान माना है। उनका कहना है कि समाजशास्त्र को वैज्ञानिक होना चाहिए और वैज्ञानिक समाजशास्त्र से उनका तात्पर्य यह है कि समाजशास्त्र को अपना निष्कर्ष केवल ऐसे तथ्यों पर आधारित करना चाहिए जो निरीक्षण और परीक्षण की कसौटी पर खरे उतरते हों। इन मान्यताओं को कि क्या अच्छा है और क्या बुरा अथवा क्या होना चाहिए और क्या नहीं वैज्ञानिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। इस प्रकार उन्होंने उन समस्त सिद्धान्तों को वैज्ञानिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत नहीं माना है जिनमें मानव धर्म नातिक एकता प्रजातन्त्र प्रगति समाजवाद स्वतन्त्रता न्याय समानता और बन्धुत्व आदि सम्बन्धी धारणाओं का समावेश है। उनका कहना है कि यह सिद्धान्त अपूर्ण है कि प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण होता है क्योंकि इस सिद्धान्त में काम और कारण के एकतरफा सम्बन्ध को मानकर चला गया है। उनका कहना है कि प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण ही नहीं होता बल्कि कार्य और कारण एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। उन्होंने कार्य और कारण की पारस्परिक निर्भरता के आधार पर ही सामाजिक प्रक्रियाओं की व्याख्या की है।

प्रभावकों का सिद्धान्त

जहाँ तक समाज-सम्बन्धी अवधारणा का सम्बन्ध है परेटो का कहना है कि प्रत्येक समाज केवल एक सामाजिक व्यवस्था होती है जो कि अपने अस्तित्व काल में सदैव ही सन्तुलन की स्थिति में रहती है। दूसरे शब्दों में *सामाजिक व्यवस्था को छिन्न भिन्न करने वाली शक्तियों तथा सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने वाली शक्तियों में इस प्रकार का संतुलन बना रहता है जिससे सामाजिक व्यवस्था नष्ट नहीं होने पाती।* उनका कहना है कि सामाजिक व्यवस्था के ठोस स्वरूपों की विभिन्नताओं के अनेक कारण हैं। किस सामाजिक व्यवस्था का ठोस स्वरूप कैसा होगा यह तीन प्रकार के प्रभावकों (Factor) पर निर्भर करता है (१) भूमि जलवायु और भूतत्त्व (२) उस समाज को प्रभावित करने वाले बाह्य-तत्त्वों (अर्थात् उसके पूर्ववर्ती समाज तथा दूसरे समाजों) का प्रभाव और (३) उस सामाजिक व्यवस्था के आन्तरिक तत्त्व जैसे कि भक्त भावनाएँ, हित और सिद्धान्त आदि। इसे परेटो का प्रभावकों का सिद्धान्त (Theory of Factors) कहा गया है।

परेटो ने सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन के लिए पाँच प्रभावकों को मुख्य माना है (१) अवशेष (२) प्रत्युत्पादक (३) आर्थिक हित (४) मनुष्यों तथा सामाजिक समूहों की विभिन्नताएँ और (५) सामाजिक गत्यात्मकता तथा *वर्ग-निर्धारण।*

अवशेषों-सम्बन्धी सिद्धान्त

परेटो का कहना है कि मनुष्यों में दो प्रकार के प्रेरक तत्त्व (Derives) होते हैं। इसमें से एक होता है अस्थिर प्रेरक तत्त्व और दूसरा होता है स्थिर प्रेरक तत्त्व। इसी अपेक्षाकृत स्थिर प्रेरक तत्त्व (Relatively Constant Factors) को परेटो ने अवशेष (Residues) कहा है। उनका कहना है कि ये अवशेष (Residues) प्रवृत्तियों (Instincts) पर आधारित होते हैं लेकिन प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति सदैव एक ही रूप न होती है और अवशेषों की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में यहाँ तक कि विरोधी रूपों में भी। ये अवशेष ही मनुष्य को तरह-तरह के कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। फिर जब वह अपने इन कार्यों तथा व्यवहारों के औचित्य को सिद्ध करने के लिए दलीलें प्रस्तुत करता है अथवा सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है तो उसे प्रत्युत्पादक (Derivations) कहते हैं। परेटो ने आर्थिक हितों को भी एक प्रभावक माना है क्योंकि वे भी मनुष्य को कार्यों के लिए प्रेरित करते हैं। सामाजिक विभिन्नता भी सामाजिक

व्यवस्था का एक निर्णायक तत्व होता है क्योंकि जिस समाज में जिस तरह के व्यक्ति होते हैं वह समाज उसी तरह का होता है। सामाजिक गत्यात्मकता और वर्ग-निर्धारण में परेटो का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाज में एक उच्च-वर्ग होता है और एक निम्न-वर्ग। उच्च-वर्ग धीरे-धीरे पतनोन्मुख हो जाता है और एक दिन वह आता है जब कि निम्न-वर्ग के कुछ लोग तरक्की करके उच्च-वर्ग में आ जाते हैं तथा उच्च-वर्ग के लोग गिरकर निम्न-वर्ग में पहुंच जाते हैं। परेटो का कहना है कि इस प्रकार वर्गों का निर्धारण होता रहता है जो कि सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करता है।

परेटो और फ़ासिस्टवाद

परेटो की यह मान्यता रही है कि मनुष्यों में शारीरिक और बौद्धिक दृष्टि से सदैव ही असमानता रही है और रहेगी। अतः सामाजिक असमानताएं भी सदैव ही रही हैं और रहेंगी। उनका कहना है कि जो उच्च वर्ग जितना ज्यादा क्रूर होता है वह उतने ही ज्यादा समय तक टिक पाता है। परेटो के इन सिद्धान्तों का उपयोग इटली के फ़ासिस्टों ने किया अतः उनके विचारों को फ़ासिस्टवादी माना गया है और उन्हें पूंजीपतियों का कार्ल मार्क्स (Karl Marx of Bourgeoisie) कहा गया है।

तार्किक और अतार्किक क्रियाएं

परेटो ने समस्त मानवीय कार्यों को तार्किक और अतार्किक क्रियाओं में विभक्त किया है। उनका कहना है कि प्रत्येक घटना के दो पक्ष होते हैं—वस्तुगत (Objective) और कर्तागत (Subjective)। मनुष्य के कार्य अधिकांशतः अतार्किक होते हैं लेकिन अपने कर्तागत दृष्टिकोण के कारण वह सदैव ही उन्हें तर्कसंगत सिद्ध करने की चेष्टा करता है।

परेटो के विचारों की समीक्षा

परेटो के समाजशास्त्र की विशेषता केवल यही नहीं है कि उनके विचारों में नवीनता है बल्कि यह भी कि उन्होंने अपने विचारों को अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। कार्य और कारण की पारस्परिक निर्भरता के उनके सिद्धान्त में तथा मानवीय व्यवहार के उनके विश्लेषण में बहुत कुछ सचाई दिखाई पड़ती है। इसी तरह उनके इस कथन में भी सत्यता है कि बहुत से

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अवैज्ञानिक हैं क्योंकि इन सिद्धान्तों में तरह-तरह के उपदेशों व प्रवचनों आदि का समावेश है।

लेकिन उपर्युक्त विशेषताओं के बावजूद परेटो के सिद्धान्तों में अनेक बड़ी-बड़ी कमियां हैं। वे अवशेष (Residues) सम्बन्धी अपनी धारणा को भली प्रकार स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। उनकी यह धारणा वस्तुवादी नहीं है क्योंकि उन्होंने अवशेषों को प्रेरक तत्वों (Desires) पर आधारित किया है और इस प्रेरक तत्व का वस्तुवादी अध्ययन सम्भव नहीं है। परेटो की अवशेष सम्बन्धी धारणाएं काल्पनिक हैं जिन्हें उन्होंने मनुष्यों पर लादकर मनमाने निष्कर्ष निकाले हैं। परेटो ने अवशेषों का वर्गीकरण भी मनमाने तरीके से किया है अतः वे उसके द्वारा सही निष्कर्षों पर नहीं पहुँच सके। वे 'अवशेषों' और हितों के अन्तर को भी भली प्रकार स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। उन्होंने इन दोनों तत्वों की जो व्याख्या प्रस्तुत की है उससे इन दोनों म विभेद कर पाना कठिन है। चूंकि परेटो का कहना यह है कि एक ही अवशेष की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में तथा अनेक प्रत्युत्पादकों (Derivations) में हो सकती है अतः यह पता लगा पाना बहुत कठिन हो जाता है कि किस प्रत्युत्पादक का स्रोत कौन सा अवशेष है। अतः यह भी ज्ञात नहीं हो पाता कि अवशेषों का प्रत्युत्पादकों के साथ वास्तविक सम्बन्ध क्या है। इसके अलावा परेटो का सामाजिक वर्ग-निर्धारण (Circulation of the elites) का सिद्धान्त अपर्याप्त और अपूर्ण है। फिर भी इन सब कमियों के बावजूद यह तो मानना ही पड़ेगा कि समाजशास्त्र में परेटो का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। यंत्रीयतावादी समाजशास्त्रीय स्कूल के बाद के समाजशास्त्रियों पर भी उनके सिद्धान्तों का गहरा और स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है।

भौगोलिक स्कूल

भौगोलिक (Geographical) परिस्थितियों का प्रभाव मनुष्य के व्यवहार सामाजिक संगठन और अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं पर पड़ता है। यह एक ऐसा तथ्य है जो मनुष्य को मानव इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही ज्ञात रहा है और प्राचीनतम ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में अपरिमित उदाहरण मौजूद हैं। यहाँ तक कि ज्योतिष विद्या के रूप म ऐसे शास्त्रों का निर्माण हुआ है जिनकी आधारभूत मान्यता यह है कि मनुष्य का भाग्य भौगोलिक परिस्थितियों यानी तारों व ग्रहों आदि पर निर्भर करता है। १९वीं और २० वीं शताब्दी में बहुत से ऐसे विचारक हुए जिन्होंने इतिहास दर्शन-शास्त्र अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र आदि प्राय सभी क्षेत्रों में भौगोलिक परिस्थिति को ही मुख्य व निर्णायक तत्व माना। उनका

व्यवस्था का एक निर्णायक तत्त्व होता है क्योंकि जिस समाज में जिस तरह के व्यक्ति होते हैं वह समाज उसी तरह का होता है। सामाजिक असमानता और वर्ग-निर्धारण से परेटो का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाज में एक उच्च-वर्ग होता है और एक निम्न-वर्ग। उच्च-वर्ग धीरे-धीरे पतनोन्मुख हो जाता है और एक दिन वह आता है जब कि निम्न-वर्ग के कुछ लोग तरक्की करके उच्च-वर्ग में आ जाते हैं तथा उच्च-वर्ग के लोग गिरकर निम्न-वर्ग में पहुँच जाते हैं। परेटो का कहना है कि इस प्रकार वर्गों का निर्धारण होता रहता है जो कि सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करता है।

परेटो और फासिस्टवाद

परेटो की यह मान्यता रही है कि मनुष्यों में शारीरिक और बौद्धिक दृष्टि से सदैव ही असमानता रही है और रहेगी। अतः सामाजिक असमानताएँ भी सदैव ही रही हैं और रहेंगी। उनका कहना है कि जो उच्च वर्ग जितना ज्यादा कर होता है वह उतने ही ज्यादा समय तक टिक पाता है। परेटो के इन सिद्धान्तों का उपयोग इटली के फासिस्टों ने किया अतः उनके विचारों को फासिस्टवाद माना गया है और उन्हें पूँजीपतियों का कार्ल मार्क्स (Karl Marx of Bourgeoisie) कहा गया है।

तार्किक और अतार्किक क्रियाएँ

परेटो ने समस्त मानवीय कार्यों को तार्किक और अतार्किक क्रियाओं में विभक्त किया है। उनका कहना है कि प्रत्येक घटना के दो पक्ष होते हैं—वस्तुगत (Objective) और आत्मगत (Subjective)। मनुष्य के कार्य अधिकांशतः अतार्किक होते हैं लेकिन अपने कल्पित दृष्टिकोण के कारण वह सदैव ही उन्हें तर्कसंगत सिद्ध करने की चेष्टा करता है।

परेटो के विचारों की समीक्षा

परेटो के समाजशास्त्र की विशेषता केवल यही नहीं है कि उनके विचारों में नवीनता है बल्कि यह भी कि उन्होंने अपने विचारों को अत्यन्त व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है। उन्होंने समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। कार्य और कारण की पारस्परिक निर्भरता के उनके सिद्धान्त में तथा मानवीय व्यवहार के उनके विश्लेषण में बहुत कुछ यथार्थ दिखाई पड़ती है। इसी तरह उनके इस कथन में भी सत्यता है कि बहुत से

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अवैज्ञानिक हैं क्योंकि इन सिद्धान्तों में तरह-तरह के उपदेशों व प्रवचनों आदि का समावेश है।

लेकिन उपर्युक्त विशेषताओं के बावजूद परेटो के सिद्धान्तों में अनेक बड़ी-बड़ी कमियाँ हैं। वे अवशेष (Residues) सम्बन्धी अपनी धारणा को भली प्रकार स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। उनकी यह धारणा वस्तुवादी नहीं है क्योंकि उन्होंने अवशेषों को प्रेरक तत्त्वों (Derives) पर आधारित किया है और इस प्रेरक तत्त्व का वस्तुवादी अध्ययन सम्भव नहीं है। परेटो की अवशेष सम्बन्धी धारणाएं काल्पनिक हैं जिन्हें उन्होंने मनुष्यों पर लादकर मनमाने निष्कर्ष निकाले हैं। परेटो ने अवशेषों का वर्गीकरण भी मनमाने तरीके से किया है अतः वे उसके द्वारा सही निष्कर्षों पर नहीं पहुँच सके। वे 'अवशेषों और हितों' के अन्तर को भी भली प्रकार स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। उन्होंने इन दोनों तत्त्वों की जो व्याख्या प्रस्तुत की है उससे इन दोनों में विभेद कर पाना कठिन है। चूँकि परेटो का कहना यह है कि एक ही अवशेष की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में तथा अनेक प्रत्युत्पादकों (Derivations) में हो सकती है अतः यह पता लगा पाना बहुत कठिन हो जाता है कि किस प्रत्युत्पादक का स्रोत कौन सा अवशेष है। अतः यह भी ज्ञात नहीं हो पाता कि अवशेषों का प्रत्युत्पादकों के साथ वास्तविक सम्बन्ध क्या है। इसके अलावा परेटो का सामाजिक वर्ग-निर्धारण (Circulation of the elites) का सिद्धान्त अपर्याप्त और अपूर्ण है। फिर भी इन सब कमियों के बावजूद यह तो मानना ही पड़ेगा कि समाजशास्त्र में परेटो का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यथार्थवादी समाजशास्त्रीय स्कूल के बाद के समाजशास्त्रियों पर भी उनके सिद्धान्तों का गहरा और स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है।

भौगोलिक स्कूल

भौगोलिक (Geographical) परिस्थितियों का प्रभाव मनुष्य के व्यवहार सामाजिक संगठन और अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं पर पड़ता है। यह एक ऐसा तथ्य है जो मनुष्य को मानव इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही ज्ञात था। है और प्राचीनतम ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में अनगिनत उदाहरण मौजूद हैं। यहाँ तक कि ज्योतिष विद्या के रूप में ऐसे शास्त्रों का निर्माण हुआ है जिनकी आधारभूत मान्यता यह है कि मनुष्य का भाग्य भौगोलिक परिस्थितियों यानी तारों व ग्रहों आदि पर निर्भर करता है। १६वीं और २०वीं शताब्दी में बहुत से ऐसे विचारक हुए जिन्होंने इतिहास दर्शन-शास्त्र अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र आदि जैसे सभी शास्त्रों में भौगोलिक परिस्थिति को ही मुख्य व निर्णायक तत्त्व माना। उनका

कहता है कि मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं उसकी समस्त विशिष्टताओं उसके सामाजिक संगठन तथा प्रत्येक सामाजिक प्रक्रिया और प्रत्येक ऐतिहासिक घटना का मुख्य कारण भौगोलिक होता है। इस विचारधारा को भौगोलिक स्कूल की संज्ञा दी गयी है।

प्राणीशास्त्रीय स्कूल

इस स्कूल (Bio-Organismic school) के अन्तर्गत वे सिद्धान्त आते हैं जिनमें यह मानकर चला गया है कि प्राणीशास्त्र सम्बन्धी नियम केवल मनुष्य के शरीर पर लागू नहीं होते बल्कि उसके समस्त सामाजिक कार्यकलापों पर भी लागू होते हैं। इन सिद्धान्तों में सामाजिक प्रक्रियाओं व घटनाओं की व्याख्या प्राणीशास्त्र के नियमों के अनुसार की गयी है। विगत ७०–७५ वर्षों में प्राणीशास्त्र ने जो विशेष प्रगति की है उससे प्राणीशास्त्रीय विचारधाराओं को बहुत बल पहुँचा है और अनेक नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ।

मानवशास्त्रीय स्कूल

इस स्कूल (Anthropo-Racial School) के अन्तर्गत वे सिद्धान्त आते हैं जिसमें नस्ल और पैतृकता आदि को मनुष्य के व्यवहार सामाजिक प्रक्रियाओं सामाजिक संगठन सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक घटनाओं का निर्णायक तत्त्व माना गया है। उनमें नस्ल और पैतृकता सम्बन्धी सिद्धान्तों के माध्यम से सामाजिक प्रक्रियाओं व सामाजिक घटनाओं तथा ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

डार्विनवादी स्कूल

डार्विन (Darwin) ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि मानव अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए बराबर संघर्ष करता रहता है और उसे अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए परिस्थितियों के अनुकूल बनना पड़ता है। डार्विन के इस सिद्धान्त ने समाजशास्त्रीय विचारधारा को भी प्रभावित किया और अनेक ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ जिनमें डार्विन के इस सिद्धान्त के अनुसार समाज और सामाजिक प्रक्रियाओं की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इन सिद्धान्तों में प्राणीशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों को आधार बनाया गया है अतः इस स्कूल को प्राणीशास्त्रीय स्कूल की एक शाखा कहा जा सकता है।

जनसंख्यावादी स्कूल

इस स्कूल (Demographic School) के अन्तर्गत वे सिद्धान्त आते हैं जिनमें जनसंख्या जनसंख्या के घनत्व जन्म-दर व मृत्यु-दर आदि को सामाजिक प्रक्रियाओं व सामाजिक घटनाओं का निर्णायक तत्त्व माना गया है। इन सिद्धान्तों के अनुसार सामाजिक संगठन और उसका स्वरूप जनसंख्या सम्बन्धी स्थितियों पर निर्भर करता है और उन पर जनसंख्या सम्बन्धी नियम लागू होता है।

समाजशास्त्रीय स्कूल

मनुष्य को यह बहुत पहले ही ज्ञात हो चुका था कि समाज व्यक्तियों का एक समूह मात्र नहीं है, वह उससे भिन्न है और मानसिक प्रवृत्तियां व्यवहार, अन्य मानवीय विशिष्टताएँ समाज तथा सामाजिक क्रिया प्रतिक्रिया पर निर्भर करती हैं। प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में व्यष्टि और समष्टि की पृथक-पृथक व्याख्याएँ तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख इसके प्रमाण स्वरूप हैं। बौद्ध धर्म और कन्फ्यूशियस धर्म मे इन धारणाओं का स्पष्ट उल्लेख है। प्लाटो ने भी अपने ग्रन्थ 'गणतन्त्र" (दी रिपब्लिक) में सामाजिक वातावरण के प्रभाव का उल्लेख किया है और राज्य तथा व्यक्ति को अलग-अलग माना है। अरस्तू ने तो सामाजिक वातावरण को निर्णायक तत्त्व मानते हुए मनुष्य को 'सामाजिक प्राणी' की संज्ञा दी है। बाद में अनेक ऐसे विचारक हुए जिन्होंने समाज को एक जैव-कीय इकाई (Organism) के सदृश्य माना। कुछ विचारकों ने अलग-अलग सामाजिक परिस्थितियों को निर्णायक तत्त्व मानकर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ऐसे अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ जिनमें समाज पर व्यक्ति की निर्भरता की बात कही गयी है। इस प्रकार से समाजशास्त्रीय विचारधारा (Sociological School) का उदय प्राचीन काल में हुआ था और उसके बाद उसमें निरन्तर विकास हुआ तथा वह अनेक शाखाओं व प्रशाखाओं में विभक्त हुआ। पर ये सभी विचार मुख्यतया समाजशास्त्रीय हैं। इन विचारों ने आगस्त कौंत (कॉम्टे) के विचारों को अत्यधिक प्रभावित किया और उन्हीं के आधार पर तथा उनमें समन्वय स्थापित करके कौंत ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

आगस्त कौंत (कॉम्टे)

आगस्त कौंत (Comte) को समाजशास्त्र का पितामह माना जाता है क्योंकि वे ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस विज्ञान को समाजशास्त्र का नाम प्रदान

किया था तथा अपने समय की प्रमुख विचारधाराओं को एक सूत्र में बाँधकर समाजशास्त्र को एक पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया था। कौंत का सामाजिक सिद्धान्त इस बुनियादी मान्यता पर आधारित है कि कार्यों का विभाजन व प्रयासों की एक जुटता ही सामाजिक संगठन का आधार होती है। उनकी यह मान्यता थी कि सामाजिक प्रक्रिया पर भौतिक वातावरण का विशेष रूप से असर पड़ता है। वे समाज को एक जीवाणु (Organism) की भांति मानते थे और उसे उन्होंने सामूहिक जीवाणु की संज्ञा दी। उनका कहना है कि जो नियम जीव धारियों पर लागू होते हैं वे ही समाज पर लागू होते हैं। अत वैयक्तिक और सामाजिक जीवाणु एक जैसे होते हैं।

उन्होंने सभी प्रकार की प्रगति को तीन अवस्थाओं में विभक्त किया है—बौद्धिक भौतिक और नैतिक। उनका कहना है कि सामाजिक प्रगति को तीन अवस्थाओं में होकर गुजरना पड़ता है। इसी प्रकार उन्होंने बौद्धिक विकास को भी तीन अवस्थाओं म विभक्त किया है—ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान अध्यात्मवाद और विज्ञान। कौंत ने विज्ञानों का वर्गीकरण भी किया है और उन्होंने प्राणी शास्त्र के तत्काल बाद समाजशास्त्र को रखा है। यद्यपि इस वर्गीकरण का समर्थन करने वाले समाजशास्त्रियों की संख्या कम नहीं है तथापि अनेक सामाजिक विचारकों ने उनसे मतभेद प्रगट करते हुए यह कहा है कि समाजशास्त्र के ऊपर मनोविज्ञान को स्थान मिलना चाहिए। इस तरह मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्रीय (Psychological Sociologistic) स्कूल की प्रस्थापना हुई।

कौंत का कहना है कि समाज के विशिष्ट अंगों का अलग-अलग अध्ययन करने की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाना चाहिए और इस अध्ययन के लिए केवल एक ही विज्ञान का यानी समाजशास्त्र का सहारा लिया जाना चाहिए। उनका कहना है कि समाज का नियमन करने वाली शक्ति धर्म में निहित होती है इसलिए समाज के संचालन का दायित्व धर्माचार्यों पर होना चाहिए। उन्होंने समाज की उत्पत्ति और राज्य की व्याख्या ऐतिहासिक दृष्टिकोण से करते हुए यह बताया है कि मानवता को अपने विकास में तीन अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है। तीसरी और अन्तिम अवस्था वह है जब कि मनुष्य की सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति वही भावनाएं होती हैं जो स्वयं व परिवार के प्रति। उनकी यह मान्यता थी कि समाज ऐसे युग में प्रवेश कर चुका है जिसे विज्ञान युग (पोजिटिविस्ट पीरियड) (Positivist Period) कहा जा सकता है। इस युग में समाज का पुनर्गठन किस रूप में होना चाहिए, इसकी एक विस्तृत योजना भी उन्होंने प्रस्तुत की थी जिसमें उन्होंने

भावी समाज की अपनी परिकल्पना प्रस्तुत की।

ई० डी० रोबर्टी

रूसी समाजशास्त्री ई० डी० रोबर्टी कौत के अनुयायी थे लेकिन बाद में उन्होंने पॉजिटिविस्म (Positivism) से मतभेद प्रकट करते हुए (Neo-posi tivism) नया पॉजिटिववाद के नाम से स्वयं अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। कौत के सिद्धान्तों से उनके मतभेद का मुख्य कारण यह था कि कौत ने विश्लेषणात्मक अथवा वैज्ञानिक विचारों की अपेक्षा दार्शनिक और धार्मिक विचारों को ज्यादा महत्त्व दिया है। रोबर्टी ने अपने सिद्धान्तों में वैज्ञानिक अथवा विश्लेषणात्मक विचारों को ही प्रमुखता दी। इस प्रकार उनके सिद्धान्तों को समाजशास्त्रीय स्कूल की एक महत्त्वपूर्ण शाखा के रूप में मान्यता मिली।

दुर्खीम के सिद्धान्त

कौत के पॉजिटिविस्ट सिद्धान्तों को विकसित करने तथा उनमें पूर्णता लाने का श्रेय दुर्खीम को प्राप्त है। समाजशास्त्रीय स्कूल की दूसरी प्रमुख शाखा का प्रतिनिधित्व इमाइल दुर्खीम और उनके सहयोगी करते हैं। दुर्खीम का कहना है कि सामाजिक चेतना और वैयक्तिक चेतना में अन्तर होता है और उन्हें निर्मित करने वाले तत्त्व असम होते हैं।

दुर्खीम के कथनानुसार समाजशास्त्र को मनोविज्ञान का पूरक मानना गलत है क्योंकि सामाजिक जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक प्रश्न का उत्तर स्वयं सामाजिक ढाँचे में ढूँढना चाहिए, न कि मनोविज्ञान में। उनका कहना है कि सामूहिक प्रतिनिधानों का अस्तित्व व्यक्ति के बाहर होता है और वे उसके मस्तिष्क में विभिन्न नैतिक धार्मिक और तार्किक नियमों के रूप में पाये जाते हैं। कौत से उनका मतभेद इस बात पर था कि कौत ने सामाजिक तथ्यों और सामाजिक प्रक्रियाओं की उपयोगिता पर जोर दिया था। पर दुर्खीम इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे और उनका कहना है कि सामाजिक तथ्यों की उत्पत्ति उनकी उपयोगिता के कारण नहीं होती। अतः ऐसे सामाजिक तथ्य भी हो सकते हैं जिनकी कोई उपयोगिता न हो अथवा जिनके उपयोग की कभी कोशिश न की गई हो या जो किसी ज़माने में उपयोगी रहे हों और अब अपनी उपयोगिता खो चुकने के बाद भी लोगों की आदतों के कारण कायम हों। इसी प्रकार, दुर्खीम का कहना है कि श्रम-विभाजन ने मानवीय विकास में सहायता तो पहुँचाई, लेकिन उसका प्रारम्भ इसलिए नहीं हुआ था कि मनुष्य ने उसकी

आवश्यकता महसूस की थी। उनका कहना है कि जब हम किसी सामाजिक प्रक्रिया का अध्ययन करते हैं तो हमें उसे उत्पन्न करने वाले कारणों तथा उसकी उपयोगिता का अध्ययन अलग अलग करना चाहिए।

दुर्खीम का श्रम विभाजन का सिद्धान्त

दुर्खीम ने उन परिस्थितियों का विश्लेषण किया है जिनके कारण श्रम विभाजन (Division of Labour) और विशेषीकरण (Specialisation) की उत्पत्ति हुई। उनका कहना है कि श्रम-विभाजन की उत्पत्ति मनुष्य की किसी इच्छा के कारण नहीं हुई बल्कि पहले वे परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिन पर श्रम विभाजन आधारित है। ये परिस्थितियाँ सामूहिक चेतना और वंशानुगत प्रभावों के विघटन की प्रक्रिया आरम्भ होने के फलस्वरूप उत्पन्न हुईं और जब वे उत्पन्न हो गईं तो मनुष्य ने उनकी उपयोगिता को देखा। मनुष्यों में विशेषीकरण जैसे-जैसे बढ़ता गया वैसे वैसे उनकी रुचियों और इच्छाओं में भी अन्तर आता गया। इसके बाद मनुष्य के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए विशेषीकरण का विकास करे। इस प्रकार मनुष्य की अपने को कायम रखने की प्रवृत्ति ने श्रम-विभाजन के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। दुर्खीम ने अपने विश्लेषणों द्वारा यह भी बताया है कि श्रम-विभाजन का मानव व्यवहार और मनोविज्ञान कानून नैतिकता और सामाजिक नियन्त्रण सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बन्धनों राजनैतिक शासन आर्थिक संगठन तथा धर्म और विचारधाराओं पर क्या असर पड़ा।

दुर्खीम का आत्महत्या सम्बन्धी सिद्धान्त

दुर्खीम ने आत्महत्याओं के कारणों को भी सामाजिक परिस्थितियों में ढूंढने की चेष्टा की। उनका कहना है कि आत्महत्याओं का मुख्य कारण वैयक्तिक अथवा मानसिक या अन्य कोई न होकर सामाजिक होता है। आत्महत्याओं का सीधा सम्बन्ध सामाजिक एकसूत्रता (Social Solidarity) से होता है। जिस समाज में सामाजिक एकसूत्रता जितनी कम होती है उस समाज में आत्महत्याएँ उतनी ही अधिक होती हैं। इसी प्रकार जिस समाज में सामाजिक एकसूत्रता जितनी अधिक होती है उस समाज में आत्महत्याएँ उतनी ही कम होती हैं। उन्होंने आंकड़ों द्वारा यह सिद्ध किया है कि प्रोटेस्टेंटों में कैथोलिकों की अपेक्षा आत्महत्याएँ अधिक होती हैं। इसका कारण यह है कि प्रोटेस्टेंट धर्म में विचार स्वातन्त्र्य अधिक है। उनमें पादरियों द्वारा बाइबिल की व्याख्या लोगों पर लादी नहीं

जाती बल्कि लोग स्वयं अपनी-अपनी व्याख्याएँ करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। इस विचार-स्वातन्त्र्य के कारण प्रोटेस्टैंटो में सामाजिक एकसूत्रता की कमी है और उसके फलस्वरूप उनमें आत्महत्याएं अधिक होती हैं। पर कैथोलिक धर्म में विचार-स्वातन्त्र्य की इतनी छूट नहीं है। कैथोलिक धर्म बहुत सुसंगठित है और बाइबिल की व्याख्याएँ लोग स्वयं नहीं करते बल्कि पादरियों द्वारा जो व्याख्याएँ की जाती हैं उन्हें वे मान लेते हैं। अतः कैथोलिकों में प्रोटेस्टैंटो की अपेक्षा सामाजिक एकसूत्रता अधिक है और इस कारण उनमें आत्महत्याएँ अपेक्षाकृत कम होती हैं। यहूदियों में सामाजिक एकसूत्रता कैथोलिकों से भी अधिक है अतः उनमें आत्महत्याएँ कैथोलिकों से भी कम होती हैं।

स्वरूपवादी स्कूल

समाजशास्त्रीय स्कूल की ही एक प्रमुख शाखा स्वरूपवादी स्कूल (The Formal School) है। इस स्कूल की आधारभूत मान्यताएँ वही हैं जो कि समाजशास्त्रीय स्कूल की जिसमें कि *अन्तःक्रिया और अन्तः सम्बन्धों को सामाजिक* प्रक्रिया का मूल तत्त्व माना जाता है और व्यक्ति को समाज की उत्पत्ति के रूप में देखा जाता है। पर स्वरूपवादी स्कूल का कहना यह है कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक अन्तःक्रिया तथा सामाजिक सम्बन्धों के आन्तरिक तत्त्वों का अध्ययन न करके केवल उनके स्वरूपों का अध्ययन किया जाना चाहिए। इस स्कूल का कहना है कि समाजशास्त्र के दायरे को सीमित करके उसे सुनिश्चित बनाना चाहिए। इसकी मान्यता है कि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करते समय यह देखने की जरूरत नहीं है कि किस-किस प्रकार के सम्बन्ध किस काल विशेष अथवा समाज की किस अवस्था में पाये जाते थे। उसे तो केवल स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए और इस प्रकार से समाजशास्त्र को मुख्यतया विश्लेषणात्मक होना चाहिए। इस स्कूल के प्रतिनिधियों में एफ॰ टोनीज आर॰ स्टेम्लर वी डाइमेल जी रिचार्ड और ई॰ ए॰ रॉस के नाम उल्लेखनीय हैं।

आर्थिक स्कूल

इस स्कूल को भी समाजशास्त्रीय स्कूल की एक शाखा कहा जा सकता है। इस स्कूल के अन्तर्गत वे सिद्धान्त आते हैं जिनमें आर्थिक तत्त्वों को सामाजिक व्यवस्थाओं तथा सामाजिक परिवर्तनों और अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं का मूल कारण माना गया है।

वैसे तो सामाजिक प्रक्रियाओं पर विचार करते समय आर्थिक तत्त्वों को सदैव ही महत्त्व दिया जाता रहा है। भारत और चीन के धार्मिक ग्रन्थों में भी धर्म के महत्त्व का वर्णन मिलता है। यूनान के दार्शनिकों जैसे कि प्लाटो और अरस्तू आदि ने आर्थिक तथ्यों को अनेक सामाजिक प्रक्रियाओं का मूल कारण माना है। इसके अलावा विभिन्न देशों में अनेक ऐसे विचारक हुए हैं जिन्होंने आर्थिक तत्त्वों को सामाजिक प्रक्रियाओं व सामाजिक परिवर्तनों का प्रधान या महत्त्वपूर्ण कारण माना। पर आर्थिक तथ्यों को समस्त प्रकार की सामाजिक राजनैतिक मनोवैज्ञानिक सांस्कृतिक और धार्मिक प्रक्रियाओं का मूल स्रोत और बुनियादी कारण मानने वाला सुव्यवस्थित व प्रभावकारी सिद्धान्त प्रस्तुत करने का श्रेय कार्ल मार्क्स और उनके सहयोगी फ्रेडरिक एंजिल्स को प्राप्त है।

कार्ल मार्क्स

मार्क्स का कहना है कि समाज की आर्थिक व्यवस्था उत्पादन के। चलित साधनों पर निर्भर करती है। प्रत्येक उत्पादन सामाजिक उत्पादन होता है और उत्पादन की प्रक्रिया द्वारा मनुष्यों का एक दूसरे के साथ सुनिश्चित सम्बन्ध कायम होता है। यह सम्बन्ध अनिवार्य होता है और यह मनुष्यों की इच्छा से परे होता है। उत्पादन के जो साधन जिस काल विशेष में प्रचलित होते हैं उस काल-विशेष मे उन्हीं उत्पादन साधनों के अनुरूप मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध होते हैं। उत्पादन सम्बन्धों का ही जोड़ समाज का आर्थिक ढाँचा होता है। यह आर्थिक ढाँचा ही वह बुनियाद होती है जिस पर राजनैतिक और कानूनी ढाँचे (Super-Structure) खड़े होते हैं। सामाजिक चेतना की अपनी आर्थिक व्यवस्था ही होती है और उसी के अनुरूप राजनैतिक व वैधानिक ढाँचा खड़ा होता है। भौतिक जीवन में उत्पादन का तरीका ही सामाजिक राजनैतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के सामान्य स्वरूपों (General Charector) का निर्धारित करता है। मनुष्यों का अस्तित्व उनकी चेतना के कारण नहीं होता बल्कि इसके ठीक विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निर्धारित करता है।

मार्क्स का कहना है कि उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ विकास करती-करती एक ऐसी अवस्था को पहुँच जाती हैं जब कि उनका मौजूदा उत्पादन सम्बन्धों के साथ—जिसे कानूनी भाषा में सम्पत्ति-सम्बन्ध कहते हैं—संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। ये उत्पादन-सम्बन्ध उत्पादन-शक्तियों के विकास में बाधक बन जाते हैं। फलतः सामाजिक क्रान्ति होती है। क्रान्ति के फलस्वरूप आर्थिक ढाँचे में

परिवर्तन आने पर राजनैतिक और वैधानिक ढाँचे में भी, जिन्हें मार्क्स ने ऊपरी ढाँचा (Super structure) कहा है बदलने लगते हैं। कोई भी सामाजिक व्यवस्था तब तक समाप्त नहीं होती जब तक उसे निर्मित करने वाली समस्त उत्पादन-शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित न हो लें। इसी तरह नये उत्पादन सम्बन्ध तब तक प्रगट नहीं होते जब तक पुराने समाज के भीतर उनके अस्तित्व को जन्म देने वाली भौतिक परिस्थितियाँ परिपक्व नहीं हो जाती।

वर्ग संघर्ष

मार्क्स का कहना है कि वर्तमान समाज का अब तक का इतिहास वर्ग-संघर्ष (Class-struggle) का इतिहास रहा है। सामन्तवादी (Feudal) समाज में एक ओर तो सामन्तवादी वर्ग था दूसरी ओर गुलामों अर्ध गुलामों और अन्य शोषितों का वर्ग। जब इस समाज के भीतर नयी उत्पादन-शक्तियाँ उत्पन्न हुई तो सामाजिक क्रान्ति हुई और पूँजीवादी समाज ने जन्म लिया। जिस तरह सामन्तवादी समाज में दो वर्ग थे और उनके बीच निरन्तर संघर्ष होता रहा ठीक उसी तरह पूँजीवादी समाज में भी दो वर्ग है—पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग जिसके बीच संघर्ष होते रहना अनिवार्य है। मार्क्स का कहना है कि पूँजीवादी समाज में उत्पादन सामाजिक होता है यानी उस समाज के बहुत से लोग मिलकर करते हैं, लेकिन उत्पादित वस्तुओं पर अधिकार वैयक्तिक होता है। उनका कहना है कि सामाजिक उत्पादन द्वारा उत्पादित वस्तुओं पर पूरे समाज का अधिकार होना चाहिए। चूँकि उत्पादन के साधन स्वयं भी सामाजिक उत्पादन की उत्पत्ति होते हैं, अतः उन पर भी पूरे समाज का अधिकार होना चाहिए। जिस समाज में उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य अथवा सरकार का अधिकार हो उसे ही समाजवाद कहते हैं। मार्क्स का कहना है कि जिस प्रकार सामन्तवाद के बाद वर्ग-संघर्ष के फलस्वरूप पूँजीवाद का आना अवश्यम्भावी था ठीक उसी तरह पूँजीपतियों और मजदूरों के वर्ग-संघर्ष के फलस्वरूप समाजवाद का आना अवश्यम्भावी है।

समाजवाद और साम्यवाद

मार्क्स का कहना है कि समाजवाद एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था है जिसमें न तो वर्ग होते हैं और न वर्गसंघर्ष। समाजवाद में उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य का अधिकार होता है और प्रत्येक व्यक्ति को उसके काम के अनुसार पारिश्रमिक मिलता है। समाज में उत्पादन की शक्तियाँ जब अत्यधिक विकसित

हो जायेगी तो लोगों को काम के अनुसार वेतन मिलने की जगह उनकी आवश्यकताओं के अनुसार वेतन मिलेगा और राज्यतन्त्र स्वतः लुप्त हो जायेगा। इस व्यवस्था को साम्यवाद कहते हैं।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्स के उपर्युक्त निष्कर्ष उनके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical materialism) पर आधारित हैं। मार्क्स का सिद्धान्त इस दृष्टि से भौतिकवादी है कि वह भौतिक पदार्थों तथा भौतिक जगत को यथार्थ मानता है। वह उन्हें विचारों की छाया मात्र नहीं मानता। बल्कि भौतिक जगत और भौतिक पदार्थों को विचारों की जननी मानता है। इस प्रकार मार्क्स के दर्शन का आधार भौतिकवादी है पर उसकी शैली द्वन्द्वात्मक है। द्वन्द्वात्मक शैली इन सिद्धान्तों पर आधारित है कि—(१) यदि किसी चीज की मात्रा में बार बार वृद्धि की जाती रहे तो उसके गुणों में परिवर्तन आ जाता है। उदाहरण के लिए यदि पानी में गर्मी की मात्रा बढ़ती जावे तो एक अवस्था वह आयेगी जबकि पानी भाप बन जायेगा। (२) प्रत्येक चीज में दो परस्पर विरोधी शक्तियाँ निहित होती है। (३) इन परस्पर विरोधी शक्तियों के संघर्ष के फलस्वरूप तीसरी चीज उत्पन्न होती है जो इन दोनों ही से भिन्न होती है। मार्क्स का कहना है कि ये सिद्धान्त प्रकृति और मानव समाज पर समान रूप से लागू होते हैं। उन्होंने अपने इन्हीं सिद्धान्तों द्वारा मानव समाज के इतिहास का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि उसका अब तक का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है। इसे उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद की संज्ञा दी।

मनोवैज्ञानिक स्कूल

मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय स्कूलों में अन्तर अपेक्षाकृत कम है। समाजशास्त्रीय स्कूल द्वारा मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का सामाजिक परिस्थितियों के माध्यम से विश्लेषण किया जाता है। वह मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को सामाजिक क्रिया प्रतिक्रिया की उत्पत्ति अथवा उसकी अभिव्यक्ति मानता है, पर मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक स्कूल की मान्यताएँ इसके ठीक विपरीत हैं। यह स्कूल व्यक्तियों की मानसिक या मनोवैज्ञानिक विशिष्टताओं को ही बुनियादी और परिवर्तनकारी तत्त्व मानता है। उसके अनुसार सामाजिक प्रक्रियाएँ मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं की ही उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति होती हैं। इस स्कूल के प्रवर्तकों में डीमोक्रिटस, कोरस कोनडीलक हवसमे और एच०

स्पेन्सर के नाम उल्लेखनीय हैं।

सांस्कृतिक स्कूल

इस स्कूल के अन्तर्गत वे समाजशास्त्रीय सिद्धान्त आते हैं जिनमें सांस्कृतिक शक्तियों को समाज में परिवर्तन लाने वाला मूल तत्त्व माना गया है और जिनमें सामाजिक प्रक्रियाओं की व्याख्या संस्कृति के माध्यम से की गई है। वास्तव में इस स्कूल का स्थान समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक स्कूलों के बीच में है। इस स्कूल के सिद्धान्तों की संख्या भी अत्यधिक है। पर हम यहाँ केवल तीन समाजशास्त्रियों—वेबलन, सोरोकिन और पारसन्स—के सिद्धान्तों की चर्चा करेंगे।

थोरस्टीन वेबलन

वेबलन का सिद्धान्त मार्क्स के सिद्धान्तों के ठीक विपरीत है। उनका कहना है कि समाज विकास करता रहता है। वह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में पहुँचता है। पर समाज का विकास पूर्वनिश्चित प्रक्रिया के अनुसार नहीं होता। वह न तो किसी पूर्वनिश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है और न उसे पूर्वनिश्चित आर्थिक व्यवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है। उनका कहना है कि मार्क्स का यह कथन गलत है कि आर्थिक व्यवस्था पर सामाजिक व्यवस्था और संस्कृति आधारित होती है। उनका कहना है कि समाज की प्रमुख सांस्कृतिक विशिष्टताओं से ही उसकी आर्थिक व्यवस्था को जाना जा सकता है। जैसी संस्कृति होती है, वैसी ही आर्थिक व्यवस्था। समाज में जिस तरह के सामाजिक मूल्यों का बाहुल्य होता है, उसी तरह का लोगों का तौर-तरीका होता है। उनका कहना है कि इन सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन आने से ही समाज में परिवर्तन आता है।

वेबलन का कहना है कि मानव समाज में सर्वत्र ही लुटेरों और मेहनतकश लोगों के बीच संघर्ष होता रहा है और यही संघर्ष सभ्यता के सम्पूर्ण इतिहास की विशेषता रही है। उनका कहना है कि जो एक युग में लुटेरों का सरदार था वही दूसरे युग में उद्योगों का कप्तान है। उनका कहना है कि वर्तमान औद्योगिक समाज में भी बर्बर युग के जीवनमूल्य कायम हैं जबकि इस युग में नये तरह के जीवनमूल्य होने चाहिये थे। यह विरोधाभास ही वर्तमान समाज की सबसे बड़ी समस्या है।

बर्बर युग और पूँजीवादी युग की तुलना करते हुए उन्होंने कहा है कि इन दोनों ही संस्कृतियों में उच्चवर्गों की विशिष्टता यही रही है कि उन्हें औद्योगिक

श्रम नहीं करना पड़ता। वे उत्पादन की अपेक्षा लूट-खसोट द्वारा ऊँचा स्थान प्राप्त करते हैं। इस पूर्वतमन्त्र वर्ग के लोग जिन कामों में अपना समय बिताते हैं वे सामाजिक दृष्टि से निरर्थक होते हैं। उनके व्यय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न होकर केवल प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए किये जाते हैं। उन्होंने धनीवर्ग को पूर्वतमन्त्र अथवा विलासी-वर्ग कहा है और उनकी संस्कृति को लुटेरों की संस्कृति की संज्ञा दी है।

पिटिरिम ए० सोरोकिन

सोरोकिन ने अपने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में संस्कृति को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है और उन्होंने यह बताया है कि सांस्कृतिक तत्त्वों में परिवर्तन आने के फलस्वरूप किस प्रकार सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन आता है। उन्होंने संस्कृति की व्याख्या करते हुए कहा है कि दो या दो से अधिक व्यक्तियों की चेतन अथवा अचेतन क्रियाओं के फलस्वरूप जो चीज उत्पन्न होती है या जो चीज संशोधित व परिवर्तित होती है, उन्हीं चीजों के योग को संस्कृति कहते हैं। उन्होंने संस्कृति की परिकल्पना एक संश्लिष्ट सम्पूर्ण (Integral Whole) के रूप में की है। उनका कहना है कि संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों के बीच तर्कसंगत एकता होती है। प्रत्येक संस्कृति के दो पक्ष होते हैं—आन्तरिक पक्ष और बाह्य पक्ष। आन्तरिक पक्ष से तात्पर्य है उसके मूल्य और गुण आदि। अतः किसी भी संस्कृति के अध्ययन का अर्थ होता उसके आन्तरिक पक्ष का अर्थात् मूल्यों और गुणों आदि का अध्ययन। उसे उस संस्कृति की मानसिक वृत्तियों का अध्ययन भी कह सकते हैं। उन्होंने संस्कृति के तीन प्रकार बताये हैं—(१) ऐन्द्रिक (२) विचारवादी और (३) मिश्रित। जिस समाज में जिस तरह की संस्कृति की प्रधानता होती है उसे उसी वर्ग का माना जाता है।

सोरोकिन का कहना है कि सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में परिवर्तन का मूल कारण आन्तरिक शक्तियाँ होती हैं लेकिन बाह्य शक्तियाँ और परिस्थितियाँ भी उस परिवर्तन को लाने में एक हद तक सहायक या बाधक सिद्ध हो सकती हैं। इस प्रकार सोरोकिन की मान्यता यह है कि संस्कृति के आन्तरिक गुणों में परिवर्तन आने से सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन आता है। अतः जिस प्रकार की संस्कृति होती है उसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था होती है। जब कोई संस्कृति परिपक्वता पर पहुँच जाती है तो उसका स्थान दूसरी संस्कृति ग्रहण करती है। उनका कहना है कि मानव समाज और संस्कृति में विकास और प्रगति नहीं होती बल्कि केवल उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। कभी किसी प्रकार की

संस्कृति की प्रधानता रहती है तो कभी किसी प्रकार की । इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों सत्ता के केन्द्रीकरण आर्थिक परिस्थितियों और संघर्षपूर्ण घटनाओं में केवल उतार चढ़ाव आता रहता है ।

टालकोट पारसन्स

पारसन्स का कहना है कि सामाजिक क्रियाओं का मूल स्रोत स्वयं मनुष्य होता है । पर मनुष्य की ये क्रियाएँ केवल शारीरिक अथवा जैवकीय आव[illegible]-ताओं की पूर्ति के लिए नहीं होतीं । मनुष्य का समाज के दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध होता है और ये सम्बन्ध उन्हें किन्हीं क्रियाओं के लिए प्रेरित करते हैं । इसी प्रकार सामाजिक परिस्थितियाँ और संस्कृति भी मनुष्य की अनेक क्रियाओं का कारण होती हैं । अतः सामाजिक क्रियाओं के तीन तत्व होते हैं— व्यक्ति संस्कृति और समाज । संस्कृति मानवीय अन्तःक्रियाओं का परिणाम होती है लेकिन जन्म ले चुकने के बाद यह मानवीय अन्तःक्रियाओं को निर्धारित करने वाला तत्व बन जाती है । सांस्कृतिक प्रतिमानों द्वारा मनुष्य के व्यवहार और आचरण के लिए मर्यादाएँ निर्धारित होने लगती हैं । सांस्कृतिक प्रतिमानों के अन्तर्गत शृंखलागत विचार अभिव्यक्ति के प्रतीक और मूल्य निर्धारण के मापदण्ड आदि होते हैं ।

धार्मिक स्कूल

यह स्कूल सांस्कृतिक स्कूल के ही समान है और उसी वर्ग का है । इस स्कूल के सिद्धान्तों में धर्मों और विश्वासों को सामाजिक व्यवस्था का मुख्य आधार तथा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाला मूल अथवा महत्वपूर्ण कारण माना गया है । इस स्कूल के विचारकों में सन्ट आगस्टी सेन्ट थामस [illegible] ए रॉस [illegible] बस्ते डी कोलनजेस पी सी० बॉन चार्ल्स एलवुड [illegible] जे० फ्रेजर और मैक्स वेबर उल्लेखनीय हैं ।

मैक्स वेबर

मैक्स वेबर ने इस बात का विशेष रूप से अध्ययन और विश्लेषण किया है कि आर्थिक और धार्मिक प्रक्रियाओं के बीच क्या सम्बन्ध होता है । उनका कहना है कि ये दोनों प्रक्रियाएँ एक-दूसरे पर निर्भर होती हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं । उनका कहना है कि यह सिद्धान्त गलत है कि आर्थिक परिस्थितियों द्वारा धार्मिक धारणाओं का निर्माण होता है । इसी तरह धर्म

को धार्मिक परिस्थितियों का निर्णायक तत्व मानना भी उतना ही गलत है। वेबर ने यह खोज करने की अपेक्षा कि धर्म और आर्थिक तत्व एक-दूसरे को किस हद तक और किन किन रूपों में प्रभावित करते हैं अपनी खोज इस बात तक सीमित रखी है कि धर्म आर्थिक सिद्धान्तों तथा कतिविधियों को किस हद तक और किस किस रूप में प्रभावित करता है। उन्होंने विश्व के छ प्रमुख धर्मों का विश्लेषण करके यह पता लगाने की कोशिश की है कि उन धर्मों का उनके मानने वालों के जीवन तथा आर्थिक संगठन पर क्या प्रभाव पड़ा है?

मैक्स वेबर ने प्रोटेस्टैंट धर्म और आधुनिक पूँजीवाद के पारस्परिक सम्बन्धों का विशेषरूप से अध्ययन किया। उनका कहना है कि आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति के लिए अन्य परिस्थितियों के अतिरिक्त एक विशेष प्रकार की मनोवैज्ञानिक स्थिति तथा खास तरह के व्यावहारिक सिद्धान्तों का होना आवश्यक था। उनका कहना है कि आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति से पूर्व प्रोटेस्टैंट धर्म के रूप में उसकी आत्मा प्रकट हुई। उन दोनों ही के व्यावहारिक आचरण सम्बन्धी सिद्धान्त और नियम समान हैं। यह उदाहरण प्रकट करता है कि धार्मिक विचारधारा अथवा धारणा की उत्पत्ति पहले होती है और अर्थतंत्र की उत्पत्ति उसके बाद। उनका कहना है कि प्रोटेस्टैंट धर्म के कारण ही आधुनिक पूँजीवाद का उत्पत्ति सम्भव हो सकी है।

मैक्स वेबर ने इसी प्रकार कन्फ्यूशियस धर्म ताओ धर्म हिन्दू धर्म बौद्धधर्म और यहूदी धर्म का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि जिस तरह के ये धर्म थे उसी तरह का उन लोगों का आर्थिक और सामाजिक ढाँचा बना जो कि इन धर्मों को मानते थे।

महात्मा गाँधी

महात्मा गाँधी धर्म को ही मानव जीवन और मानव समाज का निर्णायक तत्व मानते थे। उनका विश्वास था कि सम्पूर्ण सृष्टि का संचालन ईश्वरीय नियमों के अनुसार होता है। संसार में जो कुछ भी होता है उसके पीछे ईश्वरीय इच्छा होती है। ईश्वरीय नियमों के विपरीत संसार में कुछ भी नहीं हो सकता। उसे इन ईश्वरीय नियमों के अन्तर्गत केवल इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह विभिन्न मार्गों में से अपने लिये कोई भी मार्ग चुन सकता है। वह कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है लेकिन उन कर्मों के फल उसके बस में नहीं होते। इस प्रकार गाँधीजी ने व्यक्ति धर्म और ईश्वरीय नियमों को ही मुख्य माना है। उन्होंने समाज की अपेक्षा व्यक्ति को महत्त्व दिया क्योंकि प्रत्येक समाज वैसा ही होता है जैसे व्यक्ति उस समाज में

हों। उन्होंने सत्य तक पहुँचना ही मनुष्य का लक्ष्य माना है और उनका कहना है कि सत्य व अहिंसा के बल पर अकेला व्यक्ति भी समाज को प्रभावित कर सकता है और बुराइयों को बहुत बड़ी हद तक मिटा सकता है। अतः उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के स्थान पर मनुष्य के हृदय परिवर्तन पर जोर दिया। उन्होंने जिस भावी समाज की परिकल्पना की है वह भी सत्य व अहिंसा पर आधारित है। इस प्रकार गांधीजी ने धार्मिक आध्यात्मिक और नैतिकता सम्बन्धी धारणाओं को ही मूल व निर्णायक तत्व माना है।

महात्मा गाधी

अध्याय १

सामान्य परिचय

महात्मा गांधी केवल दार्शनिक और विचारक ही नहीं बल्कि एक बहुत बड़े समाज-सुधारक और राजनीतिज्ञ भी थे। उनके विचारों ने केवल भारत को ही नहीं समूचे विश्व को प्रभावित किया है। यह बात सत्य है कि वर्तमान शताब्दी में उनके विचारों ने विश्व को जितना प्रभावित किया है उतना इस शताब्दी के किसी भी अन्य दार्शनिक व विचारक ने नहीं।

अध्यात्मवादी विचारधारा

महात्मा गांधी अध्यात्मवादी थे। वे ईश्वर और ईश्वरीय नियमों में विश्वास करते थे। वे आत्मा और उसकी अमरता में भी यकीन करते थे इसलिए पुनर्जन्म में उनका विश्वास होना स्वाभाविक था। चूंकि वे आत्मा के पृथक अस्तित्व में यकीन करते थे इसलिए उन्होंने अपने दर्शन शास्त्र में समाज की अपेक्षा व्यक्ति को प्रमुखता दी है। वे समाज को व्यक्ति का समूह मात्र मानते थे।

गांधीजी के मूल मन्त्र

गांधीजी का मूल मंत्र है सत्य अहिंसा और प्रेम। ये सिद्धान्त कोई नए नहीं हैं लेकिन गांधीजी ने उनकी पुनर्व्याख्या की है। वे एक कर्मयोगी थे इसलिए उनके दर्शन का विकास उनके अनुभवों के साथ-साथ हुआ है। उन्होंने केवल वे शिक्षाएँ दी हैं, जिनका वे स्वयं पालन करते थे और जिन्हें वे व्यावहारिक समझते थे। उन्होंने शोषण अन्याय और जुल्म के विरुद्ध लड़ने और उससे छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को सत्याग्रह के रूप में एक नया अहिंसात्मक अस्त्र प्रदान किया है और उस अस्त्र को इस्तेमाल करके उसकी प्रभावकारिता सिद्ध की। यह उनकी एक बहुत बड़ी देन है कि उन्होंने सत्याग्रह रूपी अस्त्र को एक सामूहिक आन्दोलन के रूप में इस्तेमाल करके दिखाया। यह अस्त्र कितना प्रभावकारी है, यह केवल इसी एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि इसी अस्त्र के द्वारा भारत ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की दासता से मुक्ति प्राप्त की। मानव इतिहास में यह पहला

अवसर था जब किसी देश ने अहिंसात्मक उपायों द्वारा स्वतन्त्रता हासिल की हो।

आधुनिक सभ्यता रोगग्रस्त

महात्मा गांधी की दृष्टि में आधुनिक सभ्यता की बुनियादी कमजोरी अथवा बुराई यह है कि यह नैतिक सदाचरण तथा आत्मबल की अपेक्षा भौतिक वैभव और शक्ति पर ज्यादा भरोसा करती है और उसे प्रधानता देती है। उनकी मान्यता है कि मानव-सभ्यता को इस रोग से निश्चय ही मुक्त किया जा सकता है और उसके लिए क्रान्तिकारी उपायों की आवश्यकता पड़ेगी। उनकी दृष्टि में सभ्यता को रोगमुक्त करने का एक उपाय है—जीवन के सभी क्षेत्रों में अहिंसा का अपनाया जाना।

सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय

गांधीजी का कहना था कि मनुष्य के जीवन का उद्देश्य होना चाहिए दूसरों की सेवा करना। वे 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' के लक्ष्य में विश्वास करते थे। उनकी दृष्टि में साध्य और साधन को एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता और साधन भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि साध्य। उन्होंने आदर्श समाज के रूप में वर्गहीन और राज्यहीन प्रजातन्त्र की परिकल्पना की है। उनकी परिकल्पना का यह समाज अहिंसात्मक होगा उसमें शोषण के स्थान पर सेवा भाव होगा और प्रत्येक स्थानिक इकाई तथा प्रत्येक व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। गांव इस अहिंसात्मक समाज की स्वयंशासित और स्वयं पूर्ण इकाई होंगे। अहिंसात्मक राष्ट्रवाद का आधार सहयोग स्वेच्छा और रचनात्मक प्रवृत्तियां होंगी। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का ध्येय समाज-सेवा होगा और वह अपनी आदतों का दास न होकर अपने जीवन को स्वयं अनुशासित करेगा।

सत्यान्वेषण

गांधीजी ने यह दावा नहीं किया है कि उन्होंने जो कुछ कहा है अथवा अनुभव किया है केवल वही सत्य है। चूंकि वे सत्य को ही ईश्वर मानते थे इसलिए उनकी दृष्टि में आत्मा तब तक सत्य के पूर्ण दर्शन नहीं कर सकती जब तक वह शरीर में वास करती है। अतः उनकी दृष्टि में सत्य सापेक्ष्य है, जिसे सत्यान्वेषी अपने अनुभवों द्वारा शनैः-शनैः देखता और ग्रहण करता है। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन सत्यान्वेषण में लगाया और उनका दर्शन-चिन्तन इसी सत्यान्वेषण द्वारा प्राप्त अनुभवों का निचोड़ है।

अध्याय २

एक महान् परम्परा—एक महत्वपूर्ण कड़ी

महात्मा गांधी का दर्शन-शास्त्र उस महान् भारतीय परम्परा की एक कड़ी है, जिसका प्रारम्भ उपनिषद् काल अथवा उससे भी पूर्व माना जा सकता है। उनकी दृष्टि में सत्य और अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है और शुद्ध आचरण तथा सच्चे धर्म को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। हिन्दू धर्म-शास्त्रों में भी अहिंसा और शुद्धाचरण को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। यद्यपि वर्णाश्रम धर्म में क्षत्रियों का कर्तव्य युद्ध करना बताया गया है लेकिन उसके साथ-साथ यह भी कहा गया है कि युद्ध करते समय उनमें घृणा और प्रतिहिंसा की भावना नहीं होनी चाहिए। दूसरे, वर्णाश्रम धर्म में ब्राह्मण के धर्म यानी प्रेम और संयम को क्षत्रिय तथा अन्य वर्णों के धर्म (कर्तव्य) की अपेक्षा ऊँचा स्थान दिया गया है। उपनिषदों में तो अहिंसा पर सबसे अधिक जोर दिया गया है और उनमें बताये गये शुद्धाचरण के पाँच गुणों में अहिंसा का महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। पातंजलि ने भी अपने मूल सूत्र में कहा है कि—

"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

महात्मा गांधी की दृष्टि में वाल्मीकि रामायण और महाभारत में भी अहिंसा का सन्देश निहित है। उनका कहना है कि रामायण मुख्यतः उस द्वन्द्व का वर्णन है जो मनुष्य के भीतर ज्ञान और अज्ञान की शक्तियों में होता रहता है। इस तरह उनकी मान्यता यह है कि महाभारत में युद्धों और हिंसा की निरर्थकता सिद्ध की गई है। वैसे महाभारत में अहिंसा का प्रत्यक्ष उपदेश भी मिलता है। उसमें कई स्थानों पर सत्य और अहिंसा को मनुष्य का सर्वोत्तम गुण बताया गया है। एक स्थान पर भीष्म के मुख से यह कहलाया गया है कि अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि महाभारत के बाद से हमारे देश में अहिंसा को मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म माना जाने लगा है।

उपनिषद् व गीता

महात्मा गांधी को उपनिषद् और गीता विशेष रूप से प्रिय थे और उनसे उन्हें प्रेरणा व शक्ति प्राप्त होती थी। उपनिषद् की तरह भागवद्गीता में अहिंसा की महिमा का वर्णन नहीं है। उसमें अनासक्तियोग का आदर्श रखा गया यानी मनुष्य को फल की कामना किए बगैर काम करना चाहिए। गांधीजी का कहना है कि गीता ज्ञान का भंडार है और उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें बताये गए सांसारिक कर्तव्यों के पालन में भी हमें धर्मानुसार चलना चाहिए।

जैन और बौद्ध धर्म

जैन-धर्म में तो अहिंसा को ही आधार मानकर चला गया है। उसमें सबसे अधिक जोर इस बात पर दिया गया है कि किसी भी प्राणी को चाहे वह क्षुद्र तम अथवा मनुष्य ही क्यों न हो तनिक भी हानि नहीं चाहिए, पहुँचानी क्योंकि सभी जीवों में आत्मा का वास होता है। जैन-धर्म में जो पाँच व्रत बताये गए हैं उनमें अहिंसा को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। पर इस धर्म में उसके केवल नकारात्मक पक्ष पर ही जोर दिया गया है और सकारात्मक पक्ष की उपेक्षा की गई है। यद्यपि गांधीजी पर जैन-धर्म का भी प्रभाव रहा है, उन्होंने अहिंसा के सकारात्मक पक्ष पर बल दिया है। बौद्ध-धर्म में अहिंसा के प्रति एकांगी दृष्टि कोण न अपनाकर सदाचरण और प्रेम पर अधिक जोर दिया गया है। इस दृष्टि से बौद्ध-धर्म उपनिषदों के अधिक निकट है। बौद्ध-धर्म में आचरण के लिए जो दस नियम बनाये गए हैं उनमें अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। इसी तरह, साधारण लोगों के लिए बनाये गए पाँच नियमों में भी अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। महात्मा बुद्ध ने जहाँ एक ओर यह सीख दी है कि न तो अपने को दुःख पहुँचाना चाहिए और न दूसरे प्राणियों को वहाँ दूसरी ओर उन्होंने यह सीख भी दी है कि प्रत्येक व्यक्ति का प्राणी मात्र से प्रेम होना चाहिए। बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म दोनों ही में अहिंसा और सत्य को एक दूसरे से सम्बद्ध माना गया है। इसके बाद भक्तिमार्ग के अनेकानेक सन्तों ने भी सत्य और अहिंसा पर ही सर्वाधिक बल दिया है।

इस्लाम व यहूदी-धर्म

यद्यपि इस्लाम और यहूदी-धर्म के अनुयायियों ने अहिंसा के प्रति बहुत कम आस्था दिखायी है और उनका इतिहास हिंसात्मक कार्रवाइयों से भरा पड़ा है,

तथापि इन दोनों ही धर्मों में मुख्यतः अहिंसा मानवता और विश्व बन्धुत्व पर ही जोर दिया गया है। कुरान में रक्षात्मक युद्ध तथा अन्यायियों के विरुद्ध युद्ध करने की अनुमति अवश्य दी गई है लेकिन उसमें भी अहिंसा को हिंसा की अपेक्षा श्रेयस्कर माना गया है। अन्य धर्म शास्त्रों की तरह कुरान में भी बुराई को अच्छाई से दूर करने की बात कही गई है। हज़रत मोहम्मद का सन्देश शान्ति प्रेम विश्व-बन्धुत्व मानवता और सत्य का सन्देश था। उनका स्वयं का जीवन भी इन भावनों के अनुकूल था। उन्होंने औरतों और गुलामों के प्रति भी सद् व्यवहार करने की सीख दी है और वे स्वयं तो नौकरों को कभी डाँटते तक न थे। उन्होंने पशु-पक्षियों के प्रति भी दया भाव रखने की सीख दी है। वे बलात् धर्म-परिवर्तन के विरुद्ध थे और उनका कहना था कि धार्मिक मामलों में किसी तरह की जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए। इस तरह उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त को अपनाया था।

यहूदियों के धर्म के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। यहूदी व्यवहार में भले ही अहिंसा के सिद्धान्तों का अनुसरण न करते हों उनके धर्म-शास्त्रों ने अहिंसा प्रेम और विश्व-बन्धुत्व की ही सीख दी है। पुरानी बाइबिल में कहा गया है कि अगर तुम्हारा शत्रु भूखा हो तो उसे रोटी खाने को दो और अगर तुम्हारा शत्रु प्यासा हो तो उसे पीने के लिए पानी दो। यदि तुम्हें राह में शत्रु का गधा भागकर जाता हुआ मिल जाय तो तुम उसे लाकर वापस कर दो। तुम अपने शत्रु की असफलताओं और मुसीबतों पर खुशी न मनाओ। घृणा के कारण ही सारी लड़ाइयाँ होती हैं और प्रेम सारे पाप को दूर करता है।

ईसाई-धर्म

ईसाई-धर्म का मूल आधार यहूदी-धर्म है क्योंकि ईसा ने पुरानी बाइबिल में दिये गए सिद्धान्तों को ग्रहण करके उन्हें नया और क्रान्तिकारी रूप दिया था। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं यहूदी-धर्म के आधारभूत सिद्धान्त प्रेम अहिंसा और सहिष्णुता हैं। ईसा ने भी इन सिद्धान्तों को अपनाया और उन्होंने कहा कि प्रेम ही ईश्वर है। पुरानी बाइबिल में कहा गया है कि अपने ईश्वर से प्रेम करो और अपने पड़ोसी से भी वैसा ही प्रेम करो जैसा कि स्वयं अपने से करते हो। ईसा ने इसे अंगीकार करके विकसित किया और कहा कि केवल यही पर्याप्त नहीं है कि तुम अपने पड़ोसी से प्रेम करो बल्कि तुम्हें अपने शत्रु से भी प्रेम करना चाहिए, उन्हें कोसने के बजाय आशीर्वाद देना चाहिए, उनसे नफरत

गांधीजी और टालस्टॉय

अन्य सभी दार्शनिकों और विचारकों की अपेक्षा गांधीजी के विचार टालस्टॉ के विचारों के ज्यादा निकट थे। गांधीजी की ही भांति टालस्टॉय की भी सत्य अहिंसा और प्रेम में दृढ़ आस्था थी और उन्होंने भी बुराइयों को दूर करने लिए असहयोग का मार्ग बताया है। वे पूंजीवाद वैयक्तिक सम्पत्ति और राज तथा उसकी समस्त संस्थाओं जैसे कि पुलिस न्यायालय और सेना आदि विरुद्ध थे। उनका कहना था कि समाज का आधार अनौपचारिक सहयोग होना चाहिए और गांधीजी की तरह वे भी अहिंसात्मक समाज को आदर्श मानते थे।

अन्य दार्शनिकों का प्रभाव

गांधीजी पर उन सभी अन्य दार्शनिकों और विचारकों का किसी-न किसी हद तक प्रभाव पड़ा था जिनके दर्शन का आधार अध्यात्मवाद है, जो आत्मा की प्रभुता में विश्वास करते थे और जिन्होंने संसार को सत्य अहिंसा और प्रेम का सन्देश दिया है। पर गांधीजी ने इन सिद्धान्तों की नये सिरे से व्याख्या की है और इन सिद्धान्तों का वैयक्तिक आचरण के अलावा सामूहिक आचरण के लिए भी अपनाया है। इस तरह उन्होंने सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों को विकसित किया और उनका दर्शन-शास्त्र एक महत्वपूर्ण परम्परा की नई कड़ी बन गया।

अध्याय ३

गांधीवाद का आधार

महात्मा गांधी के दर्शन का आधार आध्यात्मिक है और उन्होंने अपने सिद्धान्तों को धार्मिक विश्वासों पर आधारित किया है। उनका कहना है कि संसार में केवल दो ही चीजें है—धर्म और अधर्म। इसलिए जीवन के प्रति भी केवल यही दो दृष्टिकोण हो सकते हैं। मानव-मस्तिष्क अथवा मानव-समाज को अलग-अलग सामाजिक राजनीतिक और धार्मिक विभागों में विभाजित नहीं किया जा सकता क्योंकि वे एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं और प्रत्येक पर दूसरे की प्रतिक्रिया होती है। अतः सामाजिक राजनीतिक और धार्मिक मामलों में अलग अलग दृष्टिकोण नहीं अपनाए जा सकते। जीवन के सभी कार्य-कलापों में धर्म ही निर्देशक तत्व होना चाहिए क्योंकि धर्म का कोई अलग-अलग अंग नहीं है और मनुष्य के दैनिक कार्यों में ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः गांधीजी के सामाजिक व राजनीतिक विचारों तथा 'भावी आदर्श समाज' सम्बन्धी उनकी परिकल्पना को उनके धार्मिक व आध्यात्मिक विश्वासों से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

ईश्वरीय नियम

गांधीजी की ईश्वर और ईश्वरीय नियम में दृढ़ आस्था थी। उनका विश्वास था कि सम्पूर्ण सृष्टि का संचालन ईश्वरीय नियम के अनुसार होता है। ईश्वर सर्वोपरि और सर्वव्यापी है। राजा और उसके नियमों मे तो अन्तर हो सकता है लेकिन ईश्वर और ईश्वरीय नियम में कोई अन्तर नहीं। ईश्वर ही ईश्वरीय नियम है और उसकी इच्छा के बगैर एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।

लेकिन ईश्वर है क्या? अलग-अलग ऋषियों व संतों ने ईश्वर की अलग अलग व्याख्या करने की कोशिश की है। गांधीजी अपने परीक्षणों व अनुभवों द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सत्य ही ईश्वर है। उन्होंने कहा—"मेरी दृष्टि में ईश्वर सत्य व प्रेम है। ईश्वर सदाचार व नैतिकता है। ईश्वर निर्भयता है वह प्रकाश व जीवन का स्रोत है। फिर भी वह इस सबसे ऊपर है और इस सबसे परे है। ईश्वर आन्तरिक चेतना है। वह तर्क और वाणी से परे है।

यद्यपि ईश्वरीय नियमों के विपरीत संसार में कुछ भी नहीं हो सकता तथापि ऐसा नहीं है कि मनुष्य को कोई स्वतन्त्रता न हो। उसको उसे स्वतन्त्रता अवश्य है लेकिन ईश्वरीय नियमों के अनुसार ही। वह विभिन्न मार्गों में से अपने लिए कोई भी मार्ग चुन सकता है। अच्छाइयों व बुराइयों में से किसी एक को चुन सकता है, यानी उसे कर्म करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। वह केवल इसी अर्थ में अपने भाग्य का निर्माता है। वह अपने भाग्य का निर्माता केवल उसी हद तक बन सकता है जिस हद तक उसे ऐसा करने की ईश्वरीय अनुमति प्राप्त हो। वह अच्छाइयों व बुराइयों में से किसी एक को चुनकर कर्म करता है और उन कर्मों का फल उसे मिलता है। वह कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है लेकिन उन कर्मों के फल उसके वश में नहीं होते। चूंकि गांधीजी मोक्ष और पुनर्जन्म में भी विश्वास करते थे अतः वे यह मानते थे कि पिछले जन्मों के फल मनुष्य की स्वतन्त्रता को सीमित कर देते हैं। उन्होंने मनुष्य की इस स्वतन्त्रता की तुलना जहाज़ पर चढ़े हुए जहाज़ के मुसाफिर की स्वतन्त्रता से की है। तात्पर्य यह है कि संसार ईश्वरीय नियमों के अनुसार एक निश्चित लक्ष्य की ओर जा रहा है और मनुष्य अपनी सीमित स्वतन्त्रता के भीतर जो कर्म करते हैं ईश्वर उन्हें उनका फल देता है।

सत्य, अहिंसा और प्रेम

गांधीजी सत्य को ही ईश्वर मानते थे और उनका कहना था कि सत्य तक पहुँचना ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है। यद्यपि पूर्ण सत्य के दर्शन तब तक सम्भव नहीं जब तक आत्मा शरीर में बन्दी है, तथापि मानवीय दृष्टि से जितना सम्भव हो मनुष्य को सत्य के उतना निकट पहुँचने की चेष्टा करनी चाहिए। गांधीजी ने स्वयं भी अपना सारा जीवन सत्यान्वेषण में लगाया और इस दौरान में उन्होंने यह खोज की कि सत्य और अहिंसा एक ही वस्तु के दो रूप हैं। अहिंसा के बिना सत्य के दर्शन होना सम्भव नहीं। सत्य लक्ष्य है तो अहिंसा लक्ष्य तक पहुँचने का साधन। वे अहिंसा और प्रेम को एक-दूसरे का पर्याय मानते थे। अहिंसा के सिद्धान्त को अपना लेने पर केवल प्रेम ही शेष बचता है। उन्होंने इस सिद्धान्त को माना है कि केवल उसे प्रेम नहीं करना चाहिए जो अपना हो बल्कि अपने से नफरत करने वालों से भी प्रेम करना चाहिए। प्रेम ही सत्य और अहिंसा का मार्ग है। गांधीजी ने सत्य तक पहुँचने के लिए सदाचार और नैतिकता को भी अनिवार्य माना है। अतः उनकी राजनीतिक और सामाजिक धारणाएँ उनके धार्मिक और नैतिक विश्वासों से सम्बद्ध हैं।

मनुष्य का लक्ष्य

गांधीजी को आत्मा की शक्ति पर पूर्ण विश्वास था और उनका कहना था कि यह शक्ति ईश्वर-भक्ति तथा ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा प्राप्त होती है और इस शक्ति का प्रयोग अहिंसा व प्रेम के माध्यम से ही हो सकता है। उनका यह विश्वास था कि अहिंसा और प्रेम द्वारा कट्टर-से-कट्टर शत्रु पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है यानी उसे सही मार्ग पर लाया जा सकता है। आत्मबल द्वारा घोरतम अन्यायों को मिटाया जा सकता है। पर यह सोचना गलत है कि सत्य और अहिंसा का प्रयोग केवल वैयक्तिक रूप से किया जा सकता है। इसका प्रयोग सामूहिक रूप से भी किया जा सकता है।

गांधीजी यह मानते थे कि ईश्वर हमसे अलग नहीं है। वह हममें और दूसरी सभी चीजों में विद्यमान है। मानव-शरीर में जो आत्मा वास करती है, वह एक सम्पूर्ण आत्मा का ही अंश है यानी सभी मनुष्यों में वास करने वाली आत्मा मूलतः एक ही है। अतः जो ईश्वर की सेवा करना चाहता है, उसे मानवता की सेवा करनी चाहिए। ईश्वर की प्राप्ति मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति प्राणी-मात्र से प्रेम करने और मानवता की सेवा करने से ही हो सकती है। इस सेवा के बदले में उसे कुछ पाने की इच्छा नहीं रखनी चाहिए, और न यह सोचना चाहिए कि वह दूसरों का उपकार कर रहा है। निःस्वार्थ सेवा द्वारा वह स्वयं अपनी ही सेवा करता है अपने कर्तव्य को पूरा करता है और अपना बोझ हल्का करता है।

धर्म और सत्य

यद्यपि गांधीजी के जीवन-दर्शन का आधार धार्मिक और आध्यात्मिक है, तथापि वे केवल एक धर्म में आस्था नहीं रखते थे। उनका कहना है कि अलग-अलग धर्म ईश्वर तक पहुँचने के अलग-अलग मार्ग हैं। उन्होंने सभी धर्मों से उनकी अच्छाइयों को ग्रहण किया और सत्य को ही मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म कहा है। उन्होंने संसार के विभिन्न धर्मों का अध्ययन करने पर यह देखा कि सभी धार्मिक आचार्यों और सन्तों ने अहिंसा पर ही जोर दिया है, उसकी महिमा का वर्णन किया है और किसी ने भी हिंसा को अपनाने की सीख नहीं दी। स्वयं मानव-इतिहास इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य हिंसा से अहिंसा की ओर बराबर बढ़ता गया है। शुरू-शुरू में हमारे पूर्वज नरभक्षी थे। वे प्रगति करके शिकारी बने और फिर उन्होंने कृषि को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का मुख्य

आधार बनाया तथा मानव-सभ्यता का श्रीगणेश हुआ। इस तरह हिंसा में निरन्तर कमी और अहिंसा की वृद्धि हुई।

अहिंसा और राजनीति

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं राजनीति के प्रति भी महात्मा गांधी का दृष्टिकोण धार्मिक था। वे राजनीतिक शक्ति को साध्य न मानकर जनता के जीवन को बेहतर बनाने का साधन-मात्र मानते थे। चूंकि राज्य में बल प्रयोग निहित है और बल का प्रयोग भले ही वह किसी भी रूप में क्यों न हो अहिंसा के सिद्धान्तों के विपरीत है, अतः वे राज्य की शक्ति को बढ़ाने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने राज्य को केन्द्रित और संगठित हिंसा की संज्ञा दी है। वे पूंजीवाद को भी हिंसा द्वारा समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे और उन्होंने एक ऐसे भावी आदर्श समाज की परिकल्पना प्रस्तुत की जो पूर्णतः अहिंसात्मक होगा जिसमें न कोई शासक होगा और न कोई शासित, जिसमें सब लोगों का स्तर समान होगा और जिसमें राष्ट्रीय जीवन का स्व-नियमन होगा।

अध्याय ८

साध्य और साधन

गांधीजी 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' के स्थान पर 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' के सिद्धान्त को मानते थे। उनका कहना था कि मनुष्य को दूसरे सब लोगों की अधिकतम भलाई करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए, भले ही इस आदर्श की प्राप्ति के लिए उसे मरना ही क्यों न पड़े। केवल बहुजन सुखाय को आदर्श बनाने का अर्थ यह भी हो सकता है कि ज्यादा लोगों की भलाई के लिए कुछ लोगों को हानि पहुँचने देना बुरा नहीं। गांधीजी की दृष्टि में इस सिद्धान्त में हृदयहीनता छिपी हुई है और इससे मानवता को हानि ही पहुँचेगी। जब सभी मनुष्यों की आत्मा एक है तो किसी की भी उपेक्षा करने का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। जब एक व्यक्ति अपने को आध्यात्मिक रूप से ऊपर उठाता है तो सब मनुष्यों में आध्यात्मिक एकता होने के कारण उसके आत्मज्ञान का सब पर असर पड़ता है। इसी तरह जब कोई आदमी बुरा मार्ग अपनाता है तो उसके बुरे कर्म सम्पूर्ण मानवता को प्रभावित करते हैं। मनुष्य अपने अन्तिम लक्ष्य—आत्मज्ञान (जिसका अर्थ है ईश्वर से साक्षात्कार अथवा सत्य के पूर्ण दर्शन)—तक तभी पहुँच सकता है जब वह मानव-मात्र की सेवा को अपने जीवन का उद्देश्य बनाये। लेकिन चूँकि उसके देश के लोग उसके सबसे निकट होते हैं, इसलिए उसे सर्वप्रथम अपने देशवासियों की सेवा करनी चाहिए।

साधन कैसा हो ?

अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँचे कैसे ? उसके लिए साधन क्या होना चाहिए ? इस सम्बन्ध में संसार में दो विचारधाराएँ हैं। एक ओर तो वे लोग हैं जिनका कहना यह है कि साध्य अथवा लक्ष्य ही मुख्य है और साधन गौण। यदि साध्य अच्छा है तो उस तक पहुँचने के लिए कोई भी साधन अपनाया जा सकता है, भले ही वह साधन बुरा ही क्यों न हो। इस दृष्टिकोण का तार्किक परिणाम यह होता है कि मानव अपने उच्च लक्ष्य तक पहुँचने के लिए चाहे छल फरेब झूठ घृणा और हिंसा आदि उपाय ही काम में

न इसमें कोई बुराई नहीं है, क्योंकि उसका लक्ष्य ऊँचा है। दूसरी ओर गांधीजी और कई अन्य आध्यात्मिक दार्शनिकों की विचारधारा है, जिसमें साधन को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण माना गया है जितना कि साध्य को। गांधीजी का कहना है कि साधन और साध्य एक-दूसरे के पर्याय हैं। यदि साध्य अच्छा है तो उसकी प्राप्ति के साधन भी अनिवार्य रूप से अच्छे होने चाहिए। उन्होंने साधन की बीज से और साध्य की पेड़ से तुलना की है। जो सम्बन्ध बीज और पेड़ का है वही सम्बन्ध साधन और साध्य का है। जब तक साधन अच्छा नहीं होगा तब तक उसके परिणाम कदापि अच्छे नहीं हो सकते। गलत उपायों द्वारा प्राप्त की गई सफलता क्षणिक होती है और अन्ततोगत्वा बोझ साबित होती है। सच्ची सफलता और सच्ची प्रगति तो केवल अच्छे साधनों द्वारा ही सम्भव है। केवल कर्म ही मनुष्य के वश की बात है और उसका परिणाम ईश्वर के हाथ में होता है। अतः अच्छे साधनों द्वारा ही अच्छे फल हासिल किये जा सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि केवल अच्छा या बुरा साधन अपनाना मनुष्य के वश की बात है और उसका परिणाम उसके वश के बाहर की बात है। अतः शुभ परिणामों की कामना करने वालों के लिए यह अनिवार्य है कि वे उसके लिए अच्छे साधन अपनायें। साध्य की ही भाँति हमारे साधन भी पूर्णतः शुद्ध होने चाहिए।

एकमात्र साधन

गांधीजी ने मनुष्य के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अहिंसा को एकमात्र साधन माना है और उनका कहना है कि इस साधन को सफलतापूर्वक इस्तेमाल करने के लिए आत्मशुद्धि और शुद्धाचरण अनिवार्य है। यही दृष्टिकोण गांधीजी के राजनीतिक दर्शन का मुख्य आधार है। वे यह मानते थे कि नैतिक अनुशासन द्वारा ही सच्चा स्वराज्य हासिल किया जा सकता है। उन्होंने कहा था—"मैं अहिंसा की कीमत पर अपने देश की स्वतन्त्रता को खरीदने के लिए तैयार नहीं हूँ। सामाजिक सुधारों के लिए भी वे अहिंसा और शुद्धाचरण को ही एकमात्र साधन मानते थे। उनका कहना था कि हम जितनी जल्दी यह महसूस कर सकेंगे कि हमारी सामाजिक बुराइयाँ स्वराज्य के मार्ग में बाधक हैं उतनी ही द्रुतगति से हम अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सकेंगे। अतः उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सामाजिक सुधारों को स्वतन्त्रता प्राप्ति तक स्थगित नहीं रखना चाहिए। यदि मनुष्य अच्छे साधन अपनायेगा तो उसके परिणाम स्वाभाविक रूप से अच्छे होंगे। अतः उसे केवल साधन की ही चिन्ता करनी चाहिए और साध्य को ईश्वर पर छोड़ देना चाहिए। उनकी दृष्टि में साध्य और साधन ऐसे

अपृथकनीय है कि वे साधन में ही साध्य के दर्शन करते थे और इसीलिए उन्होंने एक बार कहा था कि मेरी दृष्टि में स्वराज्य के लिए किया जाने वाला प्रयत्न ही स्वराज्य है।

चूंकि गांधीजी सत्य तक पहुँचने के लिए अहिंसा को एकमात्र साधन मानते थे इसलिए व जीवन के सभी क्षेत्रों में अन्याय और बुराई को मिटाने तथा मनुष्य के उत्थान के लिए अहिंसा की अनिवार्यता पर जोर देते थे। उनका कहना था कि अहिंसा मानव-जाति का नियम है और वह पाशविक शक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ चढ़कर है। उसका प्रयोग वे ही लोग कर सकते हैं जिनकी ईश्वर और प्रेम में पूर्ण आस्था हो। अहिंसा द्वारा आत्मसम्मान की पूर्णतः रक्षा की जाती है। लेकिन वह सम्पत्ति की रक्षा का साधन नहीं है क्योंकि वह (अहिंसा) हिंसा अनैतिकता तथा बुरे माध्यमों से उपार्जित सम्पत्ति के स्वभावतः विरुद्ध है। जब भी कोई व्यक्ति अथवा राष्ट्र अहिंसा का मार्ग अपनाता है उसे आत्मसम्मान के अतिरिक्त सब-कुछ कुरबान कर देने के लिए तैयार रहना चाहिए। अहिंसा एक ऐसी शक्ति है जिसे बच्चे बूढ़े जवान और महिलायें, सभी हासिल कर सकते हैं बशर्ते प्रेमरूपी ईश्वर में उन्हें पूर्ण विश्वास हो और वे सम्पूर्ण मानव-जाति से प्रेम करते हों। अहिंसा को जीवन का नियम मान लेने पर वह मनुष्य के समस्त कार्य-कलापों का माध्यम बनना चाहिए, न कि यह कि उसे केवल छिटपुट मामलों में प्रयुक्त किया जाय। अहिंसा का नियम व्यक्तियों के लिए जितना प्रभावकारी है उतना ही समूहों के लिए भी।

अहिंसा की व्याख्या

गांधीजी जीव-हत्या न करने को ही अहिंसा नहीं मानते थे। उनकी अहिंसा की व्याख्या बहुत व्यापक है और इसीलिए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब तक आत्मा मानव-शरीर में बंधी रहती है तब तक पूर्ण अहिंसा असम्भव है। शरीर कायम रखने में कुछ-न-कुछ हिंसा निहित होती है और उससे बचा नहीं जा सकता। उनकी अहिंसा की व्याख्या यह है कि मनुष्य द्वारा कोई भी काम दूसरे किसी भी प्राणी को दुःख पहुँचाने की नीयत से नहीं किया जाना चाहिए। अहिंसा में घृणा प्रतिहिंसा और स्वार्थ की गुंजाइश नहीं। ऐसे अवसर भी आ सकते हैं जब कि किसी जीव को मार डालना ही अहिंसा हो। उदाहरण के लिए, अगर पशु बीमार है उसको बेहद कष्ट है और उसके बचने की कोई भी सम्भावना नहीं है तो उसे उस कष्ट से मुक्त करने के लिए मार डालना

अहिंसा के सिद्धान्त के विपरीत न होगा। इसी तरह, यदि कोई बच्चा आग की लपटों की ओर भागा जा रहा हो तो उसे बलात् रोक देने में हिंसा नहीं है। हिंसा तो तब होती है जब दूसरे को नुकसान पहुँचाने की नीयत से बल-प्रयोग किया जाय।

गांधीजी ने अहिंसा को वीरों का धर्म कहा है। उनका कहना है कि अहिंसा का पालन वे ही व्यक्ति कर सकते हैं, जिनमें नैतिक और मानसिक बल हो जिनमें साहस हो और जिनमें सहन-शक्ति हो। अहिंसा के लिए शारीरिक शक्ति आवश्यक नहीं। अहिंसा में आत्मसमर्पण का कतई स्थान नहीं है, अतः साहसहीन और डरपोक अहिंसा का पालन नहीं कर सकते। गांधीजी का कहना है कि डरपोक की अहिंसा से तो हिंसा ही भली यानी यदि हिंसा और डरपोकता में से एक का चुनाव करना हो तो उस हालत में वे हिंसा को चुनने की सलाह देंगे।

आत्मबल व नैतिक बल

चूँकि अहिंसक के लिए आत्मबल और नैतिक बल की आवश्यकता होती है, इसलिए महात्मा गांधी ने आत्म-शुद्धि और शुद्धाचरण को अनिवार्य बताया है। अहिंसा के पालन के लिए उन्होंने अभ्यास वैराग्य ब्रह्मचर्य अचौर्य (चोरी न करना) अपरिग्रह (संग्रह न करना) और सत्य के पालन को अनिवार्य कहा है। यहाँ सत्य का अर्थ है सच बोलना। ईश्वररूपी सत्य और सच बोलने के अर्थ में प्रयुक्त इस 'सत्य' में अन्तर स्पष्ट है। यहाँ पर सत्य से गांधीजी का तात्पर्य यह भी है कि वास्तविकता पर किसी भी तरह परदा नहीं डालना चाहिए, पूर्वाग्रह (किसी भी मामले या व्यक्ति के सम्बन्ध में पहले से ही कोई धारणा बना लेना) नहीं होना चाहिए। चोखाबड़ी अतिशयोक्ति छिपाव आदि भी नहीं होना चाहिए।

शत्रु से भी प्रेम

गांधीजी प्रेम को ही अहिंसा मानते थे इसलिए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अन्याय या बुरा काम करने वाले व्यक्ति के प्रति हममें तनिक भी घृणा या रोष नहीं होना चाहिए। अहिंसाव्रती को केवल बुराई या अन्याय को मिटाने के लिये प्रयत्न करना चाहिए और वह भी अपने को कष्ट पहुँचाकर तथा बुराई करने वाले का हृदय परिवर्तित करके। साथ ही उसे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि बुरा काम अथवा अन्याय करने वाले व्यक्ति को हानि पहुँचाने की नीयत से कोई भी कार्य न किया जाय। बुराई या अन्याय करने वाले व्यक्ति

के प्रति हमारी वही भावनाएँ होनी चाहिए जो गलत मार्ग का अनुसरण करने वाले अपने पुत्र या पिता के प्रति होती हैं। उसके प्रति भी हमारे हृदय में प्रेम ही होना चाहिये क्योंकि अहिंसा का व्रत शत्रु से भी प्रेम करना सिखाता है।

अप्रकट व अचेतन प्रभाव

अहिंसा हिंसा की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँची चीज है और उसके लिये हिंसा की अपेक्षा कहीं अधिक साहस की आवश्यकता पड़ती है। अहिंसावादी में मरने का साहस होना चाहिए। यदि कभी ऐसा मौका आ जाय जब मरने और मारने में चुनाव करना पड़े तो अहिंसावादी को मरने का मार्ग ही अपनाना चाहिए। हिंसा का असर तो प्रतिपक्षी पर केवल प्रकट रूप में पड़ता है लेकिन अहिंसा एक ऐसी शक्ति है जिसका असर अप्रकट और अचेतन होने के कारण कहीं अधिक गहरा होता है। हिंसा में पराजय निश्चित होती है लेकिन अहिंसा में पराजय का कोई स्थान नहीं।

नई व्याख्या नहीं

महात्मा गांधी ने अहिंसा की नई व्याख्या ही नहीं की है, बल्कि उसे जीवन के सभी अंगों में व्यवहृत करके तथा हिंसारूपी अस्त्र को सामूहिक रूप से प्रयुक्त करके मानव-जाति के लिए एक नया मार्ग प्रशस्त किया है। उन्होंने अहिंसा और सत्याग्रह द्वारा भारत को आजादी दिलाकर उसकी श्रेष्ठता का प्रमाणित भी किया है।

अध्याय ५

सत्याग्रह

अहिंसा-व्रतधारी हिंसा और अन्याय पर विजय पाने तथा दूसरी बुराइयों को मिटाने के लिए जो अहिंसात्मक उपाय काम में लाते हैं उन्हें महात्मा गांधी ने सत्याग्रह, यानी 'सत्य के लिए आग्रह' की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि सत्य के लिए आग्रह करना ही सत्याग्रह है। ऐसा करने से सत्य की स्थापना होती है। असहयोग नागरिक अवज्ञा और उपवास आदि सत्याग्रह के विभिन्न रूप हैं। महात्मा गांधी ने राजनीतिक और सुधारवादी प्रवृत्तियों व कार्यों तथा संवैधानिक उपायों को भी सत्याग्रह के अन्तर्गत माना है। उनकी दृष्टि में सत्याग्रह अन्याय और बुराइयों को समाप्त करने का उपाय मात्र न होकर जीवन का एक तरीका है क्योंकि वह प्रेम-शक्ति और आत्म-शक्ति है और इसी शक्ति द्वारा मनुष्य के जीवन का निर्देशन होना चाहिए। सत्याग्रह का प्रयोग जीवन के सभी क्षेत्रों में और सभी तरह के लोगों द्वारा व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से किया जा सकता है। चूंकि आत्मा की शक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है इसलिए सत्याग्रही की विजय प्रारम्भ से ही सुनिश्चित माननी चाहिए।

मुख्य धारणा

सत्याग्रह के पीछे मुख्य धारणा यह है कि चूंकि सब मनुष्यों की आत्मा एक ही है अतः जब एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के हृदय-परिवर्तन के लिए आत्मपीड़न का उपाय इस्तेमाल करता है तो उसकी आत्मा आस-पास के दूसरे लोगों की आत्माओं और विरोधियों की आत्माओं को प्रभावित करती है। इस प्रकार सत्याग्रह को जन-समर्थन प्राप्त होता है। सत्याग्रही की आत्मा की शक्ति पहले तो विरोधी को अचेतन रूप से प्रभावित करती है और उसके बाद चेतन रूप से। अचेतन रूप से उसका हृदय प्रभावित होता है और चेतन रूप से उसका मस्तिष्क लेकिन हृदय-परिवर्तन होते ही मस्तिष्क प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

सत्याग्रह का उद्देश्य

सत्याग्रह का उद्देश्य कभी भी अन्यायी को पराजित करना नहीं होता। उसे समाप्त करने की बात तो दूर रही सत्याग्रही उसे किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाता और उसे ऐसी स्थिति में डालने की कोशिश भी नहीं करता है जिससे उसे लज्जा और परेशानी महसूस हो। वह तो अपने विरोधी को भी इतना अधिक प्यार करता है जितना कि अपने परिवार के सदस्यों अथवा अपने मित्रों को। वह यह मानकर चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति में अच्छाइयाँ भी अनिवार्य रूप से होती हैं। अतः वह अपनी आत्मा की शक्ति अथवा प्रेम की शक्ति द्वारा उसकी अच्छी भावनाओं को जाग्रत करता है और इस तरह उसको सही मार्ग पर लाने की कोशिश करता है। उसका उद्देश्य यह होता है कि विरोधी अथवा अन्यायी अपनी भूलों को महसूस करे और उसके लिए उसे पश्चाताप हो। सत्याग्रही यह मानकर चलता है कि उसका विरोधी भी उतना ही ईमानदार है जितना कि वह स्वयं और घोरतम अन्यायी मे भी अच्छी भावनाएँ होती हैं। वह विरोधी पर कभी भी अविश्वास नहीं करता भले ही उसने पहले कितने ही झूठे वायदे क्यों न किये हों। वह उसकी अच्छी भावनाओं को जाग्रत करके उसे सत्य के दर्शन कराता है और ऐसा करने वाला ही अपने को सत्याग्रही कहने का हकदार होता है।

सत्याग्रह का अर्थ

सत्याग्रह का अर्थ है हिंसा को अहिंसा से असत्य को सत्य से क्रोध को प्रेम से और बुराई को भलाई से जीतना। अतः सत्याग्रही में किसी के भी प्रति क्रोध घृणा संदेह और प्रतिहिंसा की भावना तथा मनोमालिन्य नहीं होना चाहिए। उसे अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कभी भी किसी की सहायता या समर्थन प्राप्त करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। लाख उकसाए जाने पर भी सत्याग्रही में असहिष्णुता नहीं आनी चाहिए। उसे अपने विरोधी को किसी भी रूप में भयभीत करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। विरोधी के प्रति उसका प्रेम कभी भी कम नहीं होना चाहिए और उसके प्रेम-प्रदर्शन में बनावटीपन कतई नहीं होना चाहिए। उसका प्रेम सच्चा होना चाहिए। यदि विरोधी उसके ऊपर आक्रमण कर दे तो भी उसे न तो दूसरों से मदद के लिए कहना चाहिए और न अदालत की शरण लेनी चाहिए। उसे हर हालत में शान्त रहना चाहिए और ईश्वर तथा अपनी आत्मा पर भरोसा करके चलना चाहिए।

स्वयं के विरुद्ध संघर्ष

इससे स्पष्ट है कि सत्याग्रही के लिए प्रथम दिन प्रतिदिन के जीवन में तपस्वी होना आवश्यक है। उसमें आत्मानुशासन होना चाहिए, क्योंकि जब तक वह अपनी अन्तरात्मा को शुद्ध करके स्वयं अपने हृदय को पवित्र नहीं बना लेता तब तक वह आत्मा की शक्ति द्वारा बाह्य परिस्थिति को बदलने के योग्य नहीं बना सकेगा। अतः उसे सबसे पहले अपने स्वयं के विरुद्ध सत्याग्रह करना चाहिए। उसे क्रोध घृणा प्रतिहिंसा असहिष्णुता और इस तरह की दूसरी कुभावनाओं के विरुद्ध सत्याग्रह करके उन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। उसे जीवन के बुनियादी मूल्यों को ग्रहण करके उन्हें अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में बुद्धिसंगत तरीके से प्रयुक्त तथा विकसित करना चाहिए। उसे आत्मानुशासन द्वारा अपने विचारों तथा अपनी भावनाओं पर नियंत्रण हासिल करना चाहिए, क्योंकि इसी से उसमें आन्तरिक शक्ति विकसित होगी और उसकी आत्मा की शक्ति अजेय बनेगी।

आत्म-पीड़न का महत्त्व

महात्मा गांधी ने आत्म-पीड़न को बड़ा महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि महत्त्वपूर्ण मामलों में विरोधी के हृदय को परिवर्तित करने में यह तपस्या जितनी बड़ी भूमिका अदा करती है उतनी कोई अन्य चीज नहीं। उन्होंने तपस्या को तर्क से भी अधिक महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि प्रगति का माप दण्ड यह है कि सत्याग्रही ने कितनी तपस्या की है। तपस्या में जितनी निष्कलुषता होगी है, उतनी ही अधिक प्रगति होती है। यह सोचना गलत है कि सत्याग्रही अपने विरोधियों को पाशविक शक्ति के प्रयोग के लिए विवश करता है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करता है तो वह सत्याग्रही नहीं रह जायगा क्योंकि विरोधी को पाशविक शक्ति के प्रयोग के लिए विवश करने का परिणाम यह होगा कि विरोधी का हृदय-परिवर्तन ज्यादा कठिन हो जायगा। अतः गांधीजी ने यह चेतावनी दी है कि सत्याग्रही को ऐसा कोई भी काम जान-बूझकर नहीं करना चाहिये जिससे विरोधी को उकसावा मिले।

सत्याग्रह व सामाजिक भलाई

महात्मा गांधी का कहना है कि सत्याग्रह केवल सामाजिक भलाई के लिए किया जा सकता है, वैयक्तिक लाभ के लिए नहीं। जो व्यक्ति वैयक्तिक हानि-लाभ के विचार से ऊपर नहीं उठ सकता वह सत्याग्रही बनने के योग्य नहीं।

सत्याग्रही को तो सत्य और न्याय हेतु अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने के लिए सदा प्रस्तुत रहना चाहिये। सत्याग्रही जिस चीज को छोड़ने के लिए कभी भी तैयार नहीं हो सकता वह है उसका आत्म-सम्मान क्योंकि आत्म-सम्मान के परित्याग का अर्थ होता है नैतिक पतन। अतः सत्याग्रही को हर कीमत पर अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करनी चाहिये और दूसरी सभी चीजों की कुरबानी के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। अनुचित और बुरे उपायों द्वारा एकत्र की गई धन-सम्पत्ति तथा अनैतिक कामों की रक्षा सत्याग्रह द्वारा नहीं की जा सकती। चूंकि पूंजी और सम्पत्ति का संग्रह हिंसा द्वारा होता है अतः पूंजीपति सत्याग्रह द्वारा अपनी पूँजी की रक्षा नहीं कर सकता। सत्याग्रही को कोई कदम उठाने से पूर्व यह विचार कर लेना चाहिए कि जिस अन्याय के विरुद्ध वह सत्याग्रह करना चाहता है वह कितना बड़ा और गम्भीर है तथा उसकी युद्ध की सीमायें क्या हैं।

सत्याग्रहों का तरीका

सत्याग्रही अपने विरोधी को समझाने-बुझाने और उसके साथ वि -विमर्श करने का तरीका काम में लाता है। अतः उसे विरोधी को समझाने के लिए भी हमेशा तैयार रहना चाहिये। उसे इस बात की निरन्तर खोज करते रहना चाहिए कि शान्तिपूर्ण तरीके से समझौता कैसे हो सकता है। उसे सत्याग्रह का मार्ग तभी अपनाना चाहिये जब समझाने-बुझाने के सभी प्रयत्न विफल हो चुके हों। सत्याग्रह शुरू हो जाने के बाद भी किसी-न-किसी समय समझौता करना ही पड़ता है। समझौते की खातिर सत्याग्रही को छोटी-मोटी बातों पर कभी अड़ना नहीं चाहिए और उनको छोड़ देना चाहिए। इससे समझौता आसान हो जाता है। लेकिन उसे किसी भी बुनियादी मुद्दे को अथवा बुनियादी सिद्धान्त को नहीं छोड़ना चाहिए। यदि समझौता-वार्ता असफल हो जाय तो युद्ध आरम्भ किया जा सकता है। दरअसल सत्याग्रही के लिए युद्ध को जारी रखना अथवा युद्ध को स्थगित रखना एक ही बात है, क्योंकि दोनों ही स्थितियों में वह सत्य और न्याय के लिए संघर्षरत रहता है।

असहयोग

असहयोग सत्याग्रह का प्रमुख रूप और प्रमुख अंग है। उसके पीछे मुख्य धारणा यह है कि अन्यायी को अपना अन्याय जारी रखने के लिए दूसरों के सहयोग की आवश्यकता होती है भले ही उसे यह सहयोग बल-प्रयोग द्वारा

हासिल करना पड़े। असहयोग द्वारा सत्याग्रही उसे इस सहयोग से वंचित रखता है और इस हेतु यातनाएँ सहता है। असहयोग के पीछे वास्तविक उद्देश्य यह होना चाहिए कि जैसे ही विरोधी का हृदय परिवर्तित हो जाय वैसे ही उस सत्याग्रही का सहयोग प्राप्त हो जाए, यानी असहयोग का उद्देश्य सहयोग के लिए न्यायानुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करना होता है। पर ध्यान में रखने की बात यह है कि असहयोग पूर्णतः अहिंसात्मक हो क्योंकि असहयोग हिंसात्मक भी हो सकता है। यदि अन्यायी ऐसा है जिसे सत्याग्रही के सहयोग की आवश्यकता न हो तो उस हालत में सत्याग्रह का उद्देश्य आत्म-शुद्धि होना चाहिए। कभी-कभी असहयोग के कारण प्रतिपक्षी को कष्ट या हानि भी उठानी पड़ सकती है लेकिन सत्याग्रही का उद्देश्य उसे कष्ट और हानि पहुँचाना न होकर प्रेम द्वारा उसका हृदय-परिवर्तन करना होना चाहिए। इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि असहयोग के कारण स्वयं सत्याग्रही को ही अधिकतम कष्ट उठाना पड़े। उसे अपने प्रतिपक्षी को यह महसूस कराना चाहिए कि वह उसका मित्र है और मानवीय सेवाओं द्वारा उस उसके हृदय तक पहुँचने की कोशिश करनी चाहिए।

उपवास

उपवास भी सत्याग्रह का ही एक दूसरा रूप है लेकिन इस उपवास में और असहयोग में बुनियादी अन्तर है। यद्यपि उपवास का भी उद्देश्य अन्यायी के हृदय को परिवर्तित करके अन्याय को समाप्त करना होता है तथापि अहिंसात्मक अस्त्र के रूप में उपवास का क्षेत्र उतना व्यापक नहीं है जितना कि असहयोग का। गांधीजी का कहना है कि उपवास साधारणतः स्वजनों के हृदय-परिवर्तन के लिए किया जाना चाहिए, लेकिन विशेष परिस्थितियों में प्रतिपक्षी के अन्यायों के विरोध के लिए भी उपवास किया जा सकता है और गांधीजी ने भी कई अवसरों पर ब्रिटिश सरकार के प्रति अपना विरोध प्रकट करने के लिए भी उपवास किये थे।

यह सोचना गलत है कि सत्याग्रह साधारण मनुष्यों के वश के बाहर की बात है। नैतिक आत्मानुशासन द्वारा कोई भी व्यक्ति सफल सत्याग्रही बन सकता है। सत्याग्रह द्वारा अन्यायों और बुराइयों पर विजय सुनिश्चित होती है। उसमें हार के लिए कोई स्थान नहीं। सत्य और सत्याग्रह की कभी भी पराजय नहीं होती। सत्याग्रह का प्रयोग पारस्परिक मामलों से लेकर बड़े-से बड़े राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों तक पर किया जा सकता है। उसका प्रयोग व्यक्तिगत रूप से भी किया जा सकता है और सामूहिक रूप से भी।

अध्याय ६

आत्मानुशासन

सत्य और अहिंसा के अनुयायी अर्थात् सत्याग्रही के लिए आत्मानुशासन अनिवार्य है। आत्मानुशासन द्वारा उसकी नैतिक मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति बढ़ती है तथा उसके साहस को बल मिलता है। इस साहस के बिना कोई भी व्यक्ति सत्याग्रही नहीं बन सकता क्योंकि अहिंसा का पालन नैतिक और मानसिक दृष्टि से कमजोर व्यक्तियों के लिए सम्भव नहीं। गांधीजी ने डरपोकपन को सबसे बड़ी हिंसा की संज्ञा दी है, क्योंकि डरपोकपन की उत्पत्ति भय से होती है और भय की जड़ असत्य और हिंसा में होती है। चूँकि ईश्वर में आस्था न होने के कारण ही भय की उत्पत्ति होती है, इसलिए भयवान और डरपोक व्यक्ति सत्य और अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। अतः सत्याग्रही के लिए निर्भयता नितान्त आवश्यक है।

आत्मानुशासन व ब्रह्मचर्य

गांधीजी ने सत्याग्रही के आत्मानुशासन के लिए ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर दिया है। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में उनकी धारणा मनुस्मृति पर आधारित कही जा सकती है, जिसमें वैवाहिक जीवन को भी ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत माना गया है। गांधीजी की दृष्टि से ब्रह्मचर्य का अर्थ एक विशेष मानसिक स्थिति से है। यह एक ऐसी मानसिक स्थिति है जिसमें मन वचन और कर्म पर मनुष्य का पूर्ण नियन्त्रण हो। गांधीजी का कहना है कि आदर्श ब्रह्मचर्य में विवाह का कोई स्थान नहीं है, पर वे यह भी मानते थे कि पूर्ण और आदर्श ब्रह्मचर्य मनुष्य के लिए, जो कि अपूर्ण है सम्भव नहीं। फिर भी सत्याग्रही को उस आदर्श तक पहुँचने के लिए सदैव सचेष्ट रहना चाहिए।

विवाह की अनुमति

गांधीजी का कहना है कि मनुष्य में सन्तानोत्पत्ति की इच्छा होना स्वाभाविक है। इस इच्छा की पूर्ति के लिए विवाह किया जा सकता है, पर यौन सम्बन्ध

केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए किया जाना चाहिए शारीरिक आनन्द के लिए नहीं। आदर्श विवाह का उद्देश्य होना चाहिए शारीरिक सम्ब ध द्वारा आध्यात्मिक सम्बन्ध की स्थापना। यदि सत्याग्रही पूर्णतः ब्रह्मचारी है तो उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। वह आत्म-संयम के कारण न्यूनतम शक्ति से ही अधिक तम कार्य सम्पन्न कर सकता है और ऐसे व्यक्ति के लिए ही पूर्णशक्ति से मान वता की सेवा करना सम्भव है। लेकिन जहाँ तक साधारण व्यक्तियों का सम्बन्ध है उनके लिए वैवाहिक ब्रह्मचर्य ही सही रास्ता है। उन्होंने यह सलाह भी दी है कि ब्रह्मचारी को खान-पान पर विशेष ध्यान रखना चाहिए, ऐसी वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिए जो उत्तेजक हों। उसे सादगी से रहना चाहिए और समय-समय पर उपवास करना चाहिए। उन्होंने प्रार्थना की आवश्यकता पर भी जोर दिया है।

अचौर्य

गांधीजी ने सत्याग्रही के आत्मानुशासन के लिए जिस व को अनि वार्य बताया है वह है अचौर्य यानी चोरी न करना। पर अचौर्य की उनकी व्याख्या केवल दूसरों की चीजें चुराने और हड़पने तक ही सीमित नहीं। उनकी दृष्टि में मनुष्य को जिस चीज की आवश्यकता नहीं है, उसे स्वीकार करना और अपने पास रखना भी चौर्य (चोरी) है। इस तरह उन्होंने अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाने भविष्य में आवश्यकता पड़ने वाली वस्तुओं के लिए चिन्ता करने और दूसरों की आँख बचाकर चीजों का उपयोग करने को भी अचौर्य के विपरीत माना है।

अ।रिग्रह

उन्होंने अचौर्य से मिलते ज ते अपरिग्रह को भी सत्याग्रही के लिए आवश्यक बताया है। इसका अर्थ यह है कि सत्याग्रही को अपनी तात्कालिक आवश्यकता से अधिक कुछ भी अपने पास नहीं रखना चाहिए। पूर्ण अपरिग्रह का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने पास न तो मकान रखे न कपड़े-लत्ते और न कल के लिए भोजन। उसे कल की चिन्ता कतई नहीं होनी चाहिए और उसे ईश्वर के भरोसे छोड़ देना चाहिए। चूँकि शरीर भी एक तरह की मिल्कियत ही है, इसलिए उसे भी दूसरों की सेवा के लिए अर्पित कर देना चाहिए। पर जब तक शरीर कायम है तब तक उसकी कुछ-न-कुछ आवश्यकताएँ भी रहेंगी। सत्याग्रही को अपनी इन आवश्यकताओं को निरन्तर कम करके न्यूनतम बनाना चाहिए, क्योंकि उसे अपने शरीर के प्रति मोह नहीं होना चाहिए। उसे भौतिक पदार्थों पर अपनी

निर्भरता को न्यूनतम बना देना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि सत्याग्रही के पास वैयक्तिक सम्पत्ति धन-दौलत और आराम की वस्तुएँ बिलकुल नहीं होनी चाहिएँ।

सत्याग्रही का दृष्टिकोण

सत्याग्रही का दृष्टिकोण यह नहीं होना चाहिए कि वह क्या प्राप्त कर सकता है बल्कि उसे उससे अधिक स्वीकार नहीं करना चाहिए जो साधारण व्यक्तियों के लिए प्राप्त करना सम्भव न हो। इसका अर्थ यह हुआ कि सत्याग्रही को अपना शरीर कायम रखने के लिए उन वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिए जो नितान्त आवश्यक न हों।

गांधीजी धन और सम्पत्ति जुटाने के बिलकुल विरुद्ध थे। वे यह मानते थे कि संसार में जो कुछ है वह ईश्वर का है। मनुष्य एक क्षणभंगुर प्राणी है इसलिए उसके लिए सम्पत्ति जुटाने और भविष्य की चिन्ता करने का विचार भी हास्यास्पद है। वे संग्रह को ईश्वरीय सत्ता के विपरीत आचरण मानते थे। उनका कहना था कि धन और सम्पत्ति जुटाने के लिए मनुष्य को उसकी चिन्ता में इतना लीन होना पड़ता है कि उसे अपनी आत्मा की चिन्ता नहीं रह जाती। अतः सम्पत्ति के कारण मनुष्य का नैतिक पतन होता है।

वैयक्तिक सम्पत्ति

गांधीजी यह मानते थे कि मनुष्य के पास वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए और जिस किसी के पास जो कुछ सम्पत्ति है वह सब समाज की सम्पत्ति हो जानी चाहिए, किन्तु वे इस बात के लिए तैयार नहीं थे कि धनिकों को उनकी सम्पत्ति से वंचित करने के लिए बल प्रयोग किया जाय। उनका यह कहना था कि सत्याग्रही को यह कार्य लोगों को समझा-बुझाकर और वातावरण बदलकर सम्पन्न करना चाहिए।

गांधीजी वैयक्तिक सम्पत्ति के विरुद्ध इसलिए भी थे कि सम्पत्ति का निर्माण सामाजिक श्रम द्वारा होता है। अतः उस पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार न होकर पूरे समाज का अधिकार होना चाहिए। उनका कहना था कि संसार में जिन लोगों ने भी धन और सम्पत्ति एकत्र की है, उन्होंने हिंसा और शोषण द्वारा ही ऐसा किया है क्योंकि हिंसा के बग़ैर धन का संग्रह सम्भव नहीं है। अतः अब प्रश्न यह उठता है कि जो लोग धनवान और सम्पत्तिशाली हैं वे तब तक क्या करें जब तक ऐसा वातावरण नहीं बन जाता कि वैयक्तिक सम्पत्ति

अध्याय ७

सत्याग्रह का नेतृत्व

महात्मा गांधी ने अहिंसात्मक संघर्ष में सत्याग्रही नेता की भूमिका पर विशेष जोर दिया है, क्योंकि उस संघर्ष की सफलता मुख्यतया इस बात पर निर्भर करती है कि नेता द्वारा अपनाया गया मार्ग सही है अथवा नहीं। उन्होंने अहिंसात्मक संघर्ष में रत सत्याग्रहियों की टोली की तुलना सैनिक टुकड़ी से की है। वैसे तो गांधीजी पूर्णतया जनतन्त्रवादी रहे हैं और तानाशाही का उन्होंने बराबर विरोध किया है, फिर भी वह यह मानते थे कि संघर्ष के समय सत्याग्रही नेता को तानाशाही अधिकार प्राप्त होने चाहिए। संघर्ष के समय वैयक्तिक निर्णय के अधिकार पर कुछ प्रतिबन्ध लग जाते हैं और सत्याग्रहियों की टोली का आंतरिक जनतन्त्र सीमित हो जाता है। टोली के प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह किसी को नेता मानना स्वीकार करे या न करे और उसकी योजना को भी चाहे स्वीकार करे अथवा नहीं। लेकिन एक बार किसी को नेता स्वीकार कर लेने पर प्रत्येक सत्याग्रही के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह उसमें विश्वास रखे और उसके निर्णयों पर भरोसा करे तथा उसके निर्देशन के अनुसार काम करे। नेता का प्रत्येक शब्द कानून के सदृश माना जाना चाहिये और सत्याग्रहियों को उसका पालन करना चाहिये। सत्याग्रहियों की टोली का सम्बन्ध उसके नेता के साथ ठीक वैसा ही होता है जैसा कि सैनिक टुकड़ी का सम्बन्ध उसके सेनापति के साथ होता है। जिस तरह सैनिक अपने लिए अलग अलग फैसला नहीं कर सकते ठीक उसी तरह संघर्ष के समय सत्याग्रहियों को भी व्यक्तिगत निर्णय का अधिकार नहीं रह जाता। लेकिन सैनिक टुकड़ी के सेनापति और सत्याग्रहियों की टोली के नेता में एक बहुत बड़ा और बुनियादी अन्तर होता है। सैनिकों पर नेतृत्व ऊपर से थोपा जाता है, लेकिन सत्याग्रही नेतृत्व का स्वेच्छा से स्वीकार करता है। इसी तरह सैनिक और सत्याग्रही में भी बहुत बड़ा अन्तर होता है। सत्याग्रही जब चाहे तब टोली को छोड़कर स्वतन्त्र मार्ग अपना सकता है लेकिन सैनिक जब चाहे तब सेना को छोड़कर नहीं जा सकता।

अनुशासन

गांधीजी यह मानते थे कि सामूहिक कार्यवाहियों के लिए अनुशासन अनिवार्य और यह अनुशासन तभी रह सकता है जब अनुयायी अपने नेता में पूरा विश्वास रखें तथा उसके निर्देशन के अनुसार काम करें। सत्याग्रहियों की टोली को जनतांत्रिक निर्णय का अधिकार इसलिए नहीं दिया जा सकता कि सत्याग्रहियों में कुछ ऐसे लोग हो सकते हैं जिन्होंने कोई अन्य उपाय न दीख पड़ने के कारण अहिंसात्मक संघर्ष का रास्ता स्वीकार किया हो। ऐसे लोग किसी भी समय अहिंसा का परित्याग करके हिंसात्मक तरीके अपना सकते हैं। निर्णय करने का पूरा अधिकार नेता के हाथों में होने से वे लोग समूची टोली को गलत रास्ते पर नहीं ले जा सकते और अहिंसात्मक संघर्ष में विश्वास न रह जाने पर उनके समक्ष केवल यही एक विकल्प बचता है कि वे टोली से अलग हो जायें। अतः कुछ लोगों की कमजोरियों के कारण अहिंसात्मक संघर्ष गलत मार्ग अपनाने से बच जाता है। जहाँ तक सत्याग्रही नेता का सम्बन्ध है, उससे यह उम्मीद नहीं की जाती कि वह किसी भी हालत में अहिंसात्मक मार्ग को छोड़कर हिंसात्मक मार्ग अपनाएगा क्योंकि सत्याग्रही नेता उसीको बनाया जाता है जो अहिंसा के सिद्धान्त में पूरी तरह विश्वास करता हो और जिसने अपने नैतिक बल के कारण अहिंसा का मार्ग चुना हो। सत्याग्रही नेता वही व्यक्ति बन सकता है जिसने अपने जीवन में सत्य प्रेम शुचिता अपरिग्रह और निडरता को अपनाया हो अपने अहं को समाप्त कर दिया हो और आत्मानुशासन द्वारा चरित्र-बल प्राप्त किया हो।

नेता के निर्णय का आधार

अब प्रश्न यह उठता है कि सत्याग्रही नेता को अपने निर्णय किस आधार पर करने चाहियें ? उसे जनमत के समक्ष झुकना चाहिये अथवा नहीं ? उसे तर्क द्वारा निर्णयों पर पहुँचना चाहिये अथवा अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा द्वारा ? यदि उसके अनुयायी उसे गलत मानते हों तो उसे उनकी राय के समक्ष झुकना चाहिये अथवा एकाकी पथ अपनाना चाहिये ?

गांधीजी की दृष्टि में सत्याग्रही नेता अहिंसात्मक उपायों द्वारा सत्य की खोज करने वाला व्यक्ति होता है। जो भी चीज सत्य और अहिंसा से परे हो उसका वह परित्याग करता है। लेकिन कभी-कभी किन्हीं मामलों में यह तय कर पाना कठिन होता है कि क्या सत्य है और क्या असत्य। कभी-कभी यह प्रश्न भी उपस्थित हो जाता है कि अवसर विशेष पर किस कर्तव्य को सर्वोपरि माना जाय ? ऐसी परिस्थितियों में मानसिक द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। गांधीजी ने यह राय

अध्याय ८

सामूहिक सत्याग्रह

सत्याग्रह एक ऐसा अहिंसात्मक अस्त्र है, जिसका उपयोग व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों ही रूपों में किया जा सकता है, लेकिन सत्याग्रह की सफलता सत्याग्रहियों की संख्या पर निर्भर न होकर उनके गुणों पर निर्भर करती है। अन्यायपूर्ण साम्राज्य का मुकाबला करने और उसकी नींवें हिला देने के लिए महज एक सत्याग्रही भी काफी होता है लेकिन वह पूर्ण रूप से सत्याग्रही होना चाहिए। जिस व्यक्ति ने अहिंसा को अपने जीवन में उतार लिया हो वह अपनी इच्छा-शक्ति से किसी भी काम को सम्पन्न कर सकता है। पूर्ण अहिंसा के लिए किसी संगठित शक्ति की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि आत्मा की शक्ति असीम होती है और महज एक व्यक्ति अपनी आत्मा द्वारा विश्व की समस्त आत्माओं को प्रभावित कर सकता है। पर ऐसी स्थिति तक पहुँचना मनुष्य के लिए प्रायः असम्भव होता है जिसमें विचार-शक्ति और इच्छा-शक्ति पर उसका पूर्ण नियन्त्रण हो। अतः इच्छित परिणामों तक पहुँचने के लिए सामूहिक प्रयत्न आवश्यक हो जाता है। इससे एक लाभ यह भी होता है कि जनता अपनी सामूहिक शक्ति को पहचानने लगती है। दूसरे जिस काम को लाखों व्यक्ति मिलकर करते हैं उसमें एक अनोखी ताकत आ जाती है। यही कारण है कि गांधीजी ने जन-आन्दोलनों की आवश्यकता पर जोर दिया है और सामूहिक सत्याग्रह के लिए जनता को संगठित व अनुशासित करने को कहा है।

गांधीजी की दृष्टि में सामूहिक सत्याग्रह में नेता का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। जनता को सत्याग्रह में दीक्षित करने की जिम्मेदारी नेता पर ही होती है। उनका कहना है कि सत्याग्रही नेता की सफलता इस बात से आँकी जानी चाहिए कि उसके नेतृत्व में काम करने वाले सत्याग्रही श्रमसाध्य रचनात्मक कार्यों में भी उतनी दिलचस्पी लेते हैं या नहीं जितनी कि सीधी कार्यवाहियों में। सत्याग्रही नेता को अपनी ईमानदारी और अपने व्यापक प्रेम द्वारा अपने अनुयायियों की श्रद्धा व भक्ति हासिल करनी चाहिए ताकि वे आँख मूँदकर उसकी आज्ञाओं का पालन कर सकें। उसे अपनी ईमानदारी और प्रेम

द्वारा ही विरोधियों को भी निःशस्त्र करना और उन्हें जीतना चाहिए। सत्याग्रही नेता को अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिये और उसमें निःस्वार्थ भावना तथा विनम्रता होनी चाहिए। सत्याग्रही नेता के अन्य गुणों के सम्बन्ध में हम पिछले अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं।

सत्याग्रहियों का प्रशिक्षण

प्राचीन भारत में ऋषि-मुनि आश्रमों में रहते थे और वहीं अपने शिष्यों को शिक्षा-दीक्षा दिया करते थे। गांधीजी ने भी सत्याग्रहियों के प्रशिक्षण के लिए आश्रम को सर्वोत्तम माना है क्योंकि आश्रम में गुरु और शिष्य एक साथ रहते हैं और शिष्यों को अपने गुरु के दैनिक जीवन से भी शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त होता है। सत्याग्रही के लिए आश्रम इस दृष्टि से भी उपयुक्त है कि उसे अपना जीवन साधना में लगाना पड़ता है।

सार्वजनिक संगठन

सामूहिक सत्याग्रह की आवश्यकता स्वीकार कर लेने के बाद यह स्वाभाविक है कि सार्वजनिक संगठनों की आवश्यकता भी स्वीकार की जाती। महात्मा गांधी ने कांग्रेस को ही नेतृत्व प्रदान नहीं किया बल्कि वे कितने ही सार्वजनिक रचनात्मक संगठनों के जन्मदाता भी थे। गांधीजी ने स्वयंसेवकों के संगठन और प्रशिक्षण की आवश्यकता को भी स्वीकार किया है। उन्होंने कांग्रेस को एक पूर्णतः अहिंसात्मक संगठन बनाने की कोशिश की—ऐसा संगठन जो स्वराज्य ही हासिल न कर सके बल्कि जो उसके बाद भी अहिंसात्मक तरीके से ही काम करता रहे। लेकिन वे अपने इस उद्देश्य में पूरी तरह सफल न हो पाए।

बहुमत व अल्पमत का सम्बन्ध

गांधीजी का कहना था कि अहिंसात्मक संगठन की कार्य-पद्धति प्रजातन्त्रीय होनी चाहिए। लेकिन वे इस बात के पक्ष में नहीं थे कि बहुमत अपने निर्णयों को अल्पमत पर थोप सके। उनका कहना था कि गैर-सैद्धान्तिक मसला पर बहुमत का निर्णय सबको मान्य होना चाहिए, लेकिन यदि कोई सैद्धान्तिक मसला हो तो अल्पमत के विचारों का पूरी तरह ध्यान रखा जाना चाहिए। यदि सैद्धान्तिक मसलों पर बहुमत के निर्णयों से अल्पमत वालों को आघात पहुँचता हो तो बेहतर होगा कि बहुमत द्वारा अपना निर्णय थोपा न जाय। अल्पमत को बहुमत के साथ पूरी तरह से सहयोग करना चाहिए और उसके निर्णयों को

मानना चाहिए। लेकिन जब उसे संगठन के बुनियादी सिद्धान्तों में ही यकीन न हो तो उसे संगठन में रहकर रोड़े नहीं अटकाना चाहिए, बल्कि संगठन से अलग हो जाना चाहिए। संगठन में रहकर विरोधी नीति अपनाना तथा रोड़े अटकाना सत्याग्रह के सिद्धान्तों के विपरीत है। संगठन से अलग हो जाने के बाद भी अल्पमत को जहाँ तक सम्भव हो सके, बहुमत के साथ सहयोग करना चाहिए। संगठन में चुनावों के वक्त झूठों द्वारा एक-दूसरे की आलोचनाएँ न की जानी चाहिए और न मत हासिल करने के लिए अनुचित दबाव डालना चाहिए। मत दाताओं को प्रभावित करने के लिए केवल उचित साधन इस्तेमाल किए जाने चाहिए। मतों के बल पर पद हासिल करने की अपेक्षा सेवा द्वारा उसे प्राप्त करना चाहिए। अहिंसात्मक संगठन में सत्तात्मक राजनीति के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। दूसरे संगठन के भीतर भ्रष्टाचार को कदापि सहन नहीं करना चाहिए। कांग्रेस संगठन में जब-जब भ्रष्टाचार बढ़ा और पद हासिल करने के लिए बोगस सदस्यता आदि बुराइयों का सहारा लिया जाने लगा तब-तब महात्मा गांधी ने अपना ध्यान इस भ्रष्टाचार के उन्मूलन पर केन्द्रित किया।

सार्वजनिक संगठन व प्रजातन्त्र

महात्मा गांधी का कहना था कि जिस वक्त सार्वजनिक संगठन कोई सत्याग्रह-आन्दोलन चला रहा हो उस वक्त आन्तरिक प्रजातन्त्र को कायम रखना असम्भव हो जाता है। संघर्ष के समय उसके लिए अधिनायकवाद अपनाना अनेक दृष्टियों से आवश्यक हो जाता है। पहली बात तो यह कि सार्वजनिक संगठन में से ऐसे लोग भी हो सकते हैं जिन्होंने अहिंसा को केवल एक नीति के रूप में स्वीकार किया हो और किसी भी मौके पर उसे छोड़ने के लिए वे तैयार हो सकते हों। लेकिन आन्दोलन का नेतृत्व किसी अधिनायक के हाथ में होने से उसके हिंसात्मक रूप ग्रहण करने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। दूसरे, सरकार द्वारा नेताओं के गिरफ्तार कर लिए जाने पर आन्दोलन जारी रखने का केवल यही एक उपाय शेष रहता है कि समस्त अधिकार स्थानिक अधिनायकों के सुपुर्द करके आन्दोलन का नेतृत्व विकेन्द्रित कर दिया जाय। लेकिन इस अधिनायकवाद में किसी भी प्रकार की जोर-जबरदस्ती की गुंजायश नहीं रहनी चाहिए। अधिनायक को केवल अपना नैतिक प्रभाव इस्तेमाल करना चाहिए और हर किसी को यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वह जब भी चाहे संगठन से अलग हो जाय।

गांधीजी की यह मान्यता थी कि किसी भी संगठन के प्रजातन्त्रीय होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह बहुत बड़ा हो। उसकी सदस्य संख्या बहुत अधिक होने से उसमें भ्रष्टाचार और दिखावा आदि बुराइयाँ पैदा हो सकती हैं। यदि उसमें केवल थोड़े-से ऐसे लोग हों जो उन लोगों की भावनाओं और महत्वाकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हों जिनके प्रतिनिधित्व का दावा संगठन करता है तो वह सच्चे अर्थ में प्रजातन्त्रीय संगठन होगा। अहिंसात्मक संगठन स्वैच्छिक आज्ञाकारिता और नैतिक समर्थन पर निर्भर करता है इसलिए उसके प्रतिनिधित्व के अधिकार का अर्थ होता है समान हितों के लिए कष्ट उठाने और सेवा करने का अधिकार। इसी दृष्टि से उन्होंने १९४८ में यह सुझाव रखा था कि कांग्रेस संगठन भंग कर दिया जाय और वह लोक-सेवक संघ के नाम से एक नये संगठन के रूप में देश की आर्थिक सामाजिक और नैतिक स्वतन्त्रता के लिए काम करे। उनका कहना था कि यह संघ ऐसे सदा-व्रतियों का संगठन होना चाहिए जो अपना जीवन रचनात्मक कार्यों में लगाएँ, लेकिन कांग्रेस को यह सुझाव स्वीकार्य नहीं था और उसने अपने नये संविधान में शांतिपूर्ण और न्यायोचित उपायों से एक समाजवादी सहकारी समाज की स्थापना का उद्देश्य स्वीकार किया। बाद में 'समाजवादी ढंग के समाज' की स्थापना उसका उद्देश्य बना। गांधीजी ने अहिंसात्मक संगठन के लिए रचनात्मक कार्यों को सदैव ही अनिवार्य माना है और उन्हीं की प्रेरणा से कांग्रेस ने राजनैतिक संघर्ष के साथ-साथ रचनात्मक कार्यों को भी अपने हाथ में लिया।

स्वयंसेवक दल

गांधीजी ने सत्याग्रह-आन्दोलन के लिए स्वयंसेवक दल की आवश्यकता को भी स्वीकार किया है। उनके जीवन-काल में ही कांग्रेस ने कौमी सेवा दल संगठित किया और उन्हीं की प्रेरणा से सीमा प्रान्त में खान अब्दुल गफ्फारखाँ ने खुदाई खिदमतगारों का स्वयंसेवक दल संगठित किया। १९३८ में गांधीजी की ही प्रेरणा से साम्प्रदायिक दंगों की रोकथाम के लिए 'शांति स्वयंसेवक दलों' का संगठन किया गया था। उनका जोर बराबर इस बात पर रहा है कि स्वयंसेवक दलों में केवल उच्च चरित्र वाले ऐसे लोग भर्ती किए जाने चाहिए जो अहिंसा का व्रत लेने को तैयार हों। उन्होंने यह राय भी दी थी कि अपना पूरा समय देश-सेवा में लगाने वाले गरीब स्वयंसेवकों को अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी उन्हें यथासम्भव अपने श्रम तथा उन गाँवों पर ही निर्भर करना चाहिए जिनकी वे सेवा करते हों।

निर्भरता यह प्रगट करेगी कि गाँव वालों को उसकी सेवाएँ स्वीकार्य हैं, उन्हें उस पर विश्वास है और वे उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना अपना कर्तव्य समझते हैं। यद्यपि स्वयंसेवकों से यह अपेक्षित होगा कि वे संघर्ष के समय आगे बढ़कर उसमें हिस्सा लें तथापि उनका मुख्य उद्देश्य जनता को सत्याग्रह के लिए प्रशिक्षित करना तथा नये भर्ती होने वाले स्वयंसेवकों को अनुशासित करना होना चाहिए। संघर्ष के समय उन्हें सभाओं, जुलूस और हड़ताल आदि का आयोजन करना चाहिए लेकिन शांति-काल में अपना सारा समय रचनात्मक कार्यों में लगाना चाहिए।

स्वयंसेवकों के कार्य व कर्तव्य

ग्राम-सेवक को खादी का प्रचार और देश के पुनर्निर्माण को अपना कर्तव्य मानना चाहिए। उसे अपनी सेवाओं द्वारा गाँव के गरीब-से-गरीब व्यक्तियों के साथ भी सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। उसे गाँव की सफाई, बीमारों के उपचार और बच्चों को पढ़ाने का काम करने के साथ-साथ ग्रामीणों के आपसी झगड़ों के निपटारे के लिए मध्यस्थता का काम भी करना चाहिए। उसे नियमित रूप से कताई करनी चाहिये और उसका घर रचनात्मक कार्यक्रम का केन्द्र होना चाहिए। स्वयंसेवक दलों में अनुशासन का उद्देश्य सत्याग्रहियों में नैतिक बल का विकास करना होना चाहिए। अनुशासन इस प्रकार का होना चाहिए, जिससे सत्याग्रही सैनिक सम्पूर्ण मानवता के साथ नैतिक और आध्यात्मिक सम्बन्ध जोड़ सकें। यह अनुशासन इस प्रकार का होना चाहिए जिससे सत्याग्रही में सेवा और त्याग की भावना विकसित हो और उसमें इतना साहस उत्पन्न हो सके कि वह कभी भी बदले की भावना को अपने हृदय में स्थान न दे चाहे ही उसे अपने प्राण न्योछावर क्यों न करने पड़ें। उनकी मान्यता थी कि सत्याग्रही स्वयंसेवकों में इस तरह का अनुशासन रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा ही आ सकता है।

गांधीजी के अनुसार सत्याग्रही स्वयंसेवकों के लिए निम्नलिखित शर्तें अनिवार्य होनी चाहिए—

१ उसका ईश्वर में दृढ़ विश्वास हो।

२ सत्य और अहिंसा में उसकी दृढ़ आस्था हो। वह मानव-प्रकृति की अच्छाइयों में विश्वास करता हो और सत्य, प्रेम तथा आत्म-पीड़न द्वारा वह अपनी इन अच्छाइयों को विकसित करने का सतत प्रयत्न करता रहे।

३ उसका जीवन पवित्र होना चाहिए और उसे अपने सत्य की प्राप्ति के लिए अपने प्राण तथा सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तत्पर रहना चाहिये।

४ उसे सदैव खादी पहनना चाहिए और सूत कातना चाहिए।

५ उसे मांस और मदिरा का सेवन तथा धूम्रपान नहीं करना चाहिए, और न किसी अन्य मादक द्रव्य का सेवन करना चाहिए।

६ उसे अनुशासन-सम्बन्धी सभी नियमों का पालन करना चाहिए।

७ गिरफ्तार हो जाने पर उसे जेल के नियमों का पालन करना चाहिए, बशर्ते कि वे उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाने के लिए न बनाये गये हों।

अध्याय ६

सत्याग्रह का प्रचार

महात्मा गांधी ने सत्याग्रहियों तथा अहिंसात्मक संगठनों द्वारा सत्याग्रह के सन्देश को जन-साधारण तक पहुँचाये जाने की आवश्यकता को माना है। लेकिन प्रचार के सम्बन्ध में उनकी धारणा पाश्चात्य धारणाओं से बिलकुल भिन्न है। पाश्चात्य धारणा के अनुसार प्रचार का उद्देश्य जनमत को नियंत्रित करना होता है और उसके लिये हर तरह के उपाय काम में लिए जाते हैं। इस धारणा वाले लोग यह चिन्ता नहीं करते कि प्रचार के लिए केवल सत्य का ही सहारा लिया जाय। अक्सर धोखाधड़ी की जाती है और लोगों को गलत जानकारी देकर प्रभावित करने की कोशिश की जाती है। पर गांधीजी इस तरह के प्रचार के सर्वथा विरुद्ध थे। वे यह मानते थे कि प्रचार का उद्देश्य जनमत को नियंत्रित करना तथा उस पर हावी होना नहीं होना चाहिए, बल्कि उसका उद्देश्य होना चाहिये लोगों तक सत्य को पहुँचाना और अहिंसात्मक तरीकों से जनमत को प्रशिक्षित करना।

सत्य की अभिव्यक्ति

महात्मा गांधी की यह दृढ़ मान्यता थी कि सत्य अपनी अभिव्यक्ति स्वतः करता है अगर हममें सत्य है तो वह दूसरों तक अवश्य ही पहुँच सकेगा और लोग उसे देख सकेंगे। जीवन में सत्य की अभिव्यक्ति होने से समूचा वातावरण प्रभावित होने लगता है। इस प्रकार सत्याग्रह अथवा आत्मा की शक्ति प्रचार के भौतिक माध्यमों से परे है और वह अपना प्रचार स्वयं ही कर लेती है। आत्मा की शक्ति अपनी अभिव्यक्ति द्वारा आस-पास के लोगों तथा सम्पूर्ण मानवता को प्रभावित करती है। अतः सत्य और अहिंसा के सन्देशवाहक सत्याग्रही का सुख का जीवन होता है। वह जीवन के अहिंसात्मक मूल्यों को ग्रहण करता है और सत्य तथा अहिंसा को अपने जीवन में उतारता है। अतः उसका जीवन स्वयं में एक प्रचार होता है। चूँकि सत्याग्रही अपना जीवन लोगों की सेवा में लगाता है, उसके लिए त्याग करता है और कष्ट सहता है अतः इस सबका

लोगों पर जो असर पड़ता है वह प्रचार के अन्य सभी माध्यमों द्वारा डाले गये असर की अपेक्षा ज्यादा महत्व और स्थायी होता है।

प्रचार का तरीका

गांधीजी ने बराबर इस बात पर जोर दिया है कि सत्याग्रही को अपने विचारों को नियन्त्रित रखना चाहिए ताकि वह कम-से-कम शक्ति लगाकर अधिक-से-अधिक काम कर सके। उन्होंने यह राय भी दी है कि सत्याग्रही को खामोशी के साथ काम अधिक करना चाहिए और बोलना व लिखना कम चाहिए। फिर भी उन्होंने यह स्वीकार किया है कि लोगों तक अपने सन्देश पहुँचाने के लिए सत्याग्रही को प्रचार के भौतिक साधन इस्तेमाल करने की भी आवश्यकता पड़ सकती है। उन्होंने स्वयं भी सत्य और अहिंसा के सन्देश को लोगों तक पहुँचाने के लिए पुस्तकों समाचार-पत्रों मंच और पद-यात्राओं आदि का सहारा लिया था। लेकिन वे केवल उतना ही लिखते व बोलते थे जितना कि अपनी बात को समझाने तथा आलोचकों को उत्तर देने के लिए आवश्यक हो। उन्होंने अपने अनुयायियों को भी यही राय दी है कि व केवल तभी लिखें जब लिखे बगैर काम न चल सके पर इस लिखाई के कारण उनके काम में रुकावट नहीं आनी चाहिए। समाचार-पत्रों का सहारा भी केवल सत्य के प्रचार के लिए लिया जाना चाहिए और इस बात की पूरी सावधानी रखनी चाहिये कि उसमें असत्य का प्रवेश न होने पाये। प्रदर्शन करने और नारे लगाने में भी कोई बुराई नहीं है पर उसमें असहिष्णुता क्रोध व प्रतिहिंसा की भावना नहीं होनी चाहिए और जरूरत से ज्यादा जोश भी नहीं दिखाना चाहिए। सत्याग्रही के भाषण भी अत्यन्त संयत होने चाहिए और सभाएँ पूर्णतः अनुशासित होनी चाहिए। सत्याग्रही को अपने प्रतिपक्षी की निन्दा नहीं करनी चाहिए बल्कि उसके मत के प्रति सम्मान की भावना रखनी चाहिये। उसके भाषण का उद्देश्य श्रोताओं की करतल ध्वनि हासिल करना नहीं बल्कि उन्हें अपना दृष्टिकोण समझाना होना चाहिए। उसे इस बात का पूरी तरह ध्यान रखना चाहिये कि उसके भाषण में अतिशयोक्तियाँ न आने पायें और उसके भाषण और श्रोताओं में क्रोध घृणा और प्रतिहिंसा की भावनाएँ उत्पन्न न हो सकें। भाषण प्रभावकारी अवश्य होना चाहिए, लेकिन उसमें बनावटीपन नहीं होना चाहिए।

पत्रकारिता

गांधीजी का कहना है कि पत्रकारिता का एकमात्र उद्देश्य सेवा करना होना चाहिए। समाचार-पत्रों को जन भावना को समझना तथा उसकी अभिव्यक्ति करनी चाहिये और उन्हें जनता में वांछनीय भावनाएं उत्पन्न करनी चाहिए, तथा सार्वजनिक बुराइयों को निर्भयतापूर्वक प्रकाश में लाना चाहिए। राज्य की बुराइयों का जिक्र करना और अहिंसक रूप से पत्रकारिता को स्वयं उसकी खातिर ग्रहण नहीं किया था बल्कि अपने जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक सहायक के रूप में। उन्होंने सर्वदा इस बात का ध्यान रखा कि उनकी लेखनी में [illegible] की भावना न आने पाए। वे न तो कभी अकारण लिखते और न महज लोगों की भावनाएं उभारने के लिए। उन्होंने अपने विषयों और शब्दों के चुनाव में सदैव ही अत्यन्त सतर्कता बरती। उन्हें यह बात पसन्द न थी कि समाचार-पत्रों ने साधारण व्यक्तियों के लिए शास्त्रों से भी अधिक महत्व ग्रहण कर लिया है। ऐसे लोगों को उन्होंने यह राय दी है कि वे समाचार-पत्र पढ़ना ही छोड़ दें क्योंकि इससे उन्हें कोई हानि नहीं होगी। उनका कहना है कि मस्तिष्क द्वारा धारणा को अच्छी खुराक शास्त्रों तथा अन्य अच्छे साहित्य से ही मिल सकती है। उन्होंने प्रेस की सत्ता को स्वीकार किया है और दुरुपयोग को अपराध की संज्ञा दी है। वे इस बात के भी विरुद्ध थे कि पत्रों को व्यापारिक आधार पर चलाया जाय और पूंजीपतियों तथा विज्ञापनदाताओं का उन पर नियंत्रण रहे।

मौखिक प्रचार

भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के दौरान ऐसे अनेक अवसर आये जब कि प्रेस की स्वतन्त्रता पर सरकार द्वारा तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाये गए और उनके समक्ष केवल दो ही विकल्प रह गए—पहला यह कि वे अपना प्रकाशन ही बन्द कर दें और दूसरा यह कि वे सरकारी आज्ञाओं की अवहेलना करके उसके परिणामों को भुगतने के लिए तैयार हों। सरकार द्वारा कितने ही पत्रों को प्रकाशन बन्द करने के लिए विवश भी किया गया और कई अवसरों पर पत्रों ने सरकार द्वारा लगाये गए प्रतिबन्धों के विरोध-स्वरूप स्वतः प्रकाशन स्थगित कर दिया। गांधीजी ने ऐसे अवसरों पर छोटे-छोटे हस्तलिखित समाचार-पत्र निकालने की सलाह दी। ये पत्र रजिस्टर्ड नहीं होते थे और जिस भी व्यक्ति को उसकी प्रति मिलती थी उससे यह आशा की जाती थी कि वह उसकी कई प्रतियां बनाकर दूसरे लोगों तक पहुंचायेगा ताकि अधिकाधिक लोगों तक सत्याग्रह का

संदेश पहुँच सके। १९४०-४१ में जब यह सम्भावना उत्पन्न हो गयी थी कि सरकार समूचे राष्ट्रीय प्रेसों का दमन करेगी तो गांधीजी ने यह सलाह दी कि सत्याग्रह के संदेश को लोग एक-दूसरे तक मौखिक रूप से पहुँचायें। इस प्रकार सत्याग्रह-सम्बन्धी समाचार बिना किसी व्यय के काफी बड़ी संख्या में लोगों तक पहुँचाये जा सकते हैं।

प्रचार का सर्वोत्तम माध्यम

लेकिन गांधीजी की दृष्टि में सत्याग्रह के प्रचार का सर्वोत्तम माध्यम था रचनात्मक कार्यक्रम। उनका कहना था कि सत्याग्रही के प्रचार की शक्ति उसकी प्रतीक की सार्वभौमिकता है। उसका उद्देश्य उच्चतम नैतिकता होना चाहिए। सत्याग्रही प्रचारक को अपनी सेवाओं तथा त्याग को ही प्रचार का मुख्य माध्यम मानना चाहिए और इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि यह प्रचार अन्य सभी माध्यमों से किये गए प्रचार की अपेक्षा ज्यादा प्रभावकारी होता है।

अध्याय १०

सामूहिक सत्याग्रह की टेकनीक

गांधीजी ने सामूहिक सत्याग्रह की टेकनीक अथवा उसके व्यावहारिक पक्ष पर भी बहुत-कुछ लिखा है क्योंकि बड़े पैमाने पर सामूहिक सत्याग्रह इस दृष्टि से खतरनाक होता है कि उसमें हिंसा के प्रवेश कर जाने की सम्भावना बनी रहती है। सामूहिक सत्याग्रह की सफलता मुख्यतया इसी बात पर निर्भर करती है कि वह पूर्णतया अहिंसात्मक हो भले ही उसमें ऐसे लोग भी शामिल हों जो अहिंसा में पूरी तरह यकीन नहीं करते। सामूहिक सत्याग्रह में हिंसा की सम्भावना इसलिए और भी अधिक रहती है क्योंकि जब सत्याग्रह का दमन करने के लिए अन्याय और जुल्म का सहारा लिया जाता है तो जन-साधारण में रोष पैदा हो जाता है और उससे वे हिंसा की ओर प्रेरित हो सकते हैं। अतः सत्याग्रही पर यह दायित्व भी होता है कि जितने समय तक सत्याग्रह आन्दोलन चलता रहे उतने समय तक दूसरे लोग भी हिंसा की ओर उन्मुख न हो पाएँ।

विरोधी के प्रति व्यवहार

जैसा कि हम पूर्व अध्यायों में कह चुके हैं सत्याग्रही को अपने विरोधी की कठिनाइयों से लाभ उठाने अथवा उसकी कठिनाइयों को बढ़ाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। उसे ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए जिससे विरोधी पक्ष में कटुता और पाशविकता आय। इसकी वजह यह है कि जब विरोधी यह देखता है कि सत्याग्रह का उद्देश्य उसकी कठिनाई या संकट में हो तो उस समय सत्याग्रह शुरू ही न किया जाय। इसी तरह इन सिद्धान्तों का अर्थ यह भी नहीं है कि यदि विरोधी क्रूरता और भयंकर दमन पर उतर आये तो इस भय से सत्याग्रह बन्द कर दिया जाय कि उससे विरोधी क्रूरता बढ़ेगी। इन सिद्धान्तों से तात्पर्य केवल यह है कि सत्याग्रही को केवल वही करना चाहिए जो उसके नैतिक कर्तव्य की दृष्टि से आवश्यक हो और उसे ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए जिसका उद्देश्य विरोधी की कठिनाइयों को बढ़ाना अथवा उसे झुकने के लिये विवश करना हो। सत्याग्रही का उद्देश्य आत्म-पीड़न द्वारा विरोधी पर

व प्राप्त करना होता है लेकिन यह आत्मपीड़न उस हद तक न पहुँचाया ना चाहिए कि सत्याग्रही का अस्तित्व ही न रह जाय।

बाह्य व आन्तरिक स्थिति

सत्याग्रही को बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा आन्तरिक स्थिति का ज्यादा ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि सत्याग्रह की सफलता के लिए अनुशासन अनिवार्य होता है। दूसरे सामूहिक सत्याग्रह के लिए यह भी आवश्यक है कि सत्याग्रही रचनात्मक कार्यों द्वारा जन-साधारण पर इतना नियन्त्रण कायम कर लें कि जन साधारण के हिंसात्मक तत्त्व भी सत्याग्रह के दौरान में हिंसात्मक कार्यवाहियाँ न करें। सामूहिक सत्याग्रह शुरू करने से पूर्व भी स्थिति का पता कर लेना आवश्यक होता है जिससे हिंसात्मक घटनाओं की सम्भावना न रहे। दूसरे सत्याग्रहियों की टोली छोटी होनी चाहिए जो नेता का आदेश मिलने पर सत्याग्रह स्थगित कर दे और इस स्थगन के फलस्वरूप उसमें निराशा या कमजोरी की भावना न आने पाये। यदि सत्याग्रह स्थगित करने का आदेश प्राप्त हो तो भी उसका पालन करना चाहिए और इस भय को अपने हृदय में स्थान देना चाहिए कि उसे समाज में कमजोर मानेगा। पर एक अवसर भी आ सकता है जब कि हिंसापूर्ण वातावरण में सामूहिक सत्याग्रह शुरू करना अनिवार्य हो जाय। तभी स्थिति में एक प्रतिरूप अपनाना चाहिए जिसमें सत्याग्रह अहिंसात्मक रहे और हिंसात्मक तत्त्व उसमें प्रविष्ट न हो पाएँ। सत्याग्रह के लिए स्थान और समय का चुनाव नेता द्वारा किया जाना चाहिए और उसका निर्णय समस्त सत्याग्रहियों को मान्य होना चाहिए।

सत्याग्रह के लिए मुद्दे

सामूहिक सत्याग्रह के लिए आवश्यक है कि वह पूरे समुदाय की किसी खास बड़ी शिकायत या तकलीफ को दूर कराने के लिए किया जाय। यह शिकायत बोधगम्य और सुस्पष्ट होनी चाहिए और बहुत से मुद्दों को एक दूसरे के साथ मिलाना नहीं चाहिए। सत्याग्रह केवल मानसिक लड़ाई के लिए किया जा सकता है, किसी लौकिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नहीं। सत्याग्रहियों को न्यूनतम माँगें प्रस्तुत करनी चाहिए और आवश्यकता पड़ जाने पर भी जब तक कि कोई अपरिहार्य कारण न हो, अपनी माँगों को बढ़ाना नहीं चाहिए। सत्याग्रह जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रारम्भ किया जाय उस उद्देश्य तक सीमित रहना चाहिए।

मजदूर गैर-हड़ताली मजदूरों को किसी भी तरह से परेशान न करें, हड़ताल के दौरान में अपनी यूनियन के कोष अथवा चन्दे पर निर्भर न करके स्वयं अपने ऊपर निर्भर करें, अपना समय अस्थायी उत्पादक कार्यों में लगाएँ, हड़ताल की अवधि चाहे कितनी लम्बी हो उनकी दृढ़ता में कमी न आने पाए, हड़तालियों में मतैक्य हो और हड़ताल तभी की जाय जब समझौते की वार्ताएँ असफल हो चुकी हों। उनका कहना है कि मजदूरों को अपनी यूनियन की स्वीकृति के बगैर हड़ताल नहीं करनी चाहिए। यदि उनके स्थान पर काम करने के लिए दूसरे बहुत से मजदूर उपलब्ध हों तो उस हालत में उन्हें वेतन आदि के प्रश्नों पर हड़ताल न करके नौकरी से इस्तीफा दे देना चाहिए। मजदूरों की हड़तालें केवल उन्हीं तक सीमित रहनी चाहिए और दूसरे लोगों अथवा अन्य मजदूरों को सहानुभूति में हड़ताल न करके नौकरी से इस्तीफा दे देना चाहिए। लेकिन यदि कारखानों के मालिक मिल जायें और वे उस पूँजीपति की मदद करें जिसके कारखाने के मजदूरों ने हड़ताल कर रखी हो तो दूसरे कारखानों के मजदूर भी हड़ताल कर सकते हैं। गांधीजी का कहना है कि मजदूरों की हड़तालें अपनी स्थिति को सुधारने के लिए की जानी चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि हड़तालें जल्दी-जल्दी न की जायें ताकि मजदूरों के संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए समय मिलता रहे। हड़तालों की सफलता के लिए मजदूरों की सुदृढ़ यूनियनें नितान्त आवश्यक हैं, लेकिन उनका संगठन अहिंसात्मक आधार पर होना चाहिए। यदि मजदूरों में देश भक्ति की भावना पर्याप्त रूप से मौजूद हो तो उस हालत में वे मुनाफाखोरी की रोकथाम और मूल्यों के नियमन आदि के लिए भी हड़ताल कर सकते हैं। लेकिन उन्हें राजनैतिक हड़तालें तब तक नहीं करनी चाहिए जब तक कि वे अपने देश की राजनैतिक स्थिति को भली प्रकार समझते न हों और देश-सेवा में अपना समय लगाने को तैयार न हों। जाहिर है कि वे इस योग्य तभी हो सकते हैं जब उन्होंने अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने में सफलता हासिल कर ली हो और उन्हें अहिंसात्मक उपायों द्वारा न्यायोचित शिकायतों को दूर कराने का यथेष्ट अनुभव प्राप्त हो गया हो। यदि मजदूर राजनैतिक मामलों को समझते न हों तो उनसे राजनैतिक हड़तालें कराना उनका शोषण करने के समान है और इस तरह के प्रयासों को गांधीजी ने हिंसात्मक माना है।

अध्याय ११

अहिंसात्मक राज्य

महात्मा गांधी की दृष्टि में राज्य स्वयं में कोई साध्य न होकर एक साधन मात्र है और उसका उद्देश्य होना चाहिए सब लोगों की अधिकाधिक भलाई करना। यदि राज्य अथवा राजनैतिक सत्ता का दुरुपयोग किया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति को इस योग्य बनना चाहिए कि वह उन बुराइयों का विरोध कर सके। वास्तव में लोगों को इस योग्य बनना चाहिए कि वे सरकार की सहायता अथवा हस्तक्षेप के बिना अपनी समस्त समस्याओं को हल कर सकें। लोगों को किसी भी रूप में राज्य अथवा सरकार के आश्रित नहीं होना चाहिए और राज्य को भी लोगों के जीवन में न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिए।

अहिंसात्मक समाज की परिकल्पना

महात्मा गांधी ने आदर्श समाज के रूप में एक पूर्णतः अहिंसात्मक समाज की परिकल्पना की है। इस तरह का समाज जो कि प्रजातंत्रीय होगा अहिंसा को केवल एक नीति न मानकर उसे अपना धर्म अथवा विश्वास मानने से ही सम्भव है। आदर्श अहिंसात्मक समाज में राज्य के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। वह एक राज्यहीन प्रजातन्त्र होगा जिसका नियमन अपने-आप हुआ करेगा। उसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपना शासक होगा और वह इस रूप में शासन करेगा कि उसका कोई भी काम दूसरों के लिए बाधा या रुकावट न बन सके। यह आदर्श समाज स्वशासित और स्वावलम्बी ग्रामों का स्वैच्छिक संघ होगा जो एक-दूसरे के साथ सहयोगपूर्वक रहेंगे और इस समाज का प्रत्येक व्यक्ति अहिंसाव्रती होगा। संघ की इकाइयों पर नियंत्रण केवल नैतिक होगा और सभी लोग श्रम द्वारा जीवनयापन करेंगे तथा पूरे समाज के हित के लिए कार्य करेंगे।

मनुष्य की अपूर्णता के कारण पूर्णतः अहिंसात्मक समाज सम्भव नहीं है। ऐसा समाज तो तभी सम्भव हो सकता है जब प्रत्येक मनुष्य पूर्ण रूप से अहिंसात्मक बन जाय लेकिन सभी मनुष्यों के लिए इस स्तर पर पहुँचना सम्भव नहीं

है। वास्तव में आदर्श समाज मनुष्य के लिए सदैव ही एक आदर्श रहेगा लेकिन उसे उस दिशा में निरन्तर आगे बढ़ते रहने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

अहिंसात्मक समाज का ढाँचा

गांधीजी ने आदर्श अहिंसात्मक समाज की पूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की है। सत्याग्रह का यह सिद्धान्त है कि सत्याग्रही को निकट सबसे कदम की चिन्ता करनी चाहिए। मनुष्य सत्याग्रह के सिद्धान्तों को जिस हद तक अपना सकेगा समाज का ढाँचा भी उसी के अनुरूप होगा। जो समाज अहिंसात्मक सिद्धान्तों के आधार पर बनाया जायगा उसका ढाँचा वर्तमान सामाजिक ढाँचों से बिलकुल भिन्न होगा। यह ढाँचा कैसा होगा यह इस बात पर निर्भर करेगा कि लोगों का नैतिक स्तर क्या है और उन्होंने जीवन के किन मूल्यों को ग्रहण किया है। जब लोग शोषकों के साथ असहयोग करना सीख जायेंगे उनका अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण होगा और वे एक-दूसरे के साथ स्वैच्छिक सहयोग करने लगेंगे तब अहिंसात्मक राज्य की उत्पत्ति स्वतः हो जायगी। अतः गांधीजी ने अपनी कल्पना के भावी अहिंसात्मक समाज का विस्तृत विवरण प्रस्तुत न करके उसके केवल मोटे-मोटे सिद्धान्तों पर ही प्रकाश डाला है।

राज्य तथा मानव-स्वतन्त्रता

गांधीजी राज्य के अस्तित्व के ही विरुद्ध थे क्योंकि राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता को खत्म अथवा सीमित कर देता है। उनका कहना है कि प्रत्येक राज्य चाहे वह कितना ही प्रजातन्त्रीय क्यों न हो हिंसात्मक होता है। उन्होंने राज्य को केन्द्रीभूत और संगठित हिंसा की संज्ञा दी है। मनुष्य में आत्मा होती है इसलिए उसे तो हिंसा से मुक्त किया जा सकता है, लेकिन चूँकि राज्य एक आत्महीन मशीन होती है इसलिए उसे हिंसा से मुक्त कर सकने का प्रश्न ही नहीं उठता। चूँकि राज्य मनुष्य के व्यक्तित्व को नष्ट करता है और वह मानव-जाति की प्रगति की जड़ों पर कुठाराघात करता है, इसलिए उससे मानव-जाति की सबसे बड़ी हानि होती है। उसके अन्तर्गत मनुष्य को मशीन की तरह काम करना पड़ता है और उसके कार्य स्वैच्छिक न होने के कारण नैतिक नहीं रह पाते। किसी भी कार्य के नैतिक होने के लिए यह जरूरी है कि वह स्वैच्छिक हो।

अहिंसात्मक समाज और उद्योग-धन्धे

गांधीजी ने जिस आदर्श समाज की परिकल्पना की है उसमें न तो बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए कोई स्थान होगा और न भारी यातायात न्यायालय और बड़े-बड़े शहरों आदि के लिये। उनका कहना है कि भारी यातायात की आवश्यकता सैनिक कारणों तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पड़ती है। लेकिन अहिंसात्मक समाज में न तो सेना की आवश्यकता रहेगी और न अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की। उसकी सभी इकाइयाँ स्वावलम्बी होंगी और उसमें मनुष्य उन सभी बीमारियों से मुक्त हो जायगा जो वर्तमान आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होती हैं। चूंकि उस समाज में शोषण और वैयक्तिक सम्पत्ति के लिए भी कोई स्थान नहीं होगा इसलिए न्यायालयों और वकीलों आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। उस समाज में सब लोग अपने-अपने लाभ की अपेक्षा समाज-सेवा की भावना से काम करेंगे इसलिए डॉक्टरी का पेशा व्यवसाय नहीं रह जायगा। वह समाज एक परिवार-जैसा होगा जिसमें व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध परस्पर-निर्भरता पर आधारित होंगे। उसमें न तो ऐसी व्यक्तिवादिता के लिए गुंजाइश न रहेगी जो सामाजिक उत्तरदायित्व की अवहेलना कर सके और न व्यक्तिवादिता का पूर्णतः दमन करके मनुष्य को सामाजिक मशीन का पुरजा बनाया जायगा।

अहिंसक समाज की बुनियाद

गांधीजी ने अहिंसात्मक समाज के सम्बन्ध में लिखा है कि उसकी रचना कारखानों की सभ्यता की बुनियाद पर नहीं हो सकती बल्कि केवल स्वावलम्बी गाँवों की बुनियाद पर उसकी रचना हो सकती है। उन्होंने लिखा है कि मेरी कल्पना की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था शोषण का पूरा बहिष्कार करती है और शोषण ही तो हिंसा का सार तत्व है। इसलिए आपको अहिंसक बनने के लिए पहले ग्राम दृष्टि का विकास करना होगा अपना मानस ऐसा बनाना पड़ेगा जो हर सवाल पर गाँवों के हित की दृष्टि से विचार करे और ऐसी दृष्टि का विकास करने के लिए आपको चरखे में श्रद्धा पैदा करनी होगी।

उनका कहना है कि जैसे सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो थोड़ी-बहुत हिंसा के बिना कोई भी काम या उद्योग-धन्धा सम्भव नहीं है। कुछ-न-कुछ हिंसा किए बिना जीना भी सम्भव नहीं है। मनुष्य को केवल यही सोचना है कि इस हिंसा की मात्रा को घटाकर न्यूनतम कैसे किया जाय। अहिंसा शब्द भी नकारात्मक

है यानी वह जीवन में अनिवार्य हिंसा को छोड़ने के प्रयत्न का सूचक है। इस लिए जिसकी अहिंसा में श्रद्धा है, वह ऐसे ही उद्योग-धन्धे में लगेगा जिसमें कम से-कम हिंसा होगी।

, यह काम अहिंसा पर हार्दिक श्रद्धा रखे बिना नहीं हो सकता। जो आदमी प्रत्यक्ष हिंसा बिल्कुल नहीं करता और मेहनत करके खाता है, लेकिन पराया-धन या दूसरों की खुशहाली देखकर ईर्ष्या से जल उठता है वह अहिंसक हरगिज नहीं माना जा सकता। अहिंसक धन्धा वही है जो जड़ से हिंसारहित हो और जिसमें दूसरे के प्रति ईर्ष्या या दूसरे के शोषण के लिए स्थान न हो।

पंचायत राज

गांधीजी की परिकल्पना का भावी समाज एक पंचायत राज होगा और ऐसे समाज में ही सच्ची आजादी सम्भव है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि—

आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए। हरेक गाँव में जमहूरी सल्तनत या पंचायत का राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी। जिसका मतलब यह है कि हरेक गाँव को अपने पाँव पर खड़ा होना होगा अपनी जरूरतें खुद पूरी करनी होंगी ताकि वह अपना सारा कारोबार खुद चला सके। उसे तालीम देकर इस हद तक तैयार करना होगा कि वह बाहरी हमले के मुकाबले में अपनी रक्षा करते हुए मर-मिटने के लायक बन जाय। इस तरह उसकी बुनियाद व्यक्ति पर होगी। इसका यह मतलब नहीं कि पड़ोसियों पर या दुनिया पर भरोसा न रखा जाय या उनकी राजी-खुशी से दी हुई मदद न ली जाय। खयाल यह है कि सब आजाद होंगे और सब एक-दूसरे पर अपना असर डाल सकेंगे। जिस समाज का हरेक आदमी यह जानता है कि उसे क्या चाहिए और इससे भी बढ़कर जिसमें यह माना जाता है कि बराबरी की मेहनत करके भी दूसरों को जो चीज नहीं मिलती है वह खुद भी किसी को नहीं लेनी चाहिए, वह समाज जरूर ही बहुत ऊँचे दरजे की सभ्यता वाला होना चाहिए।

ऐसे समाज की रचना स्वभावतः सत्य और अहिंसा पर ही हो सकती है। मेरी राय है कि जब तक ईश्वर में जीता-जागता विश्वास न हो सत्य और अहिंसा पर चलना नामुमकिन है। ईश्वर या खुदा वह जिन्दा ताकत है जिसमें दुनिया की तमाम ताकतें किसी का सहारा नहीं लेती और दुनिया की दूसरी सब ताकतों के खतम हो जाने पर भी कायम रहती है। इस जीती-जागती रोशनी पर, जिसने अपने दामन में सब-कुछ लपेट रखा है मैं विश्वास न रखूँ तो मैं समझ न सकूँगा कि मैं आज किस तरह से जिन्दा हूँ।

"ऐसा समाज अनगिनत गाँवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढंग पर नहीं, बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक की शक्ल में होगा। ज़िन्दगी मीनार की शक्ल में नहीं होगी, जहाँ ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा होना पड़ता है। वहाँ तो समुद्र की लहरों की तरह ज़िन्दगी एक के बाद एक घेरे की शक्ल में होगी और व्यक्ति उसका मध्य-बिन्दु होगा। यह व्यक्ति हमेशा अपने गाँव की खातिर मर-मिटने को तैयार होगा। गाँव अपने इर्द-गिर्द के गाँवों के लिए मिटने को तैयार होगा। इस तरह आखिर में सारा समाज ऐसे लोगों का बन जायगा, जो उद्धत बनकर कभी किसी पर हमला नहीं करते, बल्कि हमेशा नम्र रहते हैं और अपने में समुद्र की उस शान को महसूस करते हैं, जिसके वे एक जरूरी अंग हैं।

"इसलिए सबसे बाहर का घेरा या दायरा अपनी ताकत का इस्तेमाल भीतर वालों को कुचलने में नहीं करेगा, बल्कि उन सबको ताकत देगा और उनसे ताकत पायगा। मुझे ताना दिया जा सकता है कि यह सब तो ख्याली तस्वीर है, इसके बारे में सोचकर वक्त क्यों बिगाड़ा जाय? युक्लिड की परिभाषा वाला बिन्दु कोई इन्सान खींच नहीं सकता, फिर भी उसकी कीमत हमेशा रही है और रहेगी। इसी तरह मेरी इस तस्वीर की भी कीमत है। इसके लिए इन्सान जिन्दा रह सकता है। अगरचे इस तस्वीर को पूरी तरह बनाना या पाना मुमकिन नहीं है, तो भी इस सही तस्वीर को पाना या इस तक पहुँचना हिन्दुस्तान की जिन्दगी का मकसद होना चाहिए। जिस चीज को हम चाहते हैं, उसकी सही-सही तस्वीर हमारे सामने होनी चाहिए। तभी हम उससे मिलती जुलती कोई चीज पाने की उम्मीद रख सकते हैं। अगर हिन्दुस्तान के हरेक गाँव में कभी पंचायत राज कायम हुआ, तो मैं अपनी इस तस्वीर की सचाई साबित कर सकूँगा, जिसमें सबसे पहला और सबसे आखिरी दोनों बराबर होंगे या यों कहिए कि न कोई पहला होगा, न आखिरी।

"इस तस्वीर में हरेक धर्म की अपनी पूरी और बराबरी की जगह होगी। हम सब एक ही आलीशान पेड़ के पत्ते हैं। इस पेड़ की जड़ हिलायी नहीं जा सकती, क्योंकि वह पाताल तक पहुँची हुई है। जबरदस्त-से-जबरदस्त आँधी भी उसे हिला नहीं सकती।

"इस तस्वीर में उन मशीनों के लिए कोई जगह न होगी, जो इन्सान की मेहनत की जगह लेकर कुछ लोगों के हाथों में सारी ताकत इकट्ठा कर देती हैं। सुधरे हुए लोगों की दुनिया में मेहनत की अपनी अनोखी जगह है। उसमें ऐसी

की गुंजाइश होगी जो हर आदमी को उसके काम में मदद पहुँचायें।" मुझे कबूल करना चाहिए कि मैंने कभी बैठकर यह नहीं सोचा कि इस की मशीन कैसी हो सकती है? सिलाई की सिंगर मशीन का उदाहरण मुझे था। लेकिन उसका जिक्र भी मैंने यों ही कर दिया। अपनी इस तस्वीर पूर्ण बनाने के लिए मुझे उसकी जरूरत नहीं।"

स्वावलम्बी गाँव की रूपरेखा

अहिंसात्मक समाज म प्रत्येक गाँव स्वावलम्बी होगा और ऐसे गाँव की रूप-रेखा गांधीजी के शब्दों मे यह होगी—

"ग्राम स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि वह ऐसा पूर्ण प्रजातन्त्र होगा जो अपनी अहम जरूरतों के लिए अपने पड़ोसियों पर भी निर्भर नहीं करेगा और फिर भी बहुतेरी दूसरी जरूरतों के लिए, जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा वह परस्पर सहयोग से काम लेगा। इस तरह हरेक गाँव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरत का तमाम अनाज और कपड़े के लिए पूरी कपास खुद पैदा करे। उसके पास इतनी फाजिल जमीन होनी चाहिए, जिसमें ढोर चर सकें और गाँव के बड़ों व बच्चों के लिए मन-बहलाव के साधन और खेल-कूद के मैदान वगैरह का बन्दोबस्त हो सके। इसके बाद भी जमीन बचे, तो उसमें वह ऐसी उपयोगी फसलें बोयेगा जिन्हें बेचकर वह आर्थिक लाभ उठा सके। पर वह गाँजा तम्बाकू अफीम वगैरह की खेती से बचेगा। हरेक गाँव में गाँव की एक नाट्यशाला पाठशाला और सभा-भवन रहेगा। पानी के लिए उसका अपना इन्तजाम होगा वाटरवर्क्स होंगे जिससे गाँव के सभी लोगों को शुद्ध पानी मिला करेगा। कुओं और तालाबों पर गाँव का पूरा नियंत्रण रखकर यह काम किया जा सकता है। बुनियादी तालीम के आखिरी दर्जे तक शिक्षा सबके लिए लाजिमी होगी। जहाँ तक हो सकेगा गाँव के सारे काम सहयोग के आधार पर किये जायेंगे। जात-पाँत और अस्पृश्यता-जैसे भेद आज जो हमारे समाज में पाए जाते हैं वैसे इस ग्राम-समाज मे बिलकुल न रहेंगे। सत्याग्रह और असहयोग के शस्त्र के साथ अहिंसा की सत्ता ही ग्रामीण समाज का शासन-बल होगी। गाँव की रक्षा के लिए ग्राम-सैनिकों का एक ऐसा दल रहेगा जिसे लाजिमी तौर पर बारी-बारी से गाँव के चौकी-पहरे का काम करना होगा। इसके लिए गाँव में ऐसे लोगों का रजिस्टर रखा जायगा। गाँव का शासन चलाने के लिए हर साल गाँव के पाँच आदमियों की एक पंचायत

चुनी जायगी। इसके लिए नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यता वाले गाँव के बालिग स्त्री-पुरुषों को अधिकार होगा कि वे अपने पंच चुन लें। इन पंचायतों को सब प्रकार की आवश्यक सत्ता और अधिकार रहेंगे। चूँकि इस ग्राम-स्वराज्य में आज के प्रचलित अर्थों में सजा या दण्ड का कोई रिवाज नहीं रहेगा इस लिए यह पंचायत अपने एक साल के कार्यकाल में स्वयं ही धारासभा न्याय-सभा और कारोबारी सभा का सारा काम संयुक्त रूप से करेगी। आज भी अगर कोई गाँव चाहे तो अपने यहाँ इस तरह का प्रजातन्त्र कायम कर सकता है।"

गांधीजी ने भावी अहिंसात्मक समाज के बारे में अन्तिम सिद्धान्त निर्धारित न करके केवल उन मोटी-मोटी बातों को लिया है, जिनके आधार पर उस तरह के समाज की रचना की जा सकती है। इस तरह के समाज की स्थापना इस बात पर निर्भर करेगी कि लोग आने वाले समय में गांधीजी के बुनियादी सिद्धान्तों को किस हद तक अंगीकार करते हैं।

अध्याय १२

विविध

धर्म और नैतिकता

महात्मा गांधी ने सदैव ही धर्म और नैतिकता पर सर्वाधिक जोर दिया है। वे सत्य को ही सर्वोच्च धर्म मानते थे और उनका कहना था कि सच्ची नैतिकता का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य पिटी-पिटाई लकीर पर चलता रहे, बल्कि उसका अर्थ यह है कि वह अपना रास्ता स्वयं ढूंढ निकाले और निर्भयतापूर्वक उस पर आगे बढ़े। जो काम स्वैच्छिक न हो वह नैतिक कदापि नहीं हो सकता। जो कार्य यन्त्रवत् किये जाते हैं उनमें नैतिकता होने का प्रश्न ही नहीं उठता। नैतिक कार्य वही होते हैं जो चेतन रूप से और कर्तव्य की भावना से किये गए हों। अतः वे कार्य नैतिक नहीं माने जा सकते जो भय अथवा दबाव के कारण किये गए हों। गांधीजी की इस परिभाषा के अनुसार वे सत्कार्य भी नैतिक कार्यों की श्रेणी में नहीं आते जो दूसरी दुनिया में सुख हासिल करने के उद्देश्य से किये जाते हैं।

महात्मा गांधी का कहना है कि सच्चे धर्म और सच्ची नैतिकता को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। धर्म से नैतिकता का वही सम्बन्ध है जो पानी का जमीन में बोये गए बीज के साथ होता है। वे उसे सच्चा धर्म नहीं मानते जो तर्क की कसौटी पर खरा न उतरता हो और जो नैतिकता के विरुद्ध पड़ता हो। नैतिकता का आधार समाप्त होते ही मनुष्य धार्मिक नहीं रह जाता। ऐसा कोई भी धर्म नहीं हो सकता जो नैतिकता को दबाता या खत्म करता हो। उदाहरण के लिए जो मनुष्य असत्य बोलता हो और क्रूर हो वह धार्मिक होने का दावा नहीं कर सकता। उनकी दृष्टि में सभी स्वार्थपूर्ण इच्छाएं अनैतिक होती हैं और दूसरों की भलाई करने हेतु अपने को सुधारने की इच्छा नैतिक होती है। उनकी दृष्टि से सर्वोच्च नैतिक नियम है मानव मात्र की भलाई के लिए निरन्तर कार्य करते रहना। पर धर्म का सम्बन्ध व्यावहारिक मामलों से होना भी नितान्त आवश्यक है। जो धर्म व्यावहारिक मामलों के हल करने में मदद न कर सके वह धर्म नहीं है। उनकी दृष्टि में संसार के विभिन्न धर्म केवल

रास्ते हैं, जो मनुष्यों को एक ही स्थान पर पहुँचाते हैं। अतः लक्ष्य समान होने पर इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि कौन व्यक्ति कौनसा रास्ता अपनाता है। वास्तव में संसार में उतने ही धर्म हैं जितने कि व्यक्ति। यदि मनुष्य अपने धर्म की आत्मा तक पहुँच सके तो यह समझना चाहिए कि वह दूसरों के हृदय तक पहुँच गया है। पर जहाँ तक राज्य का सम्बन्ध है उसे धर्म-निरपेक्ष होना चाहिए। राज्य द्वारा धार्मिक मामलों में किसी भी तरह का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म को मानने की छूट होनी चाहिए, बशर्ते उसके धार्मिक कार्यों द्वारा सामान्य कानूनों की अवहेलना न होती हो।

महिलाएँ

महात्मा गांधी महिलाओं और पुरुषों की बुनियादी समानता में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि चूंकि पुरुष और महिलाएँ बुनियादी रूप से समान हैं, इसलिए उनकी समस्या भी बुनियादी रूप से समान होनी चाहिए। दोनों में आत्मा समान है और दोनों एक ही तरह से जीवन-निर्वाह करते हैं। वे एक-दूसरे के पूरक हैं और एक की सक्रिय सहायता के बगैर दूसरा जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। फिर भी पुरुषों ने प्राचीन काल से महिलाओं पर आधिपत्य जमा रखा है और इसलिए महिलाओं में हीनता की भावना विकसित हो गई है। वे पुरुषों द्वारा दी गई इस स्वार्थपूर्ण शिक्षा में विश्वास करने लगी हैं कि वे उनकी अपेक्षा घटिया दर्जे की हैं। पर यह वास्तविकता नहीं है और सभी संतों और महापुरुषों ने उनके समान दर्जे को मान्यता दी है।

गांधीजी का कहना है कि इस बुनियादी समानता के बावजूद उनके स्वरूप में यानी पुरुष और स्त्री की शरीर-रचना में महत्वपूर्ण अन्तर है। अतः उनके धन्धे भिन्न-भिन्न होने चाहिएँ। अधिकांश स्त्रियों को मातृत्व के कर्तव्य का निर्वाह करना पड़ता है और उसके लिए जिन गुणों की आवश्यकता पड़ती है वे पुरुष में नहीं होते। स्त्री गृह-स्वामिनी होती है। पुरुष रोटी कमाने वाला होता है, लेकिन उसके वितरण का कार्य स्त्री करती है। बच्चों के पालन-पोषण का दायित्व भी विशेष रूप से उसी पर होता है। अतः स्त्री के लिए यह अशोभनीय होगा कि वह घर-गृहस्थी की जिम्मेदारियों को छोड़कर घर की रक्षा के लिए बन्दूक सँभाले। घर की रक्षा करने में जितनी बहादुरी है उतनी बहादुरी उसे सुव्यवस्थित रखने में भी है। कुछ ऐसे धन्धे भी होते हैं जिनमें स्त्री पुरुष का हाथ बँटा सकती है, लेकिन रोटी कमाने का दायित्व मुख्यतया पुरुष का ही है। इस कार्य-विभाजन

ीकार कर लेने के बाद स्त्री और पुरुष के लिए जिन सामान्य गुणों और त की आवश्यकता पड़ती है वे समान हैं। महात्मा गांधी ने स्त्री को सत्याग्रह का स्वाभाविक नेता माना है और उनका ा है कि अपने इस स्थान को ग्रहण करने से ही स्त्री हीनता की भावना का याग कर सकेगी। वे स्त्री को अहिंसा की प्रतिमूर्ति मानते थे। अहिंसा का है प्रेम और पीड़ा सह सकने की क्षमता। यह क्षमता पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों कहीं अधिक होती है। उसे चाहिए कि वह जिस तरह अपने बच्चे से प्रेम रती है उसी तरह सम्पूर्ण मानवता से प्रेम करे। ऐसा करने पर ही वह समाज मे अपना न्यायोचित स्थान प्राप्त कर सकेगी और मानव-विकास में अपेक्षित भूमिका अदा कर सकेगी।

शिक्षा

महात्मा गांधी का कहना है कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक विकास होना चाहिए। साक्षरता शिक्षा का अन्त नहीं बल्कि प्रारम्भ है। यह स्वयं में शिक्षा न होकर शिक्षा का एक माध्यम-मात्र है। उनका कहना है कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे चरित्र का निर्माण हो। यह ऐसी होनी चाहिए जिससे साहस शक्ति सद्गुणों और बड़े-बड़े उद्देश्यों के लिए काम करते समय अपने को भुला देने की क्षमता का विकास हो। उन्होंने शारीरिक श्रम को शिक्षा के लिए नितान्त आवश्यक माना है और उनका कहना है कि सच्ची बौद्धिक शिक्षा शरीर के विभिन्न अंगों—हाथ, पैर, आंखें कान और नाक आदि—को प्रशिक्षित करने से ही प्राप्त की जा सकती है। दूसरे शब्दों मे बच्चे के शारीरिक अंगों के बुद्धिसंगत उपयोग से ही उसका बौद्धिक विकास भली प्रकार हो सकता है। लेकिन मानसिक और शारीरिक विकास के साथ—आत्मा को जागरूक बनाना भी आवश्यक है, अन्यथा बच्चे का विकास एकांगी रह जायगा। आध्यात्मिक प्रशिक्षण से गांधीजी का तात्पर्य है हृदय की शिक्षा। बच्चे का सर्वांगीण विकास तभी हो सकता है जब उसकी शारीरिक और मानसिक क्षमताओं के विकास के साथ-साथ आध्यात्मिक क्षमता का भी विकास हो। गांधीजी का कहना है कि बच्चों को आरम्भ से ही कोई-न-कोई उपयोगी दस्तकारी सिखानी चाहिए और वह दस्तकारी ऐसी होनी चाहिए जिससे बच्चा प्रशिक्षण प्रारम्भ होते ही उत्पादन करने लग जाय। इससे स्कूल आत्म-निर्भर बन सकेंगे और बच्चे के मस्तिष्क तथा उसकी आत्मा का सर्वोच्च विकास भी हो सकेगा।

महात्मा गांधी यह भी मानते थे कि प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क होनी चाहिए। जहाँ तक उचित शिक्षा का सम्बन्ध है, उनका कहना था कि वह राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप होनी चाहिए। शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में उनका कहना था कि विदेशी भाषाओं के माध्यम से सच्ची शिक्षा सम्भव नहीं है। ऊँची-से-ऊँची शिक्षा का माध्यम भी मातृभाषा ही होना चाहिए, क्योंकि विदेशी भाषाओं के माध्यम से जो शिक्षा दी जाती है, वह बच्चे को उसके अपने देश में ही विदेशियों-जैसा बना देती है।

कार्ल मार्क्स
(KARL MARX)

अध्याय १

भूमिका

कार्ल मार्क्स (Karl Marx) १९वीं शताब्दी के एक ऐसे दार्शनिक और विचारक थे जिनके सिद्धान्तों ने वर्तमान युग को इतना अधिक प्रभावित किया है कि दुनिया दो खेमों में बँट गयी है। एक ओर तो वे लोग हैं जो मार्क्स के सिद्धान्तों यानी मार्क्सवाद में विश्वास करते हैं और जिन्हें साधारणतया कम्युनिस्ट या साम्यवादी कहा जाता है। इनका उद्देश्य क्रान्ति द्वारा समाज में आधारभूत परिवर्तन करके समाजवाद की स्थापना करना और फिर उसे विकसित करके साम्यवादी समाज बनाना है। दूसरे खेमे में वे लोग हैं जो विभिन्न धर्म-शास्त्रों और विचारों में विश्वास करते हुए साम्यवाद के विरोधी हैं साम्यवाद को हीन वस्तु समझते हैं, उसे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य व प्रजातन्त्र के विपरीत मानते हैं।

संसार के दो खेमे

केवल सैद्धान्तिक व दार्शनिक दृष्टि से ही नहीं राजनैतिक दृष्टि से भी इसी आधार पर संसार दो खेमों में विभाजित है। एक खेमे में साम्यवादी शक्तियाँ हैं और दूसरे खेमे में साम्यवाद-विरोधी शक्तियाँ। साम्यवादी खेमे में रूस चीन पोलैण्ड हंगरी चेकोस्लोवाकिया युगोस्लाविया उत्तरी कोरिया और वियतनाम आदि देश हैं जिन्होंने क्रान्ति द्वारा राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन करके समाजवाद अथवा उससे मिलती-जुलती सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की है। ये देश मार्क्स के सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं और वे अन्य सभी देशों के साम्यवादी आन्दोलनों के समर्थक हैं। दूसरे खेमे में अमरिका ब्रिटेन आदि देश हैं जो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और प्रजातन्त्र में विश्वास करते हैं तथा साम्यवाद के कट्टर शत्रु हैं। इसके अलावा कुछ ऐसे देश भी हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक गुटबन्दी से तो अलग हैं पर जो सैद्धान्तिक विवाद से अछूते नहीं रह सके हैं और उनमें से अधिकांश देशों की तस्वीरें साम्यवाद के खिलाफ हैं। मध्यपूर्व में स्थापित कुछ देशों की नयी सरकारों ने साम्यवादी खेमे की ओर झुकाव प्रदर्शित किया है। इसके अलावा तटस्थ देशों में भारत-जैसे कुछ ऐसे देश भी हैं, जिनकी सरकारों ने दोनों ही पद्धतियों में से थोड़े-थोड़े तत्व

लेकर एक निश्चित पद्धति अपनाने की चेष्टा की है, पर महत्वपूर्ण बात यह है कि साम्यवाद-विरोधी गुट के देशों तथा तटस्थ देशों में ऐसा कोई भी देश नहीं है जहाँ किसी-न-किसी मात्रा में साम्यवादी आन्दोलन मौजूद न हो और देश के भीतर साम्यवादी तथा साम्यवाद-विरोधी शक्तियों में संघर्ष न हो रहा हो। इससे प्रगट हो जाता है कि मार्क्स के सिद्धान्त कितने दूरगामी प्रभावकारी और क्रान्तिकारी साबित हुए हैं।

सामाजिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण

मार्क्स ने प्राकृतिक और सामाजिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण करके जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, उनका आधार भौतिकवाद है और वे परम्परा-गत न होकर बिलकुल नये व क्रान्तिकारी हैं। वे प्रकृति और मानव-समाज पर समान रूप से लागू होते हैं क्योंकि मानव-समाज भी मूलतः प्रकृति का ही एक अंग है। अपने इन सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने विश्व-इतिहास की एक बिलकुल ही नयी व्याख्या की है उसको समझने के लिए एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। उन्होंने अर्थशास्त्र के भी परम्परावादी सिद्धान्तों का परित्याग करके नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और उन सिद्धान्तों के आधार पर पूँजीवादी समाज का एक अभूतपूर्व विश्लेषण प्रस्तुत करके यह प्रमाणित किया है कि इस समाज में ऐसी परस्पर-विरोधी शक्तियाँ मौजूद हैं जिनके परस्पर संघर्ष के फलस्वरूप समाजवाद व साम्यवाद की स्थापना होना अवश्यम्भावी है। पर मार्क्स की परिकल्पना का समाजवाद १९ वीं शताब्दी के अन्य समाज-वादी दार्शनिकों की परिकल्पनाओं से बिलकुल भिन्न है और उनके अनुयायियों का दावा है कि वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने समाजवाद और मजदूर-आन्दोलन को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है।

मार्क्सवाद

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों और उनकी विचार-पद्धति को मार्क्सवाद कहते हैं। इन सिद्धान्तों के प्रतिपादन तथा व्याख्या में भी फ्रैडरिक एंगिल्स उनके मुख्य सहयोगी थे इसलिए एंगिल्स के विचारों को मार्क्सवाद का एक अभिन्न अंग माना गया है। उनके बाद लेनिन इन सिद्धान्तों के प्रमुख व्याख्याता के रूप में सामने आये और उन्होंने उन सिद्धान्तों को ठोस परिस्थितियों में लागू करने के साथ-साथ उनका विकास भी किया। वैसे तो लेनिन के विचारों को लेनिनवाद का नाम दिया गया है पर वास्तव में लेनिनवाद मार्क्सवाद के ही अन्तर्गत आता है और उसी का एक अंग है। लेनिन के बाद मार्क्सवाद के प्रमुख व्याख्याता स्तालिन हुए हैं।

अध्याय २

मार्क्सवादी दर्शन और उसका आधार

मार्क्स का दर्शन भौतिकवादी है और वह सभी तरह के अध्यात्मवादों तथा र्मिक विश्वासों के विरुद्ध है। मार्क्स ने जिन बुनियादी सिद्धान्तों की खोज की है प्रकृति व मानव-समाज पर समान रूप से लागू होते हैं और मानव-जीवन का कोई भी अंग-राजनीतिक आर्थिक सामाजिक सांस्कृतिक पारिवारिक इत्यादि— उनके सिद्धान्तों से अछूता नहीं बचा है।

मार्क्स का दर्शन-शास्त्र

मार्क्स के दर्शन-शास्त्र को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहते हैं क्योंकि उसकी पद्धति द्वन्द्वात्मक है और उसका आधार भौतिकवादी। मार्क्स ने अपनी यह द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगेल के दर्शन-शास्त्र से ली है और भौतिकवाद फ्यूरबाख के दर्शन शास्त्र से। पर मार्क्स का दर्शन-शास्त्र इन दोनों दार्शनिकों के दर्शन-शास्त्रों से भिन्न ही नहीं बल्कि उसके ठीक विपरीत है। मार्क्स ने उनके दर्शन-शास्त्रों के केवल 'तात्त्विक गुर' का अंगीकार किया है और उसके द्वारा वे जिन परिणामों पर पहुँचे वे हीगेल और फ्यूरबाख के परिणामों के ठीक विपरीत थे।

द्वन्द्वात्मक पद्धति

'द्वन्द्वात्मक' शब्द अंग्रेजी के dialectics शब्द का अनुवाद है। यह dialectics शब्द ग्रीक (यूनानी भाषा) के dialego शब्द से बना है जिसका अर्थ है विचार विनिमय अथवा वाद-विवाद करना। प्राचीन काल में यूनान में विरोधियों के तर्कों की असंगतियों और उनमें निहित विरोधाभासों को दर्शित करके तथा उन्हें दूर करके सत्य तक पहुँचने के तरीके अथवा उसकी कला को द्वन्द्वात्मक पद्धति (dialectics) कहते थे। इन दार्शनिकों की यह धारणा थी कि विचारों में निहित असंगतियों का अस्पष्टीकरण तथा विरोधी मतों का संघर्ष स तक पहुँचने का सर्वोत्तम उपाय है। बाद में इस पद्धति को प्रकृति को समझ लिए इस्तेमाल किया गया और यह ज्ञात किया गया कि प्रकृति एक निर

...सा है यह बार-बार बदलती रहती है और स्वयं उसके
...ी शक्तियों के मध्य प्रतिपक्ष के फलस्वरूप उसका विकास हुआ

...स के कथनानुसार द्वन्द्वात्मक पद्धति 'बाह्य जगत् और मानव-विचार,
... गतिशीलता के सामान्य नियमों का विज्ञान है।
...alectics is the science of the general laws of motion-
... the external world and of human thought.")[1]

हीगेल और मार्क्स

...सब मस्थर है।
...गेल के सिद्धान्त का आधार था कि जो कुछ भी है ... भौतिक वस्तुओं के
... पूर्व पश्चिमी देशों में जितने भी दार्शनिक हुए हैं वे ... प्रत्येक वस्तु में निरन्तर
...यत्व को मानते थे। वे यह नहीं देख पाये थे कि ... इस सत्य को पहचाना और
...तरिक परिवर्तन होते रहते हैं पर हीगेल ने ... उसके दर्शन के इस
...की यह खोज निश्चय ही क्रान्तिकारी थी। और मार्क्स ने ... ग्रहण किया।
...न्तिकारी तत्व को यानी उसके बुनियादी व तात्विक गुर को ... सम्पूर्ण दर्शन-शास्त्र
किन्तु इस क्रान्तिकारी तत्व के बावजूद हीगेल का ... (Idealism)
...क्रान्तिकारी नहीं था। उन्होंने इस क्रान्तिकारी तत्व को विचारवाद ... उसके तर्कों की
...का ऐसा जामा पहनाया कि वह तर्कसंगत नहीं रह गया ... कि वे भौतिक
...पक्षपातियों ने उन्हें बड़े विचित्र परिणामों पर पहुँचाया। यहाँ तक ... विचारों की महत्ता
...पदार्थों के अस्तित्व का ही अस्वीकार करने लगे। उनकी दृष्टि में ... वे इस नतीजे
...प्रधानता ही नहीं थी बल्कि केवल विचारों का ही अस्तित्व था। ... और भौतिक
...पर पहुँचे कि संसार में विचारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ... बाह्य स्वरूप-मात्र
...पदार्थों के रूप में जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह विचारों का ... उन्हें विचारों
...है। वे भौतिक पदार्थों का स्वयं का कोई अस्तित्व न मानते थे ... कुर्सी को लें।
...की प्रक्रिया का बाह्य स्वरूप-मात्र मानते थे। उदाहरण के लिए ... नहीं है।
...हीगल के दर्शन-शास्त्र के अनुसार कुर्सी का स्वयं का कोई अस्तित्व ... सामने आने
...उसका अस्तित्व केवल विचार के रूप में है और कुर्सी का विचार
...र ... रूप दिखायी पड़ता है।
... इन तर्कों द्वारा हीगेल इस नतीजे पर पहुँचे कि कहीं पर विचारों का
... भण्डार स्थित है जिसमें से थोड़े-थोड़े विचार हमारे सामने आते रहते हैं

१ Ludwig Feuerbach by Frederic Engels.

और उनका बाह्य स्वरूप प्रगट होता रहता है, मानो उन विचारों द्वारा भौतिक पदार्थों का सृजन होता है। उनके इन तर्कों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था और धार्मिक विश्वासों को पुष्टि व समर्थन मिला क्योंकि उनके दर्शन के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था और धार्मिक विश्वास उन विचारों के बाह्य स्वरूप-मात्र थे जिनका दिग्दर्शन उस काल-विशेष में सृजनकर्ता ने हमें कराया था। यह तर्क लोगों को राजनीतिक व्यवस्था और धार्मिक विश्वासों को दैवी माया और सत्य के रूप में स्वीकार करने को प्रेरित करता था। वह यह भावना उत्पन्न करता था कि जब तक सृजनकर्ता द्वारा राजनीतिक व्यवस्था तथा धर्म-सम्बन्धी अन्य विचार प्रेषित या दिग्दर्शित न किये जायें तब तक उनमें परिवर्तन सम्भव नहीं क्योंकि जब तक राजनीतिक व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में नये विचार सृजनकर्ता द्वारा हमें प्रदान न किये जायें तब तक उन विचारों के बाह्य स्वरूप का अस्तित्व कैसे हो सकता है? इस प्रकार हीगेल का दर्शन-शास्त्र बुनियाद में क्रान्तिकारी होते हुए भी अन्ततोगत्वा प्रतिक्रियावादी साबित हुआ।

हीगेल मनुष्य का भी कोई स्वतन्त्र भौतिक अस्तित्व नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में मनुष्य का अस्तित्व भी केवल विचार के रूप में है और चूंकि यह विचार मौजूद है इसलिए उसका बाह्य स्वरूप (मनुष्य का शरीर) दिखाई पड़ता है। इस तरह हीगेल का समूचा दर्शन-शास्त्र रहस्यवादी और आध्यात्मिक बन गया था। मार्क्स ने उनके दर्शन-शास्त्र के इस आध्यात्मिक जामे को स्वीकार नहीं किया बल्कि उसे उतार फेंका। फलतः यद्यपि मार्क्स ने हीगेल के दर्शन शास्त्र के तात्त्विक गुर अथवा बुनियादी तत्त्व को ग्रहण किया फिर भी उनका दर्शन-शास्त्र हीगेल के दर्शन शास्त्र से केवल भिन्न नहीं उसके ठीक विपरीत है। इसका कारण यह है कि मार्क्स के दर्शन-शास्त्र का आधार हीगेल के दर्शन-शास्त्र की तरह विचारवाद (Idealism) न होकर भौतिकवाद (Materialism) है। वे भौतिक पदार्थों के स्वयं के अस्तित्व को मानते हैं। वे हीगेल की तरह यह नहीं मानते कि विचार भौतिक पदार्थों की जननी है। उनका कहना है कि भौतिक पदार्थ अपने अस्तित्व के लिए विचारों के आश्रित नहीं और केवल यही नहीं कि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है बल्कि भौतिक पदार्थ ही विचारों की जननी है। उन्होंने हीगेल के दर्शन-शास्त्र से केवल उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति का तात्त्विक गुर लिया है और इसलिए केवल इसी एक बात में दोनों के दर्शन-शास्त्रों में साम्य है। स्वयं मार्क्स के शब्दों में—

मेरी द्वंद्वात्मक पद्धति हीगेल की पद्धति से केवल भिन्न ही नहीं बल्कि उसके ठीक विपरीत है। हीगेल की दृष्टि में सोचने की प्रक्रिया जिसे उन्होंने 'विचार' का नाम देकर एक स्वतन्त्र वस्तु के रूप में परिवर्तित कर दिया है वास्तविक जगत् की जननी है और वास्तविक जगत् उस 'विचार' का बाह्य प्रतिभासगत रूप मात्र है। इसके विपरीत मेरी दृष्टि में विचार मानव-मस्तिष्क द्वारा प्रतिबिम्बित होने वाले भौतिक जगत् के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो कि सोच-समझ में रूपान्तरित हो जाते हैं।

'My dialectic method" says Marx, is not only different from the Hegelian but is its direct opposite. To Hegel the process of thinking, which, under the name of 'the Idea he even transforms into an independent subject, is the demiurgos of the real world, and the real world is only the external, phenomenal form of the Idea With me, on the contrary the ideal is nothing else than the material world reflected by the human mind and translated into forms of thought. (Karl Marx, Capital, Vol. I. Page XXX)

हीगेल और फ्वेरबाख

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल तक हीगल के दर्शन-शास्त्र का बोलबाला था। यह जर्मनी के स्कूलों में पाठ्य-पुस्तकों द्वारा पढ़ाया जाता था क्योंकि उससे तत्कालीन शासन-व्यवस्था को समर्थन प्राप्त होता था। यद्यपि हीगेल के शिष्यों में विभिन्न दार्शनिक प्रश्नों पर मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण अनेक उप धाराएँ निकल पड़ी थीं और अनेक हीगेलियन स्कूलों (हीगेलवादी विचार पद्धतियों) की स्थापना हो चुकी थी तथापि उनमें कोई बुनियादी अन्तर नहीं था। वे सभी दार्शनिक मूलतः विचारवादी थे और विचारों को भौतिक पदार्थों की जननी मानने के कारण भौतिक जगत् की वास्तविकता को स्वीकार नहीं करते थे।

तब लुडविग फ्वेरबाख मैदान में आये और उनकी पुस्तक 'ईसाई धर्म के तत्त्व' (Essence of Christianity) प्रकाशित हुई। यद्यपि वे अपने को भौतिकवादी कहना पसंद नहीं करते थे तथापि उनके दर्शन का आधार भौतिक-

वाद था। उन्होंने विचारवादी या हीगेलवादी दर्शन-शास्त्र की असंगतियों को दिखाकर भौतिकवाद की पुनर्स्थापना की उसे उसकी गद्दी पर पुनः आसीन किया। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व है। मनुष्य भी प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ है और यह प्रकृति ही उसके विकास का आधार है। प्रकृति और मनुष्य से परे किसी भी चीज का अस्तित्व नहीं है। धर्मों में जिन देवी-देवताओं का वर्णन किया गया है वे वास्तव में बुनियादी रूप से हमारे ही प्रतिबिम्ब हैं और इस प्रतिबिम्बित रूप को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया है। फ़ेयरबाख़ ने दार्शनिकों की दुनिया में उथल-पुथल मचा दी। उनका दर्शन-शास्त्र हीगेलवादी दर्शन-शास्त्र के लिए वज्रपात साबित हुआ। हीगेलवादी विचार पद्धति चकनाचूर हो गई, मानो बम-विस्फोट द्वारा उसकी बुनियाद ही उड़ गई हो। फ़ेयरबाख़ ने हीगेलवादी दर्शन-शास्त्र की कल्पना-जन्य असंगतियों का विश्लेषण कराकर दर्शन-शास्त्र को मुक्ति प्रदान की। कितने ही दार्शनिकों ने बड़े उत्साह के साथ उनकी धारणाओं का स्वागत किया। मार्क्स भी उनके अनुयायी बन गये।

विचारवाद बनाम भौतिकवाद

विगत शताब्दी में दर्शन-शास्त्र के समक्ष यह मुख्य और बुनियादी समस्या थी कि विचार और अस्तित्व (भौतिक पदार्थ) का क्या सम्बन्ध है? प्राचीन काल से ही लोगों का यह विश्वास था कि आत्मा के रूप में एक पृथक चीज होती है जो मानव-शरीर में वास करती है और जब वह शरीर का परित्याग कर देती है तो मृत्यु हो जाती है। उनका यह विश्वास मानव-शरीर-रचना के प्रति अनभिज्ञता के कारण था। वे यह समझते थे कि सोच-विचार भावनाएँ और अनुभूतियाँ आदि मानव-शरीर के कार्य-कलाप नहीं हैं व उन्हें आत्मा के कार्य-कलाप मानते थे। इसलिए दार्शनिकों ने समय-समय पर आत्मा और बाह्य जगत् के सम्बन्धों को समझने तथा उनकी व्याख्या करने की कोशिश की है। चूँकि वे यह मानते थे कि मृत्यु के उपरान्त भी आत्मा जीवित रहती है और वह शरीर को छोड़कर अन्यत्र चली जाती है इसलिए आत्मा की मृत्यु का प्रश्न ही नहीं उठता और व उसे अमर मानते थे। इस विश्वास ने भाग्यवाद को जन्म दिया। लोग यह मानने लगे कि यह भाग्य की बात होती है कि उनकी आत्मा किस शरीर में प्रविष्ट होती है और उसे क्या दुख-सुख भोगने पड़ते हैं और चूँकि भाग्य पर उनका कोई वश नहीं था अतः वे समझते थे कि उसे वे बदल नहीं सकते और उसके विरुद्ध संघर्ष करना व्यर्थ है। इस प्रकार वैयक्तिक अमरत्व

की धारणा उत्पन्न हुई। फिर इसी तरह प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवता मान कर उनकी उपासना शुरू हुई और उन्हें मूर्त रूप प्रदान किया गया। तर्कों और कल्पनाओं द्वारा इस धारणा का विकास होता गया और धीरे-धीरे उसका अपनी जननी—भौतिक जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद होता गया। यह धारणा केवल कल्पना या विचार-जगत् की चीज बन गई। बाद मे अनेकानेक देवी-देवताओं के अस्तित्व की कल्पना ने एक ईश्वर की कल्पना को जन्म दिया। इस तरह आत्मा और बाह्य जगत् का सम्बन्ध दर्शन-शास्त्र का मुख्य विषय बन गया अतः यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि ईश्वर ने जगत् का सृजन किया है अथवा आदि काल से उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है?

दार्शनिकों ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया वह उन्हें दो भागों में बाँट देता है। एक ओर वे दार्शनिक हैं जो आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं उनका कहना है कि सृष्टि से पूर्व आत्मा थी और बाद में सृष्टि का सृजन हुआ। उनमें से अधिकांश यह मानते हैं कि यह सृजन ईश्वर ने किया है। धर्म-शास्त्रों में भी यही बात कही गई है। लेकिन उनमें हीगल-जैसे दार्शनिक भी हैं जिनकी सृष्टि-सृजन सम्बन्धी परिकल्पना बहुत ही जटिल है क्योंकि वे यह मानते हैं कि वास्तव में सृजन केवल विचारों का किया गया है और जगत् उनकी (विचारों की) उत्पत्ति तथा बाह्य स्वरूप मात्र है। दूसरी ओर वे दार्शनिक हैं जो यह मानते हैं कि भौतिक जगत् का अस्तित्व पहले हुआ और इन दार्शनिकों को भौतिकवादी कहते हैं।

मार्क्स और फ्वेरबाक

मार्क्स भौतिकवादी दार्शनिक थे क्योंकि उनके दर्शन का आधार भौतिकवाद था। यद्यपि उन्होंने यह भौतिकवाद फ्वेरबाक से लिया था और इस अर्थ में वे फ्वेरबाक के अनुयायी थे तथापि उनके भौतिकवादी सिद्धान्तों और फ्वेरबाक के भौतिकवादी सिद्धान्तों में बड़ा अन्तर है। अपने भौतिकवादी आधार के बावजूद फ्वेरबाक के सिद्धान्तों ने अन्त में जाकर 'विचारवाद' का रूप ग्रहण कर लिया। इसकी वजह यह थी कि फ्वेरबाक का भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक न होकर यन्त्रीयतावादी (Mechanical) था। उनके भौतिकवाद का यह 'विचारवादी' रूप उस वक्त ज्यादा उभरकर सामने आया है जब उन्होंने धर्म और मानव-इतिहास पर अपने विचार प्रकट किए हैं। वे धर्म के उन्मूलन के पक्ष में न होकर उसमें पूर्णता लाने के पक्ष में थे। उनका कहना था कि सभी दमन ... को अपने को धर्म में विलीन करके उसका अंग बन जाना चाहिए। वे

धर्म को ही मानव-विकास का आधार मानते थे। वे यह मानने की अपेक्षा कि मानव-विकास का प्रत्येक काल (period) तत्कालीन भौतिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित हुआ है और वह उन्हीं परिस्थितियों के अनुरूप था वे यह मानते थे कि धार्मिक विचारों में परिवर्तन होने से मानव-विकास के काल में परिवर्तन हुआ है। दूसरे शब्दों में वे यह मानते थे कि मानव इतिहास के प्रत्येक चरण का निर्धारण भौतिक परिस्थितियों द्वारा न होकर धार्मिक विचारों द्वारा हुआ। इस तरह जहाँ तक इतिहास और धर्म का सम्बन्ध है उन्होंने भौतिकवाद को तिलांजलि देकर विचारवाद को (अर्थात् इस धारणा को कि विचारों द्वारा भौतिक परिस्थितियों का निर्धारण होता है) ग्रहण कर लिया था।

इसके विपरीत मार्क्स का कहना यह है कि विचारों द्वारा भौतिक परिस्थितियों का निर्धारण न होकर भौतिक परिस्थितियों द्वारा विचारों को जन्म मिलता है। मनुष्य के विचार और उसकी चेतना मानव-मस्तिष्क की उत्पत्ति हैं और मनुष्य स्वयं भी प्रकृति की उत्पत्ति है, जिसका विकास वातावरण के अनुरूप हुआ है। जब कि विश्लेषण द्वारा यह प्रकट हो जाता है कि *मानव-मस्तिष्क* की उत्पत्तियाँ वास्तव में प्रकृति-जन्य ही होती हैं तो यह स्वाभाविक है कि वे शेष प्रकृति के विपरीत न होकर उसके अनुरूप ही होती हैं। चूँकि मानव-चेतना भौतिक पदार्थों और भौतिक परिस्थितियों की उत्पत्ति है इसलिए सामाजिक चेतना भी सामाजिक परिस्थितियों की उत्पत्ति है। टैक्नोलॉजी से उत्पादन की प्रक्रिया का निर्धारण होता है जो कि मनुष्य के जीवित रहने के लिए आवश्यक है और फिर उस प्रक्रिया के अनुसार ही मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं। उत्पादन की प्रक्रिया और उसके द्वारा निर्धारित होने वाले सामाजिक सम्बन्धों से ही मानसिक धारणाएँ बनती हैं अतः सभी विचारों की और धर्म की भी उत्पत्ति भौतिकता से होती है। भौतिक परिस्थितियाँ बदलने से विचारों और धार्मिक धारणाओं में भी परिवर्तन आता है, न कि यह कि विचारों और धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन आने से *भौतिक परिस्थितियाँ बदलती हैं।* मार्क्स ने कहा है कि—

> 'मनुष्य अपने जीवन काल के सामाजिक उत्पादन में दूसरे मनुष्यों के साथ निश्चित सम्बन्ध स्थापित करता है। ये सम्बन्ध अनिवार्य होते हैं और उन पर उनकी स्वेच्छा का वश नहीं चलता। ये उत्पादन सम्बन्ध उत्पादन की उनकी भौतिक शक्तियों के विकास के परिस्थिति के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन-सम्बन्धों को *मिलाकर समाज* का आर्थिक ढाँचा बनता है। यही वह वास्तविक आधार होता है जिस पर विधि-विधान और राजनीतिक भवन निर्मित होता है और सामाजिक

चेतनाओं के रूप भी उसी के अनुरूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन-पद्धति ही सामान्य सामाजिक राजनीतिक और भौतिक जीवन की प्रक्रिया निर्धारित करती है। मानवों की चेतनाओं द्वारा उनका भौतिक जीवन निर्धारित नहीं होता बल्कि इसके विपरीत उनके सामाजिक तथा भौतिक जीवन से उनकी चेतनाएँ निर्धारित होती हैं।"

(Marx says "In the social production of their life men enter into definite relations that are indispensable and independent of their will; these relations of production correspond to a definite stage of development of their material forces of production. The sum total of these relations of production constitutes the economic structure of Society—the real foundation on which rises a legal and political superstructure and to which correspond definite forms of social consciousness. The mode of production of material life determines the social, political and intellectual life process in general. It is not the consciousness of men that determines their being, but, on the contrary their social being that determines their consciousness."

—Preface to Contribution to the Critique of Political Economy)

लेनिन के कथनानुसार मार्क्स की दृष्टि में फ्यूरबाक और अन्य भौतिकवादियों के दर्शन-शास्त्रों की कमियाँ इस प्रकार हैं—

(१) यह भौतिकवाद मुख्यतः यंत्रीयतावादी (Mechanical) है।

(२) यह भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक नहीं है इसे इतिहास पर लागू नहीं किया गया और यह विकास के दृष्टिकोण से मेल नहीं खाता।

(३) यह भौतिकवाद मानव-तत्व के इतिहास को काल विशेष के सामाजिक सम्बन्धों के रूप में नहीं देख पाया।

अतः मार्क्स का भौतिकवाद जहाँ द्वन्द्वात्मक है वह विकास की प्रक्रिया को दृष्टिगत रख कर चलता है मनुष्य की चेतना व मन को भौतिक परिस्थितियों की उत्पत्ति मानता है वहाँ फ्यूरबाक का भौतिकवाद अन्त में जाकर 'विचारवाद' का रूप धारण कर लेता है।

अध्याय ३

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधारभूत सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) संसार ब्रह्म का स्वरूप सर्वव्यापी आत्मा का बाह्य रूप या चेतना का मूर्तरूप न होकर भौतिक है। उसकी बहुमुखी प्रक्रियाएँ गतिशील भौतिक पदार्थ के भिन्न-भिन्न रूप हैं। उसके विभिन्न अंग तथा प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से सम्बद्ध तथा परस्पर-निर्भर हैं और उनका विकास भौतिक पदार्थ की गतिशीलता के नियमानुसार होता है।

(२) भौतिक जगत् एक यथार्थ है। यह कहना गलत है कि यह माया है अथवा उसका अस्तित्व केवल हमारे मस्तिष्क या विचारों में है। भौतिक पदार्थ ही मुख्य है और भावनाओं अनुभूतियों तथा विचारों की उत्पत्ति उसी से होती है, क्योंकि उनका माध्यम—मस्तिष्क—एक भौतिक पदार्थ है।

(३) यह सोचना गलत है कि संसार और उसके नियमों को जान पाना मनुष्य के परे है। विज्ञान और अनुभवों द्वारा संसार और उसके नियमों को पूरी तरह से मालूम किया जा सकता है। प्रकृति के नियमों के सम्बन्ध में मनुष्य ने जो ज्ञान प्राप्त किया है और परीक्षणों तथा अनुभवों द्वारा जो सही साबित हो चुका है वह सत्य व यथार्थ है। जो चीजें अभी तक ज्ञात नहीं हैं उन्हें भी विज्ञान व अनुभवों द्वारा जाना जा सकता है। प्रकृति की कोई भी चीज ज्ञान के परे नहीं है।

(४) प्रकृति आकस्मिक वस्तुओं और प्रक्रियाओं का जमघट नहीं है। उसकी कोई भी चीज या प्रक्रिया अलग-अलग असम्बद्ध और स्वतन्त्र नहीं है। प्रकृति की किसी भी वस्तु, उसके किसी भी अंग या प्रक्रिया को समझने के लिए उसके इर्द-गिर्द की परिस्थितियों तथा उसके साथ उसकी अपृथक्करणीय सम्बद्धता को दृष्टिगत रखना पड़ेगा।

(५) प्रकृति स्थिरता और जड़ता की स्थिति में नहीं है। वह गतिशील और परिवर्तनशील है। उसमें निरन्तर परिवर्तन और विकास होता रहता है। उसकी

गतिशीलता कभी भी रुकती नहीं और इस प्रक्रिया में कुछ तत्त्व छिन्न-भिन्न व नष्ट होते रहते हैं तथा कुछ नये तत्त्व उत्पन्न होकर विकसित होते रहते हैं। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्रकृति के किसी भी घटना अथवा प्रक्रिया को समझने के लिए केवल आस-पास की चीजों के साथ उसकी सम्बद्धता तथा पारस्परिक निर्भरता को ध्यान में न रखा जाय बल्कि इस बात को भी ध्यान में रखा जाय कि यह निरन्तर गतिशील परिवर्तनशील और विकासमय है। यह बराबर नष्ट होती रहती है और नया जन्म लेती रहती है।

(५) विकास साधारण क्रम में नहीं होता बल्कि विकास की प्रक्रिया यह है कि परिमाणात्मक परिवर्तनों द्वारा गुणात्मक परिवर्तन होता है। किसी भी चीज मे परिमाण के बढ़ते-बढ़ते भल ही यह परिमाण-वृद्धि कितनी ही थोड़ी-थोड़ी करके क्यों न हो और भले ही वह दिखायी भी न पड़ती हो उस चीज मे अचानक व तुरन्त गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन बुनियादी होता है और वह वस्तु-विशेष एक अवस्था से एकाएक दूसरी अवस्था म पहुँच जाती है। *यह परिमाणात्मक परिवर्तनों का स्वाभाविक परिणाम होता है।*

दूसरे, विकास की यह प्रक्रिया वृत्ताकार नहीं है अर्थात् परिवर्तनों द्वारा फिर ठीक उसी बिन्दु पर नहीं पहुँचा जा सकता जहाँ से प्रक्रिया प्रारम्भ हुई हो। दरअसल यह विकास ऊपर की ओर ले जाता है। गुणात्मक परिवर्तन द्वारा वस्तु जिस नयी अवस्था म पहुँचती है, वह उसकी पूर्व अवस्था की अपेक्षा *ज्यादा ऊँचे स्तर का होता है। अतः विकास की प्रक्रिया साधारण न होकर* बहु-धर्मी है।

मार्क्स का यह सिद्धान्त एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। पानी मे जब गरमी पहुँचायी जाती है तो यह गरमी दिखायी नहीं पड़ती। जैसे-जैसे गरमी की मात्रा बढ़ती जाती है वैसे-वैसे परिमाणात्मक परिवर्तन होता जाता है यद्यपि *पानी पानी ही रहता है* उसमें *गरमी की मात्रा समान नहीं है*, उसके परिमाण में बराबर वृद्धि हो रही है। दूसरे शब्दों में गरमी बढ़ने के साथ-साथ उसमें परिमाणात्मक परिवर्तन हो रहा है। पर धीरे-धीरे करके वह स्थिति आ जाती है जबकि पानी एकाएक भाप बनकर उड़ने लगता है अर्थात् परिमाणात्मक परिवर्तन द्वारा गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है, क्योंकि पानी और भाप के गुण भिन्न-भिन्न हैं और वे एक ही वस्तु की दो गुणात्मक अवस्थाएं हैं। यह गुणात्मक परिवर्तन एकाएक और तीव्रतम गति से होता है। यद्यपि यह गुणात्मक परिवर्तन परिमाणात्मक परिवर्तन का स्वाभाविक परिणाम होता है, तथापि यह उससे

भिन्न है। इसी तरह ठंडक पहुँचाने से पानी में गुणात्मक परिवर्तन होकर बर्फ बनती है।

(७) प्रत्येक वस्तु और प्रकृति की प्रत्येक प्रक्रिया में दो परस्पर-विरोधी तत्त्व मौजूद होते हैं—एक नकारात्मक शक्ति होती है और दूसरी सकारात्मक। नकारात्मक शक्ति वह होती है जो नष्ट हो रही होती है और सकारात्मक शक्ति वह होती है जो विकसित हो रही होती है। इन दोनों विरोधी तत्त्वों और शक्तियों में निरन्तर संघर्ष होता रहता है। यह नये और पुराने का संघर्ष होता है, इन दो तत्त्वों के बीच होता है, जिनमें से एक विकसित हो रहा होता है और दूसरा नष्ट हो रहा होता है। इस आन्तरिक संघर्ष के फलस्वरूप विकास होता है और वस्तु अथवा प्रक्रिया का स्वरूप बदल जाता है। दूसरे शब्दों में परिमाणात्मक परिवर्तन द्वारा गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। लेकिन यह विकास हमेशा निम्न स्तर से उच्च स्तर को होता है अर्थात् प्रक्रिया एक निम्न अवस्था से अपेक्षाकृत उच्च-अवस्था पर पहुँचती है।

द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त व सामाजिक जीवन

मार्क्स ने अपने इन सिद्धान्तों को सामाजिक जीवन तथा समाज के इतिहास का अध्ययन करने के लिए भी प्रयुक्त किया है। उनका कहना है कि चूँकि सभी प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई होती हैं तथा एक-दूसरे पर निर्भर होती हैं इसलिए किसी भी सामाजिक व्यवस्था अथवा इतिहास के किसी भी आन्दोलन का मूल्यांकन 'सनातन न्याय' के दृष्टिकोण से नहीं किया जा सकता। उसका मूल्यांकन इस दृष्टि से नहीं किया जा सकता कि हम अपने पूर्वाग्रह के कारण अथवा पहले से बनी हुई किसी धारणा के कारण किस चीज को अच्छी या बुरी समझते हैं। मूल्यांकन इस दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए कि किस सामाजिक व्यवस्था अथवा सामाजिक आन्दोलन को किन परिस्थितियों ने जन्म दिया।

सामन्तवादी व्यवस्था

आज की परिस्थितियों में 'गुलाम प्रथा' अर्थहीन मूर्खतापूर्ण और अस्वाभाविक है। लेकिन जिन परिस्थितियों में उसका जन्म हुआ था वह प्रगतिशील व्यवस्था थी। उसका जन्म प्रारम्भिक सामुदायिक व्यवस्था के विघटन के फलस्वरूप हुआ था और इस बात को ध्यान में रखकर देखा जाय तो उन परिस्थितियों में वह एक स्वाभाविक प्रक्रिया थी जिससे समाज आगे बढ़ा। अतः कौनसी चीज अच्छी या बुरी है यह परिस्थिति काल और स्थान पर निर्भर करता

है। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर मार्क्स ने यह कहा कि सामन्तवादी व्यवस्था किसी समय में अच्छी थी पर बाद में नई परिस्थितियों में वही चीज बुरी हो गई। गुलाम-व्यवस्था के अन्तर्विरोधों ने सामन्तवादी व्यवस्था को जन्म दिया और इस सामन्तवादी व्यवस्था के परस्पर-विरोधी तत्त्वों के संघर्ष ने पूंजीवादी समाज को जन्म दिया। इस तरह एक के बाद दूसरी सामाजिक व्यवस्था का आना स्वाभाविक था। पूंजीवादी व्यवस्था में भी दो परस्पर-विरोधी शक्तियां हैं—एक ओर पूंजीपति वर्ग है और दूसरी ओर सर्वहारा वर्ग। पूंजीपति वर्ग ह्रासोन्मुख शक्ति है और मजदूर वर्ग विकासोन्मुख शक्ति। अतः इन दो परस्पर विरोधी शक्तियों के फलस्वरूप एक नई सामाजिक व्यवस्था—समाजवादी व्यवस्था—का पैदा होना स्वाभाविक है। मार्क्स का यह भी कहना है कि जब किसी भी चीज अथवा प्रक्रिया में गुणात्मक परिवर्तन होता है तो वह एकाएक होता है। अतः पूंजीवादी व्यवस्था को सुधारकों द्वारा धीरे-धीरे समाजवादी व्यवस्था में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। यह परिवर्तन तो एकाएक ही लाया जा सकता है अर्थात् क्रान्ति द्वारा ही समाजवाद की स्थापना हो सकती है।

पूँजीवादी व्यवस्था

पूंजीवादी व्यवस्था में सम्पत्ति और उत्पादनों के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार को ठीक उसी तरह उचित और न्यायसंगत माना जाता है जिस तरह गुलाम प्रथा के समय गुलामों पर उनके मालिकों के अधिकार को उचित व न्याय संगत माना जाता था। समाज के दूसरी अवस्था में पहुँच जाने पर जिस तरह गुलाम प्रथा को अनुचित और अन्यायपूर्ण माना जाने लगा था उसी तरह समाजवादी व्यवस्था में सम्पत्ति और उत्पादनों के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकारों को अन्यायपूर्ण अनुचित और गैर-कानूनी माना जाने लगेगा।

सामाजिक विचार व सिद्धान्त

जहाँ तक सामाजिक विचारों और सिद्धान्तों का सम्बन्ध है मार्क्स का कहना है कि उनका जन्म भी परिस्थितियों के अनुसार होता है। कुछ ऐसे विचार और सिद्धान्त होते हैं जो पुराने पड़ चुके होते हैं और समाज की उन शक्तियों का हित-साधन करते हैं जो समाज को आगे बढ़ने से रोकने की कोशिश करती हैं। दूसरी ओर वे सामाजिक विचार और सिद्धान्त होते हैं, जो नये और प्रगतिशील होते हैं तथा समाज की विकासोन्मुख शक्तियों का हित-साधन करते हैं। इन नये सामाजिक विचारों और सिद्धान्तों का जन्म तभी हो जाता है, जब

समाज का भौतिक जीवन विकसित होकर ऐसी अवस्था में पहुँच चुका हो कि उसके समक्ष नये सामाजिक कार्य प्रस्तुत हो गए हों। ये सामाजिक विचार और सिद्धान्त उत्पन्न हो चुकने के बाद स्वयं में एक बहुत बड़ी शक्ति बन जाते हैं। वे पुराने सामाजिक विचारों तथा सिद्धान्तों के साथ संघर्ष करते हैं और समाज के भौतिक जीवन को विकसित करने में सहायक बनते हैं। इन्हीं सामाजिक विचारों तथा सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ बनती हैं। यद्यपि इन सामाजिक विचारों के सिद्धान्तों और संस्थाओं का जन्म समाज के भौतिक जीवन के फलस्वरूप होता है तथापि उनके जन्म ले चुकने के बाद समाज के भौतिक जीवन पर भी उनकी प्रतिक्रिया होती है और इस तरह वे समाज के भावी विकास को सम्भव बनाते हैं।

सामाजिक सम्बन्ध

जहाँ तक सामाजिक जीवन की भौतिक परिस्थितियों का सम्बन्ध है मार्क्स ने प्राकृतिक और भौगोलिक स्थिति तथा जनसंख्या आदि के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया है लेकिन उन्होंने उन्हें सामाजिक जीवन का निर्णायक तत्त्व नहीं माना है। उनका कहना है कि सामाजिक जीवन की भौतिक परिस्थितियों का निर्णायक तत्त्व होता है उत्पादन का तरीका अर्थात् वह पद्धति जिससे मानव अस्तित्व के लिए आवश्यक वस्तुएँ—खाना कपड़ा जूता मकान ईंधन उत्पादन के औज़ार आदि—उत्पादित किये जाते हैं। जीवनोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन की प्रक्रिया मनुष्यों के बीच उत्पादन-सम्बन्ध स्थापित करती है। उत्पादन के लिए मानव एक-दूसरे से सहयोग करता है और अपनी उत्पादित वस्तुओं का विनिमय करता है। मार्क्स ने मानवों के इस सम्बन्ध को सामाजिक सम्बन्ध कहा है और सभी प्रकार के उत्पादन को सामाजिक उत्पादन की संज्ञा दी है।

सामाजिक विकास का इतिहास

समाज में उत्पादन सदैव एक-जैसी स्थिति में नहीं रहता। वह बराबर बदलता और विकसित होता रहता है। उत्पादन के तरीके में परिवर्तन होने के फलस्वरूप समूची सामाजिक व्यवस्था और उसके साथ-साथ सामाजिक विचारों, राजनीतिक विचारों तथा राजनीतिक संस्थाओं आदि का भी बदलना अवश्यम्भावी हो जाता है। उत्पादन का तरीका बदलने के फलस्वरूप सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण की आवश्यकता पैदा हो जाती है। अत: जिस समाज का उत्पादन का जो तरीका होता है उसी के अनुरूप सामाजिक

अध्याय ४

आर्थिक विचार—(१)

मार्क्स ने आर्थिक क्षेत्र में भी नये और क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का निरूपण किया है तथा आधुनिक समाज (पूँजीवादी समाज) के आर्थिक नियमों की खोज की है। उन्होंने पूँजीवादी समाज की उत्पादन-शक्तियों तथा उत्पादन-सम्बन्धों का अभूतपूर्व विश्लेषण किया। वास्तव में उन्हें एक नये अर्थशास्त्र का जन्मदाता कहा जा सकता है, क्योंकि सिर्फ यही नहीं कि उनका अर्थशास्त्र परम्परागत अर्थशास्त्रों से भिन्न है, बल्कि उन्होंने जिन आर्थिक नियमों की खोज की है उससे परम्परावादी अर्थशास्त्रों द्वारा प्रस्तुत आर्थिक सिद्धान्तों पर कुठाराघात हुआ है।

मूल्य

मार्क्स ने पूँजीवादी समाज की अर्थ-व्यवस्था का विश्लेषण करते समय सबसे पहले जिन्स की व्याख्या की है और उसका विश्लेषण किया है, क्योंकि पूँजीवादी अर्थतंत्र का आधार जिन्स का उत्पादन है और इसी उत्पादन द्वारा इस समाज के आर्थिक सम्बन्ध निर्धारित हुए हैं। मार्क्स के कथनानुसार जिन्स एक ऐसा पदार्थ है जो मानव की किसी-न-किसी आवश्यकता की पूर्ति कर सके जिसका दूसरी वस्तुओं के साथ विनिमय हो सके। अपनी उपयोगिता के कारण वह वस्तु 'उपयोगी मूल्य' होती है, अर्थात् उपयोगिता की दृष्टि से उसका कुछ-न-कुछ मूल्य होता है। पर यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक उपयोगी वस्तु जिन्स हो। उदाहरण के लिए हवा उपयोगी वस्तु है, फिर भी उसका कोई मूल्य नहीं है। समुद्र-तट पर पड़ा हुआ बालू का ढेर उपयोगी होते हुए भी जिन्स नहीं है। वह जिन्स की श्रेणी में तभी आ सकता है जब उसे शहर में लाया जाय और उसका विनिमय हो सके। इस तरह यदि कोई मनुष्य अपने निजी उपयोग के लिए कोई वस्तु बनाए तो वह उपयोगी होते हुए भी जिन्स की श्रेणी में शामिल नहीं की जा सकती। जिन्स की श्रेणी में आने के लिए आवश्यक है कि 'उपयोगिता-मूल्य' होने के साथ-साथ उसका विनिमय-मूल्य भी हो और किसी निश्चित अनुपात में उसका दूसरी उपयोगी वस्तुओं के साथ विनिमय हो सके। हम देखते हैं कि इस प्रकार के कितने ही 'उपयोगी मूल्यों'

का (अर्थात् उपयोगी वस्तुओं का) विनिमय बाजारों में नित्यप्रति होता रहता है। अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह कौनसी वस्तु है जो दो बिलकुल भिन्न प्रकार की उपयोगी वस्तुओं को विनिमय के योग्य बनाती है। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं में वह कौनसा समान तत्त्व है, जिसके कारण उनका विनिमय होता है। मार्क्स का कहना है कि यह समान तत्त्व है—मानव-श्रम। प्रत्येक उपयोगी वस्तु मानव-श्रम का फल होती है। उसमें किसी-न-किसी मात्रा में मानव-श्रम निहित होता है। चूँकि प्रत्येक वस्तु मानव-श्रम का मूर्तरूप होती है अतः उनका विनिमय हो सकता है और यह विनिमय उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में उनमें मानव-श्रम निहित हो।

यद्यपि प्रत्येक उपयोगी वस्तु में मानव-श्रम निहित होता है तथापि अलग अलग तरह की वस्तुओं को बनाने के लिए अलग-अलग तरीके से श्रम करना पड़ता है। कोट तैयार करने के लिए एक खास तरीके से श्रम करना पड़ता है और जूता तैयार करने के लिए दूसरे तरीके से। अलग-अलग तरीके से श्रम करने के फल स्वरूप उत्पादित वस्तुओं की अलग-अलग उपयोगिता होती है। लेकिन जो व्यक्ति अपने जिन्स को विनिमय के लिए बाजार में लेकर आता है उसकी दृष्टि में उसका उपयोगिता-मूल्य न होकर केवल उसका विनिमय मूल्य होता है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि जब अलग-अलग तरह की चीजों के उत्पादन में अलग-अलग तरह का श्रम लगता है तो उनका विनिमय किस आधार पर होता है? यदि एक कोट का विनिमय दो जोड़े जूते के साथ हो सकता है तो क्यों? मार्क्स ने इसका उत्तर यह दिया है कि प्रत्येक विशिष्ट श्रम को निर्गुण श्रम में घटाया जा सकता है। एक कोट का मूल्य दो जोड़े जूते के मूल्य के बराबर इसलिए है कि जितना श्रम एक कोट को बनाने के लिए लगाना पड़ता है उतना ही श्रम दो जोड़े जूते तैयार करने में लगाना पड़ता है। लेकिन यदि कोई नौसिखिया कारीगर एक कोट तैयार करने में उतना श्रम लगाने की अपेक्षा जितना कि दो जोड़ जूते तैयार करने में लगता है दस गुना श्रम लगा दे तो क्या उसका कोट बीस जोड़ी जूते के बराबर माना जायगा? नहीं। विनिमय इस आधार पर होता है कि किस वस्तु के उत्पादन के लिए कितना श्रम सामाजिक रूप से आवश्यक होता है। इस श्रम का मापदण्ड होता है समय अर्थात् किस चीज को बनाने के लिए कितना समय लगाना पड़ता है। उदाहरण के लिए, समाज की अवस्था-विशेष में कोट को तैयार करने के लिए जो यंत्र इस्तेमाल किये जाते हैं, यदि उनकी सहायता से सामान्य कौशल वाले कारीगर औसतन आठ घण्टे में एक कोट बना लेते हैं और उसी सामाजिक अवस्था में जिन औजारों द्वारा जूता

I मुद्रा पूँजी का रूप ग्रहण कर लेती है। मुद्रा की उत्पत्ति होने पर, प्रारम्भ में विनिमय का स्वरूप यह था कि जिन्स देकर मुद्रा हासिल की जाती थी और फिर उस मुद्रा को देकर जिन्स हासिल किया जाता था। उत्पादक अपना जिन्स बेचकर मुद्रा ले लेता था और फिर उस मुद्रा द्वारा अपनी ज़रूरत का जिन्स खरीद लेता था। बाद में विनिमय का स्वरूप यह बना कि जिन्स की खरीद अपनी ज़रूरत पूरी करने के लिए न की जाकर, बिक्री के लिए की जाने लगी। मुद्रा द्वारा जिन्स खरीदकर उसे पुन: बेचकर मुद्रा प्राप्त कर ली जाती थी ताकि मुनाफ़ा कमाया जा सके। लेकिन मार्क्स का कहना है कि दरअसल यह मुनाफ़ा जिन्सों की कीमत बढ़ा देने से प्राप्त नहीं होता। यदि एक जिन्स की कीमत बढ़ा दी जाती है तो उसी अनुपात में दूसरे सभी जिन्सों की कीमतें भी बढ़ जाएँगी। अतिरिक्त मूल्य हासिल करने के लिए मुद्रा के मालिक का बाजार में ऐसे जिन्स की खोज करनी पड़ी जो उपयोगी मूल्य होने के साथ-साथ मूल्य उत्पन्न करने का साधन भी हो अर्थात् ऐसा जिन्स जो अपनी खपत की प्रक्रिया द्वारा मूल्य की उत्पत्ति करे। मार्क्स का कहना है कि यह जिन्स है मानव की श्रम-शक्ति। अपनी खपत द्वारा श्रम-शक्ति मूल्य की उत्पत्ति करती है। मुद्रा का मालिक श्रम-शक्ति को उसका मूल्य देकर खरीद लेता है। अन्य सभी जिन्सों की भाँति श्रम-शक्ति का मूल्य भी इस बात के द्वारा निर्धारित होता है कि समाज की अवस्था-विशेष में श्रम-शक्ति को पैदा करने के लिए कितने समय के श्रम की आवश्यकता पड़ती है। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूर और उसके परिवार के भरण-पोषण का जितना खर्च बैठता है उतना ही उसके श्रम का मूल्य हुआ। श्रम-शक्ति को खरीदकर मुद्रा का मालिक उसे इस्तेमाल करता है। मान लीजिए कि एक मजदूर चार घण्टे काम करके इतना मूल्य उत्पादित कर लेता है जितना कि उसके और उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त है। लेकिन यदि मुद्रा का मालिक उससे चार घण्टे के बजाय आठ घण्टे काम कराता है तो शेष चार घण्टों में वह मजदूर जितना मूल्य उत्पादित करेगा वह अतिरिक्त-मूल्य अथवा मालिक का मुनाफ़ा होगा।

हम देखते हैं कि कारखानों में मजदूरों को एक निश्चित समय तक रोजाना काम करना पड़ता है और उसके लिए उन्हें तय की गयी दर पर मजदूरी मिलती है। मान लीजिये एक मजदूर को दो रुपये रोज मजदूरी मिलती है और उसे आठ घण्टे काम करना पड़ता है। यदि चार घण्टे में वह जितना उत्पादन करता है, उसका मूल्य दो रुपये के बराबर हो तो शेष चार घण्टों में वह दो रुपये का जो अतिरिक्त सामान उत्पादित करेगा वह अतिरिक्त-मूल्य अथवा मालिक का

जाता है उसकी सहायता से सामान्य कौशल वाला कारीगर आठ घण्टे में न दो जोड़ी जूते तैयार कर सका है तो इसका अर्थ यह होगा कि एक कोट के लिए सामाजिक दृष्टि से जितना श्रम लगता है उतना ही श्रम दो जोड़ी में लगता है। अतः एक कोट तथा दो जोड़ी जूतों का मूल्य समान है और इसी अनुपात में विनिमय हो सकता है। इस तरह वास्तव में वस्तुओं का मय न होकर उनमें निहित मानव-श्रम का विनिमय होता है।

मुद्रा

मार्क्स का कहना है कि पहले विनिमय आकस्मिक कार्यों के रूप में होता। लेकिन उसका विकास होने के फलस्वरूप मुद्रा की उत्पत्ति हुई। मार्क्स ने विनिमय के विकास को एक ऐतिहासिक प्रक्रिया कहा है। उनका कहना है कि जब विनिमय का स्वरूप आकस्मिक था उसमें किसी एक जिन्स की निश्चित मात्रा का विनिमय किसी दूसरे जिन्स की एक निश्चित मात्रा के साथ हो सकता था लेकिन विनिमय के विकास के फलस्वरूप सभी जिन्सों का विनिमय क्रमशः एक जिन्स से होने लगा। इसी सार्वदेशिक जिन्स ने मुद्रा का रूप ग्रहण किया। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए कि एक कोट का विनिमय दो जोड़ी जूतों दस गज कपड़े एक मन गेहूँ और एक कुरसी के साथ होता है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि जूते कपड़े गेहूँ और कुरसी ने अपने मूल्यों को कोट के मूल्य द्वारा अथवा कोट के मूल्य के माध्यम से प्रकट किया। कोई भी व्यक्ति दो जोड़ी जूते देकर एक कोट ले सकता है और उस कोट को देकर दस गज कपड़ा या एक मन गेहूँ या एक कुरसी ले सकता है। यहाँ पर कोट ने विनिमय के माध्यम का रूप ग्रहण कर लिया है। जो स्थान हमारे उपर्युक्त उदाहरण में कोट ने ग्रहण किया वही स्थान विनिमय के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया में सोना ने ग्रहण किया और वह जिन्सों के विनिमय का माध्यम बना। सभी जिन्स अपने मूल्य सोने के मूल्य के माध्यम से प्रकट करने लगे। बाद में सोने का स्थान मुद्रा ने ग्रहण किया। इसका परिणाम यह हुआ कि मुद्रा ने वैयक्तिक श्रम के सामाजिक स्वरूप तथा व्यक्तिगत उत्पादकों के सामाजिक सम्बन्ध पर परदा डाल दिया। मार्क्स ने मुद्रा की अन्य विशेषताओं और उसके विभिन्न कार्यों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। विनिमय का माध्यम बनने के बाद मुद्रा मजदूरी चुकाने और पूँजी के संग्रह आदि का भी माध्यम बना।

अतिरिक्त मूल्य

मार्क्स का कहना है कि जिन्स उत्पादन के विकास की एक अवस्था-विशेष

में मुद्रा पूंजी का रूप ग्रहण कर लेती है। मुद्रा की उत्पत्ति होने पर, प्रारम्भ में विनिमय का स्वरूप यह था कि जिन्स देकर मुद्रा हासिल की जाती थी और फिर उस मुद्रा को देकर जिन्स हासिल किया जाता था। उत्पादक अपना जिन्स बेचकर मुद्रा ले लेता था और फिर उस मुद्रा द्वारा अपनी जरूरत का जिन्स खरीद लेता था। बाद में विनिमय का स्वरूप यह बना कि जिन्स भी खरीद अपनी जरूरत पूरी करने के लिए न भी जाकर बिक्री के लिए भी जाने लगी। मुद्रा द्वारा जिन्स खरीदकर उसे पुनः बेचकर मुद्रा प्राप्त कर ली जाती थी ताकि मुनाफ़ा कमाया जा सके। लेकिन मार्क्स का कहना है कि दरअसल यह मुनाफ़ा जिन्सों की कीमत बढ़ा देने से प्राप्त नहीं होता। यदि एक जिन्स की कीमत बढ़ा दी जाती है तो उसी अनुपात में दूसरे सभी जिन्सों की कीमतें भी बढ़ जाएँगी। अतिरिक्त मूल्य हासिल करने के लिए मुद्रा के मालिक को बाजार में ऐसे जिन्स की खोज करनी पड़ी जो उपयोगी मूल्य होने के साथ-साथ मूल्य उत्पन्न करने का साधन भी हो अर्थात् ऐसा जिन्स जो अपनी खपत की प्रक्रिया द्वारा मूल्य की उत्पत्ति करे। मार्क्स का कहना है कि यह जिन्स है मानव की श्रम-शक्ति। अपनी खपत द्वारा श्रम-शक्ति मूल्य की उत्पत्ति करती है। मुद्रा का मालिक श्रम-शक्ति को उसका मूल्य देकर ख़रीद लेता है। अन्य सभी जिन्सों की भाँति श्रम-शक्ति का मूल्य भी इस बात के द्वारा निर्धारित होता है कि समाज की अवस्था-विशेष में श्रम-शक्ति को पैदा करने के लिए कितने समय के श्रम की आवश्यकता पड़ती है। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूर और उसके परिवार के भरण-पोषण का जितना खर्च बैठता है उतना ही उसके श्रम का मूल्य हुआ। श्रम-शक्ति को खरीदकर मुद्रा का मालिक उसे इस्तेमाल करता है। मान लीजिए कि एक मजदूर चार घण्टे काम करके इतना मूल्य उत्पादित कर लेता है जितना कि उसके और उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त है। लेकिन यदि मुद्रा का मालिक उससे चार घण्टे के बजाय आठ घण्टे काम कराता है तो शेष चार घण्टों में वह मजदूर जितना मूल्य उत्पादित करेगा वह अतिरिक्त मूल्य अथवा मालिक का मुनाफ़ा होगा।

हम देखते हैं कि कारखानों में मजदूरों को एक निश्चित समय तक रोजाना काम करना पड़ता है और उसके लिए उन्हें तय की गयी दर पर मजदूरी मिलती है। मान लीजिये एक मजदूर को दो रुपये रोज मजदूरी मिलती है और उसे आठ घण्टे काम करना पड़ता है। यदि चार घण्टे में वह जितना उत्पादन करता है उसका मूल्य दो रुपये के बराबर हो तो शेष चार घण्टों में वह दो रुपये का जो अतिरिक्त सामान उत्पादित करेगा वह अतिरिक्त-मूल्य अथवा मालिक का

मुनाफ़ा होगा।

पूँजीपति अपनी पूँजी को दो रूपों में लगाता है—पूँजी के एक हिस्से से वह उत्पादन के साधन यानी मशीनें आदि और कच्चा माल खरीदता है। कच्चे माल की पूरी-की-पूरी कीमत और उत्पादन के साधन की आंशिक कीमत उत्पादित जिन्स की कीमत में जोड़ दी जाती है। अतः इस पूँजी पर पूँजीपति को कोई मुनाफ़ा नहीं मिलता। यह पूँजी उतनी-की-उतनी वापस मिल जाती है और इस तरह उतनी-की-उतनी बनी रहती है। उसे मुनाफ़ा पूँजी के उस हिस्से पर होता है जिससे वह मजदूर की श्रम-शक्ति को खरीदता है। वह श्रम-शक्ति को जितने में खरीदता है, उससे कहीं अधिक मूल्य का उत्पादन वह उस श्रम-शक्ति द्वारा करता है। यही उसका मुनाफ़ा होता है।

पूँजीपति मजदूरों की श्रम-शक्ति द्वारा उत्पादित अतिरिक्त-मूल्य का मालिक होता है। पर वह इस समूचे अतिरिक्त-मूल्य अथवा मुनाफे को अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति पर खर्च नहीं करता। वह उसका कुछ अंश ही अपनी निजी आवश्यकताओं पर खर्च करता है और शेष को पूँजी के रूप में उत्पादन में लगा देता है। इस तरह अतिरिक्त-मूल्य (मुनाफ़ा) पूँजी का रूप ग्रहण कर लेता है।

पूँजी के संग्रह के फलस्वरूप पूँजीपति इस स्थिति में होता है कि वह विज्ञान के नये-नये आविष्कारों से लाभ उठाकर अपने कारखाने में बेहतर मशीन लगाए। इससे उसका मुनाफ़ा और भी बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए यदि वह मजदूर को दो रुपये रोज देता है और उससे आठ घण्टे रोज काम कराता है और यदि जिस मशीन की सहायता से मजदूर उत्पादन करता है वह मशीन ऐसी है जिससे मजदूर चार घण्टे में दो रुपये का मूल्य उत्पादित कर देता है तो शेष चार घण्टों में वह जितना मूल्य उत्पादित करेगा वह मालिक का मुनाफ़ा हुआ। लेकिन यदि मालिक उस मशीन की जगह बेहतर मशीन लगा देता है और अब मजदूर केवल दो घण्टे काम करके दो रुपये का मूल्य उत्पादित करने लगता है तो शेष छः घण्टों में वह जितना अतिरिक्त-मूल्य उत्पादित करेगा वह मालिक का मुनाफ़ा होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि मालिक का मुनाफ़ा बढ़ गया। मालिक मजदूरी के घण्टे बढ़ाकर भी ज्यादा मुनाफ़ा कमा सकता है। दूसरे, जैसे-जैसे ऐसी मशीनों का आविष्कार होता जाता है जिनको चलाने के लिए कम से-कम मजदूरों की जरूरत पड़े वैसे-वैसे बेकार मजदूरों की संख्या बढ़ती जाती है। इसके फलस्वरूप मालिक मजदूरी की दर घटाने में सफल हो

जाता है और उससे भी मालिक का मुनाफा बढ़ता है। परिणाम यह होता है कि मजदूरों की तबाही बढ़ती जाती है और पूंजीपतियों का मुनाफा तथा उनकी पूंजी बढ़ती जाती है।

हमने यहां मार्क्स द्वारा प्रस्तुत पूंजीवादी उत्पादन के विश्लेषण की केवल आधारभूत और मोटी-मोटी बातों का उल्लेख किया है। मार्क्स ने अपने इन्हीं सिद्धान्तों द्वारा पूंजीवादी उत्पादन मुद्रा और विनिमय आदि की समस्त प्रक्रियाओं तथा उनके समस्त पहलुओं पर विशद रूप से प्रकाश डाला है। उन्होंने इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार किराया समान सूद आदि सभी चीजों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है और यह साबित किया है कि परम्परावादी अर्थ शास्त्रियों द्वारा निर्धारित सिद्धान्त कितने खोखले हैं। पूंजीवादी समाज में किस ार से धनवानों व पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण होता है उसका होने बड़ी बारीकी के साथ विश्लेषण किया है और अपने इस विश्लेषण द्वारा इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि पूंजीवादी उत्पादन अपने विकास की प्रक्रिया में क ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है जबकि वह उत्पादन के तरीकों के विकास म बाधक बन जाता है और उसका परिणाम अवश्यम्भावी रूप से यही होता है कि पूंजीवादी मिल्कियत समाप्त कर दी जाती है। वह श्रमिक वर्गों में जो तबाही और बरबादी पैदा करता है उसके फलस्वरूप यह वर्ग उसके खिलाफ उठ खड़ा होता है और संगठित होकर उसकी मिल्कियत समाप्त कर देता है तथा उत्पादन के साधनों को समाज की मिल्कियत बना देता है। इस तरह पूंजीवादी उत्पादन का स्थान समाजवादी उत्पादन ग्रहण करता है। पूंजीवादी समाज के स्थान पर समाजवादी समाज का निर्माण होता है।

अध्याय ५

आर्थिक विचार—(२)

जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त बिल... नये और क्रान्तिकारी हैं। उन्होंने पूंजीवादी उत्पादन की प्रक्रिया का नये ...ढ़ग से विश्लेषण किया है। उनके आर्थिक सिद्धान्तों में मजदूरी और पूंजी की ...व्याख्या तथा उनके सम्बन्धों का विश्लेषण एक विशेष स्थान रखता है। अत ...हम नीचे ऐसे कुछ उदाहरण दे रहे हैं जिनसे मजदूरी और पूंजी-सम्बन्धी उनके विचार स्पष्ट हो जाएँगे।

मजदूरी

मार्क्स ने लिखा है कि—

"यदि मजदूरों से पूछा जाय 'तुम्हें कितनी मजदूरी मिलती है?' तो एक जवाब देगा 'मुझे मेरा मालिक एक मार्क रोज देता है' दूसरा कहेगा 'मुझे दो मार्क मिलते हैं,' और बाकी मजदूर भी इसी तरह के जवाब देंगे। मजदूरों के अलग-अलग पेशे होते हैं और वे अपने अलग-अलग पेशों के अनुसार अलग-अलग रकमें बताएँगे जो उन्हें अपने मालिकों से किसी खास तरह का काम पूरा करने के एवज में मिसाल के लिए एक गज कपड़ा बुनने या एक पेज मैटर कम्पोज करने के एवज में मिलती हैं। वे तरह-तरह के जवाब देंगे लेकिन इसके बावजूद एक बात पर वे सब सहमत होंगे वह यह कि मजूरी वह रकम है जो पूंजीपति किसी खास वक्त तक मेहनत करने या कोई खास चीज तैयार करने के एवज में देता है।

अतएव लगता है मानो पूंजीपति पैसा देकर उनकी मेहनत खरीदता है। मजदूर पैसे के एवज में उसके हाथ अपनी मेहनत बेचते हैं। लेकिन यह सब सिर्फ ऊपरी दिखावा है। असल में मजदूर पैसे के एवज में पूंजीपति के हाथों जो कुछ बेचते हैं वह उनकी श्रम-शक्ति होती है। पूंजीपति इस श्रम-शक्ति को एक दिन के लिए, एक सप्ताह के लिए, एक महीने के लिए, या ऐसे ही किसी निश्चित समय के लिए खरीद लेता है और खरीदने के बाद वह उसका इस्तेमाल करता

है, अर्थात् मजदूरों से निश्चित समय तक काम कराता है।
"मजदूर अपने माल को यानी अपनी श्रम-शक्ति को पूँजीपति के माल से
मानी पैसे से बदल लेते हैं और यह अदला-बदली अर्थात् विनिमय एक निश्चित
अनुपात में होता है। इतनी देर तक श्रम-शक्ति का उपयोग करने के लिए इतना
पैसा दे दिया जाता है जैसे बारह घण्टे तक बुनाई करने के लिए दो मार्क दिए
जाते हैं। और यही दो मार्क क्या उन तमाम चीजों का भी प्रतिनिधित्व नहीं
करते जिनको मैं दो मार्क देकर खरीद सकता हूँ? इसलिए, दरअसल मजदूर
ने अपने जिन्स का यानी अपनी श्रम-शक्ति का इसी प्रकार के अन्य जिन्सों से
विनिमय कर लिया है और यह उसने एक निश्चित अनुपात में किया है। पूँजी
पति ने उसे दो मार्क देकर वास्तव में उसकी दिन-भर की मेहनत के बदले में
इतना गोश्त इतना कपड़ा इतना ईंधन रोशनी आदि दी है। अतः दो मार्क
से वह अनुपात प्रकट होता है जिस अनुपात में श्रम-शक्ति का दूसर मालों के
साथ विनिमय होता है। दो मार्क से मजदूर की श्रम-शक्ति का विनिमय-मूल्य
जब मुद्रा के रूप में लगाया जाता है तब वह उसका दाम कहलाता है। मजदूरी
श्रम-शक्ति के दाम का ही एक विशेष नाम है जिसे आम तौर पर श्रम का दाम
कहा जाता है। मजदूरी उस विचित्र वस्तु की कीमत का विशेष नाम है, जो
केवल मानव-शरीर के रक्त और मांस में ही निवास करती है।
"अतः मजदूर जो माल तैयार करता है उसमें उसका हिस्सा मजदूरी नहीं
है। मजदूरी पहले से मौजूद जिन्सों का वह भाग है जिसके द्वारा पूँजीपति अपने
लिए एक निश्चित मात्रा में उत्पादन करने वाली श्रम-शक्ति खरीदता है।

मजदूर और पूँजीपति का सम्बन्ध

मजदूर और पूँजीपति के परस्पर सम्बन्धों के बारे में मार्क्स ने लिखा है—
अर्ध गुलाम किसान जमीन के साथ बँधा होता था और जमीन से जो कुछ पैदा
होता था वह सब जमीन के मालिक की भेंट कर देता था। दूसरी ओर, स्वतन्त्र मजदूर
खुद अपने को बेचता है। बल्कि सच तो यह है कि वह अपने को थोड़ा थोड़ा करके
बेचता है। अपने जीवन के आठ-दस-बारह-पन्द्रह घण्टे वह रोज नीलाम करता
है और सबसे ज्यादा कीमत देने वाले के हाथ उसे बेच देता है। उनको खरीदता
है कच्चे माल श्रम के यन्त्रों तथा जीवन-निर्वाह के साधनों का स्वामी यानी
पूँजीपति। मजदूर न तो मालिक की सम्पत्ति होता है और न ही उसके साथ
जीवन भर के लिए बँधा होता है लेकिन उसके दैनिक जीवन के आठ-दस-बारह
या पन्द्रह घण्टे उस पूँजीपति की सम्पत्ति होते हैं जो उन्हें खरीद लेता है। मजदूर

जिस पूँजीपति के हाथ अपने को किराये पर उठा देता है उसे वह जब चाहता है छोड़कर चल देता है और पूँजीपति भी जब चाहता है तब उसे जवाब दे देता है। जैसे ही वह देखता है कि मजदूर से उसे कोई मुनाफा नहीं हो रहा है या उतना मुनाफा नहीं हो रहा है जितने की उसने आशा की थी वैसे ही वह उसे निकाल बाहर करता है। लेकिन मजदूर का अपनी रोजी कमाने का एक मात्र साधन अपनी श्रम-शक्ति को बेचना है। वह श्रम-शक्ति के खरीदारों के पूरे वर्ग को यानी पूँजीपति-वर्ग को नहीं छोड़ सकता। यदि वह पूरे वर्ग को छोड़ देगा तो उसे अपने जीवन से हाथ धोना पड़ेगा। मजदूर इस या उस पूँजीपति की नहीं बल्कि पूरे पूँजीपति-वर्ग की सम्पत्ति होता है। इसके अलावा उसका रोजगार ही यह होता है कि वह अपने को बेचे यानी पूँजीपति वर्ग के अन्दर अपने लिए कोई खरीदार तलाश करे।"

कीमतों का निर्धारण

पूँजीवादी समाज में वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण किस तरह और किस आधार पर हुआ है, इस सम्बन्ध में मार्क्स ने लिखा है—

"किसी माल की कीमत कैसे निर्धारित होती है? खरीदारों और बेचनेवालों की प्रतियोगिता से, माल की जरूरत और उसकी पूर्ति के सम्बन्ध से, माँग और पूर्ति के सम्बन्ध से। यह प्रतियोगिता जिससे माल की कीमत निर्धारित होती है, तीन तरह की होती है।

एक ही तरह के माल बहुत से लोग बेचना चाहते हैं। यदि सबका माल गुण में एक-सा है तो जो अपना माल सबसे सस्ता बेचेगा वह निश्चय ही बाकी सबको मैदान से भगा देगा और उसी का माल सबसे ज्यादा बिकेगा। इस प्रकार, बेचनेवालों में आपस में ज्यादा-से-ज्यादा माल बेचने और बाजार हथियाने की होड़ होती है। उनमें से हरएक बेचना चाहता है हरएक ज्यादा-से-ज्यादा बेचना चाहता है और हरएक कोशिश करता है कि यदि मुमकिन हो तो वही अकेला बेचे और दूसरा कोई न बेच पाये। अतः हरएक दूसरे से सस्ता बेचने की कोशिश करता है। फलतः बेचने वालों में प्रतियोगिता होती है, जिससे उनके मालों की कीमतों में गिरावट आ जाती है।

लेकिन प्रतियोगिता खरीदारों के बीच भी होती है जिसका यह नतीजा होता है कि माल की कीमतें बढ़ जाती हैं।

अन्त में खरीदारों और बेचने वालों के बीच प्रतियोगिता होती है। खरीदार सस्ते-से-सस्ता खरीदना चाहते हैं और बेचने वाले महँगे-से-महँगा बेचना चाहते

है। खरीदने वालों और बेचने वालों के बीच चलने वाली इस प्रतियोगिता का परिणाम इस बात पर निर्भर करेगा कि प्रतियोगिता के दो स्वरूपों के बीच क्या सम्बन्ध है, यानी यह इस बात पर निर्भर करेगा कि खरीदारों के दल के अन्दर चलने वाली प्रतियोगिता ज्यादा तेज है या बेचने वालों के दल के अन्दर चलने वाली। उद्योग-धन्धे इन दो दलों को मैदान में एक-दूसरे के सामने लाकर खड़ा कर देते हैं और उनमें से प्रत्येक दल के अन्दर भी एक संघर्ष चलता रहता है, प्रत्येक दल के सिपाहियों के बीच भी लड़ाई जारी रहती है। जिस दल के सिपाही सबसे कम आपस में कटते-मरते हैं, वही विपक्षी दल पर विजय प्राप्त करता है।

मान लीजिए कि बाजार में रुई की १०० गाँठें हैं और साथ ही १००० गाँठों के खरीदार मौजूद हैं। यहाँ पूर्ति की अपेक्षा माँग दसगुनी ज्यादा है। खरीदारों में प्रतियोगिता बहुत तेज होगी। उनमें से हरएक गाँठ, और हो सके तो पूरी की-पूरी सौ गाँठें हथियाना चाहेगा। यह उदाहरण मनगढ़न्त नहीं है। रुई के व्यापार के इतिहास में हमें ऐसे कई मौकों का अनुभव हो चुका है जब कि कपास की फसल खराब हो गयी थी और जब चन्द पूँजीपतियों ने आपस में सांठ-गांठ करके सौ गाँठों पर ही नहीं बल्कि दुनिया में रुई के सारे स्टॉक पर कब्जा करने की कोशिश की थी। उपरोक्त उदाहरण में हरएक खरीदार दूसरे खरीदारों को मैदान से भगा देने के उद्देश्य से फी गाँठ ज्यादा कीमत देने को कहेगा। रुई बेचने वाले देखेंगे कि शत्रु-दल के सिपाही आपस में जोरों से लड़ रहे हैं और उनकी सौ-की-सौ गाँठों का बिक जाना बिलकुल निश्चित है, तब वे इस बात की पूरी कोशिश करेंगे कि कहीं उनमें भी आपस में ठन न जाय। वैसा होने पर ठीक ऐसे समय में जबकि उनके विरोधी एक-दूसरे से लड़कर रुई का दाम बढ़ा रहे हैं उनकी फूट रुई के दाम को नीचे गिरा देगी। अतः बेचने वालों की सेना में एकाएक शान्ति छा जाती है। वे एक आदमी की तरह खरीदारों के मुकाबले में खड़े हो जाते हैं और दार्शनिकों की तरह हाथ-पर-हाथ बाँध लेते हैं। ज्यादा से-ज्यादा उत्सुक और परेशान-से-परेशान खरीदार भी एक हद से ज्यादा दाम नहीं दे सकता। यदि ऐसा न हो तो ऐसी परिस्थिति पैदा होने पर बेचने वालों की माँगों की कोई सीमा ही न रहे।

तात्पर्य यह कि यदि किसी माल की पूर्ति उसकी माँग से कम है, तो बेचने वालों के बीच बहुत कम प्रतियोगिता होती है या बिलकुल नहीं होती। जिस अनुपात में यह प्रतियोगिता कम होती है, उसी अनुपात में खरीदारों के बीच

प्रतियोगिता बढ़ जाती है। नतीजा यह होता है कि माल की कीमतें कमोबेश काफ़ी बढ़ जाती हैं।

कीमतों में ऊँच-नीच क्यों होता है ?

वस्तुओं की कीमतों म ऊँच-नीच क्यों होता है ? इस सम्बन्ध म मार्क्स ने लिखा है—

"दामों के घटने-बढ़ने का क्या मतलब है ? ऊँचे दामों और नीचे दामों का क्या मतलब है ? एक दूरबीन से देखिए तो रेत का कण भी ऊँचा दिखाई देता है और एक पर्वत का मुकाबला कीजिए तो एक मीनार भी नीची मालूम होती है। यदि कीमत माँग और पूर्ति के सम्बन्ध स निर्धारित होती है तो माँग और पूर्ति के इस सम्बन्ध को कौनसी चीज निर्धारित करती है ?

"राह में जिस किसी पूँजीपति स भेंट हो जाय उसी से पूछिए। वह एक क्षण के लिए भी नहीं सोचेगा बल्कि सिकन्दर महान् की तरह इस दार्शनिक गुत्थी को झट स गुणा के पहाड़े से काटकर फेंक देगा। वह आपसे कहेगा मैं जिस माल को बेचता हूँ यदि उसके उत्पादन मे १ मार्क खर्च हुए हैं और यदि इस माल की बिक्री स मुझे साल भर के अन्दर ११० मार्क मिल जाते हैं तो वह एक बिलकुल सही न्यायोचित और ईमानदारी का मुनाफ़ा होगा। लेकिन यदि मुझे विनिमय में १२ या १३ मार्क मिल जाते हैं तो वह ऊँचा मुनाफ़ा होगा और यदि २ मार्क तक मिल गए तो वह बहुत ही असाधारण और बहुत ही ऊँचा मुनाफ़ा समझा जायगा। अतः प्रश्न यह उठता है कि पूँजीपति अपना मुनाफ़ा किस चीज स मापता है ? स्पष्ट है कि अपने माल के उत्पादन के खर्च स। यदि उसे इस माल के बदले म दूसरे माल की ऐसी मात्रा मिलती है जिसके उत्पादन म कम खर्च लगा है तो उसे नुकसान होता है। यदि अपने माल क बदले म उसे दूसरे माल की ऐसी मात्रा मिलती है जिसके उत्पादन में ज्यादा खर्च हुआ है तो उसे मुनाफ़ा होता है। वह अपने मुनाफ़ के घटने या बढ़ने का हिसाब इसी आधार पर लगाता है कि उसके माल का विनिमय-मूल्य इस शून्य-बिन्दु से (यानी उत्पादन के खर्च से) कितना कम या ज्यादा है।

इस प्रकार हम यह देख चुके हैं कि पूर्ति और माँग के बदलते हुए सम्बन्ध के कारण किस तरह दाम कभी बढ़ जाते हैं और कभी कम हो जाते हैं कभी ऊँचे हो जाते हैं और कभी नीचे गिर जाते हैं। यदि पूर्ति के अपर्याप्त होने या माँग के बहुत ज्यादा बढ़ जाने क कारण किसी माल का दाम काफ़ी बढ़ जाता

है तो आवश्यक है कि किसी और माल का दाम उसी अनुपात में गिर गया हो। कारण किसी भी माल का दाम मुद्रा के रूप में केवल यही बताता है कि उस माल के विनिमय में अन्य माल किस अनुपात में मिल सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक गज रेशमी कपड़े का दाम पाँच मार्क से बढ़कर छ मार्क हो जाता है तो इसका मतलब यह है कि रेशमी कपड़े के सम्बन्ध में चाँदी का दाम गिर गया है और इसी तरह दूसरे वे तमाम माल भी जिनके दाम पुराने स्तर पर ही हैं रेशम के सम्बन्ध में सस्ते हो गए हैं। पहले रेशमी कपड़े के बदले में इन मालों की जितनी मात्रा देनी पड़ती थी अब उतने ही रेशमी कपड़े के लिए पहले से ज्यादा मात्रा देनी पड़ती है। किसी माल का दाम बढ़ता जायगा तो उसका क्या नतीजा होगा ? उद्योग धन्धों की इस फलती-फूलती शाखा में बहुत-सी पूँजी चली आयेगी और इस शाखा में पूँजी की बाढ़ उस समय तक जारी रहेगी जब तक कि यह शाखा फिर मामूली मुनाफ़ा न देने लगेगी या शायद यह कहना ज्यादा सही होगा जब तक कि शाखा की पैदावार का दाम अधिक उत्पादन के कारण उत्पादन के खर्च से भी कम न हो जाय।

"इसके विपरीत यदि किसी माल का दाम उसके उत्पादन के खर्च से कम हो जाता है तो वसी दशा में उस माल के उत्पादन से पूँजी निकाल ली जाती है। ऐसे किसी उद्योग की बात दूसरी है जो एकदम पुराना और बेकार हो गया हो और इसलिए जिसका नष्ट हो जाना लाजिमी हो। लेकिन बाकी उद्योगों में से जब किसी में से पूँजी निकाली जाने लगती है तो उसके कारण उस माल की पूर्ति घटने लगती है और उस समय तक घटती जाती है जब तक कि वह माँग के स्तर पर नहीं आ जाती। उसके परिणामस्वरूप जब तक कि उस माल का दाम फिर उसके उत्पादन के खर्चे के स्तर पर नहीं आ जाता या शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि उस माल की पूर्ति उस समय तक घटती जाती है जब तक कि वह माँग से भी कम नहीं हो जाती यानी जब तक कि उस माल का दाम फिर उत्पादन के खर्चे से ज्यादा नहीं हो जाता। इसकी वजह यह है कि किसी भी माल का चालू दाम सदा उसके उत्पादन के खर्चे से या तो ज्यादा होता है या कम होता है।

हम देखते हैं कि पूँजी सदा एक उद्योग से निकलकर दूसरे उद्योग में आती-जाती रहती है। दाम बढ़ जाते हैं तो बहुत-सी पूँजी अन्दर चली आती है वे कम हो जाते हैं तो बहुत-सी पूँजी बाहर चली जाती है।

पूँजी

पूँजी की व्याख्या करते हुए मार्क्स ने लिखा है—"पूँजी में वह कच्चा

माल श्रम के वे औजार और जीवन-निर्वाह के वे सभी प्रकार के साधन शामिल हैं जो नया कच्चा माल श्रम के नये औजार तथा जीवन-निर्वाह के नये साधन पैदा करने के लिए इस्तेमाल होते हैं। पूंजी के ये सभी अंग श्रम की सृष्टि हैं, वे मेहनत की उपज हैं वे संचित श्रम हैं। जब संचित श्रम का नये उत्पादन के साधन के रूप में उपयोग किया जाता है तब वह पूंजी कहलाता है। अर्थशास्त्रियों का कहना यही है। एक हब्शी गुलाम क्या है? काली नस्ल का एक आदमी। यह व्याख्या भी वैसी ही है जैसी कि ऊपर दी गई पूंजी की व्याख्या है। हब्शी हब्शी होता है। केवल कुछ सम्बन्धों के कारण ही वह गुलाम बन जाता है। रुई कातने की जेनी एक मशीन है जो रुई कातने के काम आती है, केवल कुछ खास सम्बन्धों के कारण ही वह पूंजी बन जाती है। जैसे सोना अपने में मुद्रा नहीं होता और चीनी खुद चीनी का दाम नहीं होती वैसे ही इन खास प्रकार के सम्बन्धों से अलग कर देने पर रुई कातने की जेनी मशीन भी पूंजी नहीं रहती।

'उत्पादन में मनुष्य न केवल प्रकृति के ऊपर अपना असर डालते हैं वे एक-दूसरे को भी प्रभावित करते हैं। एक खास ढंग से आपस में सहयोग करके और अपनी कार्यवाहियों का पारस्परिक विनिमय करके ही मनुष्य उत्पादन करते हैं। उत्पादन करने के लिए उन्हें एक-दूसरे के साथ खास ढंग के सम्बन्ध और रिश्ते कायम करने पड़ते हैं और केवल इन सामाजिक सम्बन्धों और रिश्तों के भीतर काम करते हुए ही वे प्रकृति पर अपना असर डाल सकते हैं यानी उत्पादन कर सकते हैं।

'ये सामाजिक सम्बन्ध जो पैदावार करने वाले एक-दूसरे के साथ कायम करते हैं और वे परिस्थितियां जिनमें वे अपनी कार्यवाहियों का विनिमय करते हैं और उत्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया में भाग लेते हैं उत्पादन के साधनों के स्वरूप के अनुसार स्वभावतः बदल जाती हैं। जब युद्ध के एक नये अस्त्र का यानी बारूद से चलने वाली बन्दूकों और तोपों का आविष्कार हुआ तो सेना का पूरा भीतरी संगठन लाज़िमी तौर पर बदल गया। तब वे तमाम सम्बन्ध बदल गए, जिनके भीतर रहकर अलग-अलग व्यक्ति सेना बन सकते हैं और सेना के रूप में काम कर सकते हैं, और तब अलग-अलग सेनाओं के आपसी सम्बन्ध भी बदल गये।

'इसी प्रकार, जब उत्पादन के भौतिक साधनों का उत्पादन शक्तियों का परिवर्तन और विकास होता है तो उसके साथ-साथ उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध

भी बदल जाते हैं यानी उसके साथ-साथ वे सामाजिक सम्बन्ध भी बदल जाते हैं, जिनके भीतर रहकर अलग अलग व्यक्ति उत्पादन करते हैं। उत्पादन के सभी सम्बन्धों को एक साथ लिया जाय तो वे सामाजिक सम्बन्ध अथवा समाज कहलाते हैं, और यदि उसको अधिक ठोस नाम दिया जाय तो वह ऐतिहासिक विकास की एक निश्चित अवस्था का समाज कहलाता है, जो एक खास व अद्भुत ढंग का समाज होता है। प्राचीन समाज सामन्ती समाज पूँजीवादी समाज ये सब उत्पादन के सम्बन्धों के इसी प्रकार से जोड़ हैं। साथ ही इनमें से हरएक मानवता के इतिहास में विकास की एक खास अवस्था का सूचक है।

पूँजी भी उत्पादन का एक सामाजिक सम्बन्ध ही है। यह उत्पादन का पूँजीवादी सम्बन्ध है। यह पूँजीवादी समाज में पाया जाने वाला उत्पादन का सम्बन्ध है। क्या जीवन-निर्वाह के साधनों का श्रम के औजारों और कच्चे माल आदि का यानी उन तमाम चीजों का जो पूँजी में शामिल हैं, संचय कुछ खास सामाजिक परिस्थितियों में व कुछ खास सामाजिक सम्बन्धों के भीतर ही नहीं होता ? नये उत्पादन के लिए इन सब चीजों का इस्तेमाल क्या कुछ खास सामाजिक परिस्थितियों में व कुछ खास सामाजिक सम्बन्धों के भीतर ही नहीं होता ? और क्या यह सच नहीं है कि केवल इस खास ढंग के सामाजिक सम्बन्ध के कारण ही नये उत्पादन के लिए इस्तेमाल होने वाली पैदावार पूँजी बन जाती है ?

पूँजी में केवल जीवन-निर्वाह के साधन श्रम के औजार और कच्चा माल ही शामिल नहीं है, पूँजी में केवल भौतिक पैदावार ही शामिल नहीं है उसमें तरह-तरह के विनिमय-मूल्य भी शामिल हैं। पूँजी में जितनी भी चीजें शामिल हैं, वे सब बाजार में बिकने वाले माल होते हैं। इसलिए पूँजी केवल भौतिक पैदावार का ही जोड़ (संचय) नहीं है, वह बिकाऊ मालों का जोड़ है, वह विनिमय मूल्यों का जोड़ है, वह सामाजिक परिमाणों का जोड़ है।

पूँजी और मजदूरी का सम्बन्ध

पूँजी और मजदूरी के परस्पर सम्बन्धों के बारे में मार्क्स ने लिखा है —

"मजूरी और मुनाफा एक-दूसरे के उल्टे अनुपात में घटते-बढ़ते हैं। पूँजी का हिस्सा यानी मुनाफा उसी अनुपात में बढ़ जाता है जिस अनुपात में श्रम का हिस्सा यानी मजूरी कम हो जाती है और पूँजी का हिस्सा उसी अनुपात में घट जाता है जिस अनुपात में श्रम का हिस्सा बढ़ जाता है। जिस हद तक मजूरी घट जाती है उस हद तक मुनाफा बढ़ जाता है। जिस हद तक मजूरी बढ़ जाती

स हद तक मुनाफ़ा घट जाता है।

'पूँजी के तेज़ी से बढ़ने का मतलब मुनाफ़े का तेज़ी से बढ़ना है। मुनाफ़ा ी वक़्त तेज़ी से बढ़ सकता है जब श्रम का दाम अर्थात् सापेक्ष मज़ूरी उतनी ही से घट रही हो। यह सम्भव है कि नक़द मज़ूरी के साथ-साथ यानी मुद्रा म में मेहनत के दामों के साथ-साथ असली मज़ूरी भी बढ़ गयी हो मगर पेक्ष मज़ूरी फिर भी कम हो जाय क्योंकि हो सकता है कि वह उस अनुपात में ही बढ़ी हो जिस अनुपात में मुनाफ़ा बढ़ा है। उदाहरण के लिए, यदि कारबार की अच्छी हालत के दिनों में मज़ूरी पाँच प्रतिशत बढ़ जाती है लेकिन मुनाफ़ा उन्हीं दिनों तीस प्रतिशत बढ़ जाता है तो तुलनात्मक मज़ूरी (सापेक्ष मज़ूरी) बढ़ी नहीं है, बल्कि घट गयी है।

'इस प्रकार, यदि पूँजी के तेज़ी से बढ़ने के साथ ही मज़दूर की आमदनी नहीं बढ़ी है तो इसका मतलब यह हुआ कि उसके साथ-साथ वह सामाजिक खाई और गहरी हो गई है, जो मज़दूर को पूँजीपति से अलग करती है। इसका मतलब यह हुआ कि श्रम पर पूँजी का प्रभुत्व और बढ़ गया है और श्रम पहले से भी अधिक पूँजी पर निर्भर रहने लगा है।

'यह कहा जाता है कि पूँजी के तेज़ी से बढ़ने में मज़दूर का भी हित है, पर इसका मतलब तो केवल यह है कि मज़दूर जितनी जल्दी-जल्दी दूसरों की दौलत को बढ़ायेगा उतने ही ज़्यादा टुकड़े उसके सामने फेंके जायेंगे उतने ही अधिक मज़दूरों को नौकर रखा जायगा मज़दूरों की संख्या में उतनी ही बढ़ती हो जाएगी यानी पूँजी पर निर्भर रहने वाले गुलामों की तादाद उतनी ही बढ़ा दी जाएगी।

"इस प्रकार हमने देखा कि मज़दूर वर्ग के लिए सबसे अधिक हितकारी परिस्थिति होने पर भी यानी पूँजी के ज़्यादा-से-ज़्यादा तेज़ी से बढ़ने की हालत में भी उससे मज़दूर की आर्थिक दशा में भले ही चाहे जितना सुधार हो जाय पर उसके हितों तथा पूँजीपति वर्ग के हितों का उसके हितों और पूँजीपतियों के हितों का विरोध नहीं मिटता। मुनाफ़ा और मज़दूरी तब भी एक-दूसरे के उल्टे अनुपात में ही घटते-बढ़ते हैं।

'यदि पूँजी तेज़ी से बढ़ रही हो तो मज़दूरी भी बढ़ सकती है, लेकिन पूँजी का मुनाफ़ा उसकी अपेक्षा कहीं ज़्यादा तेज़ी से बढ़ता है। मज़दूर की आर्थिक स्थिति कुछ सुधर जाती है, मगर वह उसकी सामाजिक स्थिति को और भी बिगाड़ देती है। उसे पूँजीपति से अलग करने वाली सामाजिक खाई और भी चौड़ी हो जाती है।'

अध्याय ६

वर्ग-संघर्ष

मार्क्स का कहना है कि समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है। हम किसी भी समाज को लें हम देखेंगे कि उसके कुछ सदस्यों की चेष्टाओं और अन्य सदस्यों की चेष्टाओं में निरन्तर संघर्ष होता रहा है। सामाजिक जीवन असंगतियों से भरा हुआ है। एक ओर तो राष्ट्रों और समाजों के भीतर संघर्ष होता रहता है, दूसरी ओर राष्ट्रों और समाजों के बीच भी संघर्ष होता रहता है। कभी युद्ध होता है तो कभी शांति रहती है कोई दौर क्रान्ति का होता है तो कोई प्रतिक्रिया का। कभी समाज की प्रगति अवरुद्ध होती है तो कभी वह तेजी से तरक्की करता है या उसका तेजी से पतन होता है। मार्क्सवाद का दावा है कि उसने उन नियमों को खोज निकाला है जिनके अनुसार समाज का प्रगति अथवा अवनति होती है। मार्क्स का कहना है कि वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत द्वारा ही समाज की उपर्युक्त विभिन्न स्थितियों को समझा जा सकता है। किसी भी समाज अथवा समाजों के किसी भी गिरोह के समस्त सदस्यों की चेष्टाओं का अध्ययन करने पर ही हम उन चेष्टाओं के परिणामों की वैज्ञानिक [illegible] तक पहुँच सकते हैं। वर्गों में जो संघर्ष चलता रहता है और विभिन्न [illegible] लोग जो अलग अलग दिशाओं में चेष्टाएँ करते रहते हैं उसका [illegible] कारण उन वर्गों की अलग-अलग स्थिति और रहन-सहन का अलग-[illegible] होता है। अब तक के समस्त समाज वर्गों में विभाजित रहे हैं [illegible] इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है। प्रत्येक समाज में [illegible] वर्ग रहे हैं, जिनके बीच बराबर संघर्ष चलता रहा है। उनका [illegible] कभी तो छिपा हुआ होता है और कभी प्रकट रूप में। इस [illegible] या तो यह हुआ है कि समाज का क्रान्तिकारी रूप में [illegible] संघर्षरत वर्ग तबाह हो गये।

नये समाजों की उत्पत्ति के [illegible]

मार्क्स के कथनानुसार प्रत्येक नये समाज की [illegible]

संघर्ष के फलस्वरूप हुई है। सामन्तवादी समाज अपने वर्ग-संघर्ष के कारण तबाह हो गया और उसके खण्डहरों पर ही वर्तमान पूँजीवादी समाज का निर्माण हुआ। लेकिन इस पूँजीवादी समाज में भी ठीक वैसा ही वर्ग-संघर्ष मौजूद है जैसा कि सामन्तवादी समाज में था। अन्तर केवल यह है कि उसने नये वर्गों की स्थापना की है, शोषण और दमन के लिए नई परिस्थितियाँ पैदा की हैं, और संघर्ष के पुराने स्वरूपों की जगह नये स्वरूप प्रदान किए हैं। इस पूँजीवादी दौर की एक विशेषता यह भी है कि उसने वर्ग प्रवृत्तियों को बहुत स्पष्ट बना दिया है। पूरा-का-पूरा समाज धीरे-धीरे दो विरोधी खेमों में विभाजित होता जा रहा है। एक खेमे का नेतृत्व पूँजीपति वर्ग करता है, और दूसरे का सर्वहारा वर्ग और ये दोनों ही वर्ग एक दूसरे के सामने आ डटे हैं।

वर्तमान युग

फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद से यूरोप के अनेक देशों में वर्ग-संघर्ष अत्यन्त स्पष्ट रूप से सामने आया है। उसमें वह प्रच्छन्नता नहीं है जो पूर्ववर्ती समाजों के वर्ग-संघर्षों में थी। इसका परिणाम यह हुआ है कि फ्रांस में क्रान्ति के बाद ऐसे कितने ही इतिहासज्ञ हुए, जिन्होंने यह स्वीकार किया कि वर्ग-संघर्ष के माध्यम से ही फ्रांसीसी इतिहास को समझा जा सकता है। जहाँ तक वर्तमान युग का सम्बन्ध है यह पूँजीवाद की पूर्ण विजय का युग है। इस युग की विशेषताएँ हैं—विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाएँ, बड़े पैमाने पर मताधिकार, सस्ते और लोकप्रिय दैनिक-पत्र इत्यादि। यह युग यूनियनों का युग है जिसमें एक ओर तो मजदूरों के शक्तिशाली तथा निरन्तर बढ़ते रहने वाली यूनियनें हैं और दूसरी ओर मालिकों आदि की यूनियनें। अतः इस युग ने वर्ग-संघर्ष को अत्यन्त स्पष्ट बना दिया है और वह वर्ग-संघर्ष ही घटनाओं का मूल कारण होता है।

सर्वहारा व मध्यम वर्ग

मार्क्स का कहना है कि इस पूँजीवादी युग में पूँजीवादी वर्ग के विरोध में जितने भी वर्ग हैं उन सबमें केवल सर्वहारा वर्ग सच्चा क्रान्तिकारी वर्ग है। दूसरे सभी वर्गों का आधुनिक उद्योगों के विकास के फलस्वरूप ह्रास हो रहा है और व लुप्त होते जा रहे हैं। सर्वहारा वर्ग स्वयं पूँजीवादी समाज की उत्पत्ति है और पूँजीवादी समाज के अस्तित्व के लिए वर्ग का होना नितान्त आवश्यक है। निम्न-मध्यम वर्ग भी—जिसमें छोटे-छोटे निर्माता दुकानदार, कारीगर व

शिल्पकार तथा किसान आदि शामिल हैं—पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष करते हैं। लेकिन इनके संघर्ष का उद्देश्य यह होता है कि वे अपने को नेस्तनाबूद होने से बचा सकें और मध्यम वर्ग के अंग के रूप में अपना अस्तित्व कायम रख सकें। अतः ये वर्ग क्रान्तिकारी न होकर अनुदार (कंजरवेटिव) होते हैं। केवल यही नहीं वे प्रतिक्रियावादी होते हैं, क्योंकि वे इतिहास को पीछे ले जाने की कोशिश करते हैं। यदि इत्तफ़ाक से वे क्रान्तिकारी भूमिका अदा करते हैं तो इसकी वजह यह होती है कि वे अपने को सर्वहारा वर्ग में परिणत होने से बचाने की कोशिश करते हैं। इस तरह वे अपने वर्तमान हितों के बजाय भावी हितों की रक्षा करते हैं।

राजनीतिक संघर्ष

मार्क्स का यह भी कहना है कि प्रत्येक राजनीतिक संघर्ष वास्तव में वर्ग-संघर्ष होता है और उन्होंने अपने इस निष्कर्ष को प्रयुक्त करने के लिए विभिन्न राजनीतिक संघर्षों और उन संघर्षों में अदा की गई विभिन्न भूमिकाओं का विश्लेषण किया है।

धर्मों की भूमिका

मार्क्स का कहना है कि धर्म आदि भी शोषक वर्गों के हित-साधन में सहायता पहुँचाते हैं, क्योंकि उनके हित शोषक वर्गों के हितों के साथ जुड़े हुए होते हैं। यही कारण है कि साम्यवाद के विरोध में धर्माचार्य पूँजीपति वर्ग का साथ देते हैं।

पूँजीवाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मार्क्स का कहना है कि आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति उत्पादन और विनिमय के तरीकों में क्रान्तिकारी विकास होने के फलस्वरूप हुई और पूँजीपति वर्ग ने ऐतिहासिक दृष्टि से एक क्रान्तिकारी भूमिका अदा की है। उसने सामन्तवादी सम्बन्धों को समाप्त किया है। लेकिन इसके साथ-साथ उसने यह भी किया है कि अभी तक शोषण पर धर्म और भ्रामक राजनीतिक धारणाओं का जो परदा पड़ा रहता था उसे उसने उठा दिया है। फलतः छिपे हुए रूप में होने वाले शोषण का स्थान नग्न निर्लज्ज प्रत्यक्ष और बर्बर शोषण ने ग्रहण कर लिया है। अभी तक जो पेशे सम्मानजनक माने जाते थे पूँजीपति वर्ग ने उनकी सम्मानपूर्ण स्थिति समाप्त कर दी है। डॉक्टर, वकील पुरोहित कवि और वैज्ञानिक आदि सभी पगार लेकर काम करने वाले मजदूरों की श्रेणी में आ गये हैं।

पारिवारिक सम्बन्ध

मार्क्स ने यह दावा किया है कि पूँजीवाद ने पारिवारिक सम्बन्ध को भी बदल दिया है। पहले पारिवारिक सम्बन्ध भावनात्मक होते थे लेकिन अब पारिवारिक सम्बन्ध महज पैसे का सम्बन्ध बन गये हैं। पूँजीवाद ने सम्पूर्ण विश्व को अपना बाजार बनाया है और उसके द्वारा होने वाले विश्व-बाजार के शोषण के फलस्वरूप प्रत्येक देश के उत्पादन और उपभोग ने बहुराष्ट्रीय स्वरूप को ग्रहण कर लिया है। पुरानी शक्तियों का स्थान नई शक्तियों ने ग्रहण कर लिया है, जिनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूरस्थ देशों में उत्पादित होने वाली वस्तुओं की जरूरत पड़ती है।

राष्ट्रों का उदय

पूँजीवाद के उदय के फलस्वरूप राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता का स्थान राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता ने ले लिया है। बौद्धिक क्षेत्र में भी यही हुआ है। पूँजीवाद ने देहाती क्षेत्रों को शहरों के अधीन कर दिया है और बड़े-बड़े शहरों की उत्पत्ति हुई है। जिस तरह उसने ग्रामीण क्षेत्रों को शहरों पर आश्रित बना दिया है इसी तरह उसने अविकसित देशों को विकसित देशों पर आश्रित बना दिया है। उसने जनसंख्या को शहरों में केन्द्रित कर दिया है और उत्पादन के साधनों तथा सम्पत्ति को कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित कर दिया है। इसके फलस्वरूप राजनीतिक केन्द्रीकरण भी हुआ है। जो प्रदेश पहले एक-दूसरे से अलग-अलग थे और जिनकी सरकार, कर-व्यवस्था कानून और हित आदि अलग अलग थे वे एक-दूसरे के साथ मिलकर राष्ट्र बन गये हैं। इन राष्ट्रों की अपनी-अपनी एक सरकार है उनके अपने-अपने कानून हैं, उनके एक राष्ट्रीय हित हैं और उनकी सीमाएँ एक हैं। पूँजीवाद ने उत्पादन-शक्ति को जितना बढ़ा दिया है, उतनी वृद्धि पूर्ववर्ती समस्त पीढ़ियाँ मिलाकर भी न कर सकी थीं।

पूँजीपति वर्ग कैसे शक्तिशाली बना ?

पूँजीपति वर्ग जिस तरह विकसित हुआ तथा शक्तिशाली बना इसका विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने कहा है कि पूँजीवाद ने उत्पादन और विनिमय के जिन साधनों पर अपनी नींव खड़ी की है उसकी उत्पत्ति सामन्तवादी समाज में ही हो गयी थी। इन साधनों के विकास के फलस्वरूप सम्पत्ति-सम्बन्ध (सामन्तवादी सम्बन्ध) उत्पादन-शक्तियों के अनुरूप नहीं रह गए और वे उत्पादन-शक्तियों के विकास में बाधक बन गए। नतीजा यह हुआ कि वे सम्बन्ध समाप्त कर दिये

गए और उनका स्थान प्रतियोगिता ने ग्रहण किया और सामाजिक तथा राजनीतिक ढांचा भी उसी के अनुरूप बना। पूंजीवादी वर्ग ने आर्थिक और राजनीतिक विजय हासिल की। लेकिन मार्क्स का कहना है कि जिस प्रक्रिया ने सामन्तवादी व्यवस्था को समाप्त किया था उसी तरह की प्रक्रिया अब पूंजीवादी समाज में देखी जा सकती है। सम्पत्ति-सम्बन्ध (पूंजीवादी सम्बन्ध) आधुनिक उत्पादन शक्तियों के अनुरूप नहीं रह गए हैं जिसके फलस्वरूप आधुनिक उत्पादन-शक्तियों द्वारा सम्पत्ति-सम्बन्धों के विरुद्ध विद्रोह किए जाते रहे हैं। पूंजीवाद को समय समय पर संकटों का सामना करना पड़ता है। एक ओर तो उत्पादन के अधिक हो जाने के कारण उत्पादित वस्तुओं को नष्ट करना पड़ता है और दूसरी ओर नये बाजारों की खोज करनी पड़ती है। मार्क्स ने भविष्यवाणी की है कि इस तरह से व ज्यादा बड़े और ज्यादा विनाशकारी संकटों के लिए रास्ता साफ करते हैं। जिन अस्त्रों द्वारा पूंजीवाद ने सामन्तवाद को पराजित किया था वे ही अस्त्र अब उसके खिलाफ उठ खड़े हुए हैं। अपनी मौत लाने वाले इन अस्त्रों की उत्पत्ति स्वयं पूंजीवाद ने की है। इसके लिए उसने ही उस वर्ग की—सर्वहारा वर्ग की—उत्पत्ति की है जो इन अस्त्रों को उसके विरुद्ध प्रयुक्त करेगा। जिस अनुपात में पूंजीपतियों की पूंजी बढ़ रही है, उसी अनुपात में मजदूरों की संख्या बढ़ रही है। ये मजदूर तभी तक जीवित रह सकते हैं जब तक उन्हें काम मिलता रहे और उन्हें काम तभी तक मिल सकता है, जब तक उनका श्रम पूंजी में बढ़ोतरी कर सके। ये श्रमिक एक प्रकार के जिन्स बन गए हैं जो अपनी श्रम-शक्ति को बेचा करते हैं। फलतः अन्य जिन्सों की भांति उन पर भी बाजार के उतार चढ़ाव और प्रतिद्वंद्विता का असर पड़ता है।

मजदूरों की स्थिति

मशीनों के अत्यधिक प्रयोग तथा श्रम-विभाजन के कारण श्रमिकों के कार्य की वैयक्तिक विशिष्टताएं समाप्त हो गयी हैं और उन्हें काम में कोई दिलचस्पी नहीं रह गई है। मजदूर स्वयं भी मशीन का एक पुर्जा-मात्र बन गया है। उसकी मजदूरी में बराबर कमी हुई है, उस पर काम का बोझ बराबर बढ़ा है। साथ ही निम्न-मध्यम वर्ग के लोग धीरे धीरे तबाह होते और सर्वहारा वर्ग में शामिल होते जा रहे हैं। अतः सर्वहारा वर्ग में समाज के सभी वर्गों के लोग शामिल हुए हैं।

सर्वहारा वर्ग का विकास

मार्क्स का कहना है कि सर्वहारा वर्ग विकास की विभिन्न मंजिलों से गुजरता है। जन्म-काल से ही पूँजीपति वर्ग से उसका संघर्ष शुरू हो जाता है। शुरू में मजदूर इक्के-दुक्के ही झगड़ा करते हैं, तब एक कारखाने के मजदूर मिलकर, फिर शहर भर के किसी एक उद्योग के सब मजदूर एक साथ उस पूँजीपति से मोर्चा लेते हैं जो उनका सीधे-सीधे शोषण करता है। उनका हमला उत्पादन की पूँजीवादी परिस्थितियों के खिलाफ नहीं होता बल्कि खुद उत्पादन के औजारों के खिलाफ होता है। वे अपनी मेहनत के साथ होड़ करने वाले विदेशों से मँगाए गए मालों को नष्ट कर देते हैं, मशीनों को टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं, फैक्टरियों में आग लगा देते हैं और मध्य-युग के कारीगर की खोई हुई हैसियत को फिर से कायम करने की वे बलपूर्वक कोशिश करते हैं।

मजदूरों के संघर्ष के प्रारम्भिक स्वरूप के सम्बन्ध में मार्क्स ने कहा है कि शुरू-शुरू में मजदूरों में एकता नहीं होती देश-भर में वे इधर-उधर अलग-अलग बिखरे रहते हैं और आपसी होड़ के कारण वे अलग-अलग टुकड़ों में बँटे रहते हैं। अगर कहीं वे थोड़े-बहुत संगठित होते भी हैं, तो उसका कारण उनकी अपनी सक्रिय एकता नहीं बल्कि पूँजीपतियों की एकता होती है। पूँजीपति वर्ग को स्वयं अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पूरे मजदूर-वर्ग को क्रियाशील करना पड़ता है और ऐसा करने में कुछ समय के लिए, अभी तक सफल भी होता रहा है। इसलिए इस अवस्था में सर्वहारा वर्ग के लोग अपने शत्रुओं से नहीं लड़ते बल्कि वे अपने शत्रुओं के शत्रुओं से (निरंकुश राजतन्त्र के अवशेषों सामन्तों गैर-औद्योगिक पूँजीपतियों मध्यम वर्ग के लोगों से) लड़ते हैं। इस प्रकार, इस समय की सम्पूर्ण ऐतिहासिक प्रगति के कर्ता-धर्ता पूँजीपति होते हैं। इस तरह हासिल की गई हर जीत पूँजीपति की जीत होती है।

लेकिन मार्क्स का कहना है कि उद्योग-धन्धों के विकास के साथ-साथ सर्वहारा वर्ग की संख्या में ही वृद्धि नहीं होती बल्कि भारी संख्या में जगह-जगह उसका जमाव हो जाता है, उसकी ताकत बढ़ जाती है और उसे अपनी इस ताकत का अधिकाधिक एहसास होने लगता है। मशीनों का उपयोग ज्यों-ज्यों श्रम के तमाम भेदों को मिटाता जाता है, त्यों-त्यों मजदूरों के तमाम हित और जीवन की परिस्थितियाँ भी एक-जैसी ही होती जाती हैं और उनकी मजदूरी भी घटकर लगभग सब जगह प्राय एक समान हो जाती है। पूँजीपति वर्ग की बढ़ती हुई आपसी होड़ और उससे पैदा होने वाले व्यापारिक संकटों के कारण मजदूरों

की मजदूरी की दर और भी अनिश्चित हो जाती है। मशीनों का निरन्तर और दिन-दूना रात-चौगुना होता हुआ विकास मजदूरों की जीविका को अधिकाधिक खतरे में डालता जाता है। मजदूरों और पूँजीपतियों की अलग-अलग टक्करें दिनों-दिन दो वर्गों के बीच की टक्करों का रूप धारण करती जाती हैं। तब पूँजी-पतियों का मुकाबला करने के लिए मजदूर अपने संघ (ट्रेड यूनियनें) बनाने लगते हैं, मजदूरी की दर को कायम रखने के लिए वे संगठित होते हैं समय समय पर होने वाले इन विद्रोहों के लिए पहले से तैयार रहने के वास्ते वे स्थायी संस्थाओं की स्थापना करते हैं और जहाँ-तहाँ उनकी लड़ाई बलवों का रूप भी धारण कर लेती है।

मजदूरों की ताकत उत्तरोत्तर किस तरह बढ़ती है, इस सम्बन्ध में मार्क्स ने कहा है कि यद्यपि जब-तब मजदूरों की जीत भी हो जाती है लेकिन ये जीतें केवल क्षणिक होती हैं। उनकी लड़ाइयों का असली फल तात्कालिक सफलता के रूप में नहीं मिलता बल्कि मजदूरों की निरन्तर बढ़ती हुई एकता के रूप में मिलता है। आधुनिक उद्योग-धन्धों द्वारा उत्पन्न किये गए यातायात के साधनों से जो अलग-अलग जगहों के मजदूरों को एक-दूसरे के सम्पर्क में ला देते हैं एकता-स्थापन में मदद मिलती है। एक ही तरह के अनेक स्थानीय संघर्षों को मिलाकर उन्हें राष्ट्रीय संघर्ष का रूप देने के लिए ठीक इसी प्रकार के सम्पर्क की जरूरत थी। लेकिन प्रत्येक वर्ग-संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष होता है और मध्य-युग के व्यापारियों को तात्कालीन रद्दी सड़कों-रास्तों के कारण जिस एकता को हासिल करने के लिए सदियों की जरूरत पड़ी थी उसी को रेलों की कृपा से आधुनिक मजदूर कुछ ही वर्षों में हासिल कर लेते हैं।

मजदूरों के संगठन

मजदूरों के संगठन के सम्बन्ध में मार्क्स का कहना है कि मजदूरों का यह संगठन स्वयं मजदूरों की आपसी होड़ के कारण बराबर टूटता-बिखरता रहता है। लेकिन हर बार वह फिर उठ खड़ा होता है पहले से भी अधिक मजबूत दृढ़ और शक्तिशाली होकर। खुद पूँजीपति वर्ग की भीतरी कलह का फायदा उठाकर वह मजदूरों के विशेष अधिकारों को कानूनी रूप से मनवा लेता है। इंगलैण्ड में दस घण्टे के दिन का कानून इसी तरह पास हुआ था। पूँजीवादी समाज के भीतर होने वाले विभिन्न संघर्षों से मजदूर वर्ग को किस तरह लाभ पहुँचता है, इस सम्बन्ध में मार्क्स ने कहा है कि पुराने समाज के विभिन्न वर्गों की टक्करें कुल मिलाकर मजदूर वर्ग के विकास को अनेक रूपों में मदद पहुँचाती

है। पूंजीपति वर्ग बराबर अपने को किसी-न-किसी लड़ाई में फंसा हुआ पाता है, पहले सामन्ती अमीर-उमरा के साथ फिर खुद पूंजीपति वर्ग के उन अंगों के साथ जिनके हित उद्योग-धन्धों की प्रगति के विरोधी हो गए हों और विदेशी पूंजीपतियों के साथ तो सदा ही। इन तमाम लड़ाइयों के समय उसे मजदूर वर्ग से अपील करने के लिए, उसकी मदद मांगने के लिए, और इस प्रकार उसे राजनीतिक अखाड़े में खींच लाने के लिए मजबूर होना पड़ता है। अतः मजदूरों को राजनीतिक तथा दूसरी सामान्य शिक्षा देने का काम पूंजीपति वर्ग खुद करता है अर्थात् मजदूर वर्ग को अपने खिलाफ लड़ाई के हथियारों से वह स्वयं ही लैस करता है।

मार्क्स का यह भी कहना है कि उद्योग-धन्धों की उन्नति के कारण शासक-वर्गों के कितने ही अंग मजदूरों की भरती में ढकेल दिये जाते हैं या कम-से-कम उनकी जीविका के लिए खतरा पैदा हो जाता है। ये लोग भी मजदूरों के बीच शिक्षा का प्रकाश फैलाकर उनकी प्रगति में मदद देते हैं।

मार्क्स का कहना है कि उपर्युक्त कारणों से अन्त में जब वर्ग-संघर्ष बढ़ता-बढ़ता निर्णायक घड़ी पर पहुंच जाता है तो शासक वर्ग ही नहीं सम्पूर्ण पुराने समाज के अन्दर टूट-फूट की प्रक्रिया इतनी उग्र और स्पष्ट रूप धारण कर लेती है कि स्वयं शासक वर्ग का एक छोटा हिस्सा उससे अलग होकर क्रान्तिकारी वर्ग के साथ (उस वर्ग के साथ जिसके हाथ में भविष्य की मशाल है) आ मिलता है। अतः जिस तरह पहले के एक युग में सामन्तों का एक भाग टूटकर पूंजीपति वर्ग से आ मिला था उसी तरह अब पूंजीपति वर्ग का एक अंग और खास तौर से पूंजीवादी विचारकों का एक अंग मजदूर वर्ग से आकर मिल जाता है। पूंजीवादी विचारकों का यह अंग वह होता है जिसने समाज की पूरी ऐतिहासिक प्रगति को सैद्धान्तिक रूप से समझ लिया हो।

"पूंजीपति वर्ग के खिलाफ आज जितने भी वर्ग खड़े हैं उन सबमें वास्तव में क्रान्तिकारी वर्ग केवल मजदूर वर्ग है। दूसरे वर्ग आधुनिक उद्योग-धन्धों की चपेट में आकर नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं और अन्त में उनका लोप हो जाता है।

निम्न-मध्यम वर्ग के लोग—छोटे कारखानेदार, दुकानदार, दस्तकार व किसान—अपनी मध्यवर्गीय हस्ती को बनाये रखने के लिए पूंजीपति वर्ग से लोहा लेते हैं। इसलिए क्रान्तिकारी न होकर वे रूढ़िवादी होते हैं। इतना ही नहीं वे प्रतिक्रियावादी होते हैं क्योंकि वे इतिहास के चक्र को पीछे की ओर घुमाने की कोशिश करते हैं। अगर संयोग से वे कभी क्रान्तिकारी होते भी हैं तो सिर्फ इसलिए कि

वे देखते हैं कि बहुत जल्दी वे भी मजदूरों की श्रेणी में पहुँच जायगे। इस प्रकार वे अपने वर्तमान हितों की नहीं बल्कि अपने भावी स्वार्थों की रक्षा करते हैं। अपने दृष्टिकोण को तिलांजलि देकर वे मजदूर वर्ग के दृष्टिकोण को अपना लेते हैं।

मार्क्स का कहना है कि आज तक जितने वर्गों के हाथ में ताकत आई है उन सबने अपनी ताकत को बनाये रखने के लिए पूरे समाज को शोषण की चक्की में पीसने की कोशिश की है। अपने शोषण की पद्धति को और उसके साथ साथ सभी पुरानी शोषण-पद्धतियों को जड़-मूल से उखाड़े बिना मजदूर वर्ग समाज की उत्पादन-शक्तियों का स्वामी नहीं बन सकता।

वर्ग-संघर्ष का ऐतिहासिक विश्लेषण और पूँजीवादी समाज के वर्ग-संघर्ष का चित्रण करके मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मजदूरों का संघर्ष एक विशेष अवस्था में पहुँचकर खुली क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है और पूँजीपति वर्ग को बलपूर्वक उखाड़ फेंकता है तथा मजदूरों की हुकूमत की नींव डाल देता है।

मार्क्स की भविष्यवाणी

मार्क्स का कहना है कि पूँजीपति वर्ग के जीवन और शासन के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि पूँजी बने और दिनों-दिन बढ़ती जाय। पूँजी के लिए मजदूरों की मजूरी आवश्यक है। मजदूरों की मजूरी का मिलना पूर्णतया मजदूरों की आपसी होड़ पर निर्भर करता है। पूँजीपति वर्ग न चाहते हुए भी उद्योग-धन्धों की उन्नति करता है। इससे आपसी होड़ के कारण उत्पन्न हुआ मजदूरों का बिलगाव खत्म हो जाता है और उसके स्थान पर एकता के ऊपर आधारित उनका क्रान्तिकारी संगठन पैदा हो जाता है। इस तरह आधुनिक उद्योग-धन्धों का विकास पूँजीपति वर्ग के पैरों के नीचे से उस जमीन को ही खिसका देता है जिसके आधार पर वह उत्पादन और शोषण करता है। इसलिए, पूँजीपति वर्ग जो सबसे बड़ी चीज पैदा करता है वह है उन लोगों का वर्ग जो खुद उसकी कब्र खोद डालेंगे। उसका खात्मा और मजदूर वर्ग की जीत दोनों ही समान रूप से अनिवार्य हैं।

अध्याय ६

समाजवाद

मार्क्स का कहना है कि जिस तरह सामन्तवादी व्यवस्था ने पूँजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया ठीक उसी तरह पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर समाजवादी व्यवस्था का कायम होना अवश्यम्भावी है। इस नई व्यवस्था का जन्म पूँजीवादी वर्ग और मजदूर वर्ग के संघर्ष के फलस्वरूप होगा। मजदूर वर्ग के नेतृत्व में दूसरे सभी मेहनतकश वर्ग पूँजीवादियों के हाथ से सत्ता छीनकर उत्पादन के साधनों को पूरे समाज की मिल्कियत बना देंगे। यही व्यवस्था समाजवाद होगी। उसमें सभी लोगों को उनके काम के अनुसार वेतन मिलेगा। पर उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार न होने के कारण न कोई शोषक होगा और न कोई शोषित। इस सामाजिक व्यवस्था में अलग-अलग वर्ग नहीं रहेंगे। कारखानों का प्रबन्ध मजदूरों के सक्रिय सहयोग से राज्य द्वारा हुआ करेगा और समाज की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व सरकार पर होगा।

साम्यवाद

मार्क्स का कहना है कि बाद में यही समाजवादी समाज विकसित होकर एक ऐसी अवस्था में पहुँचेगा जिसे साम्यवाद कहते हैं। समाजवाद में तो लोगों को वेतन उनके काम के अनुसार दिया जायगा लेकिन साम्यवाद में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार वेतन दिया जायगा। यह इसलिए सम्भव हो सकेगा कि उत्पादन-शक्तियाँ इतनी विकसित हो चुकी होंगी कारखानों आदि की उत्पादन-क्षमता इतनी ज्यादा हो चुकी होगी कि प्रत्येक व्यक्ति को बहुत थोड़ी देर काम करना पड़ा करेगा और उत्पादन इतना अधिक हुआ करेगा कि वह जरूरत से बहुत ज्यादा होगा। अतः उस समाज में सबकी आवश्यकताएँ पूरी की जा सकेंगी।

समाजवाद व साम्यवाद का अन्तर

समाजवाद और साम्यवाद में एक अन्तर यह भी होगा कि समाजवाद में तो राज्य की सत्ता यानी सरकार का अस्तित्व रहेगा। आर्थिक और सामाजिक

जीवन का संचालन व नियमन उसी के द्वारा हुआ करेगा। पर जब समाज साम्यवादी अवस्था में पहुँचेगा तब राज्य-सत्ता अथवा सरकार का लोप हो चुका होगा। यह समाज अपना नियमन स्वयं करेगा। वह समाज की ऐसी विकसित अवस्था होगी जब किसी को भी किसी चीज का अभाव नहीं होगा और न तो पुलिस या सेना की आवश्यकता रह जायेगी और न न्यायालय आदि की।

सामाजिक विकास की प्रमुख अवस्थाएँ

भावी समाज की इस मार्क्सवादी परिकल्पना तथा उसकी ऐतिहासिक अवश्यम्भाविता के सम्बन्ध में मार्क्स के सहयोगी फ्रेडरिक एंगेल्स ने विशद रूप से लिखा है। सामाजिक विकास का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा कि समाज को निम्नलिखित प्रमुख अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ा है—

१ मध्यकालीन समाज—उत्पादन तब वैयक्तिक था और छोटे पैमाने पर होता था। उत्पादन के साधन व्यक्तिगत इस्तेमाल के लिये बने थे। इसलिए वे बाबा आदम के जमाने के थे भद्दे थे हलके थे और उपयोगिता में क्षुद्र थे। उत्पादन उत्पादक या सामन्ती प्रभु के तात्कालिक उपभोग के लिये होता था। अगर कहीं इससे अधिक चीजें उत्पन्न हुई तो उन्हें बिक्री के लिये लाया जाता था और उनका विनिमय होता था। माल का उत्पादन प्रारम्भिक अवस्था में था किन्तु सामाजिक उत्पादन में अराजकता बीज रूप में उसमें विद्यमान थी।

२ पूँजीवादी क्रान्ति—उद्योग-धन्धों में भारी परिवर्तन हो गया पहले मिल-जुलकर अर्थात् सहयोगपूर्वक काम करने से और तब कारखानों के खुलने से। उत्पादन के साधन अब तक बिखरे हुए थे। अब उन्हें बड़े-बड़े कारखानों में एकत्र कर दिया गया। फलस्वरूप इन साधनों के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। वे वैयक्तिक से सामाजिक बन गये। किन्तु विनिमय की प्रणाली पर इसका असर प्रायः नहीं के बराबर था। स्वामित्व और वितरण की पुरानी पद्धति ज्यों-की-त्यों बनी रही। पूँजीपति का उदय हुआ। उत्पादन के साधनों का स्वामी होने के कारण पूँजीपति उत्पादित वस्तुओं का भी स्वामी बन गया और इस प्रकार उसने उन वस्तुओं को माल में परिवर्तित कर दिया। उत्पादन सामाजिक बन गया था किन्तु विनिमय और उसके साथ वितरण तथा स्वामित्व वैयक्तिक ही बने रहे। सामाजिक पैदावार को वैयक्तिक पूँजीपति ने हथिया लिया। वर्तमान समाज के मूल में यह भारी असंगति पैदा हो गयी। इस एक से ही वे सारी असंगतियाँ उत्पन्न हुईं जिनसे वर्तमान समाज जकड़ गया है। आधुनिक उद्योग-धंधे

उन्हें उभार देते हैं। वे असंगतियाँ ये हैं—

(क) उत्पादन के साधन उत्पादकों के हाथ से छीन लिये गए हैं। मजदूरों को आजीवन मजूरी करने के लिए मजबूर कर दिया गया है। इसलिए पूँजीवादियों और मजदूरों में परस्पर विरोध उत्पन्न हो गया है।

(ख) *माल-उत्पादन के नियमों का जोर बढ़ता जाता है अतएव वे अधिकाधिक शक्तिशाली बन रहे हैं।* प्रतियोगिता का बाजार गर्म है। अलग अलग कारखानों का संगठन तो सामाजिक ढंग पर किया गया है किन्तु उत्पादन के पूरे क्षेत्र में व्यापक अराजकता छायी है। इसलिए दोनों के बीच विरोध उत्पन्न हो गया है।

(ग) प्रतियोगिता पूँजीपतियों को दो बातों के लिए बाध्य करती है। एक ओर तो मशीनों का सुधार करना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। फलस्वरूप नयी-नयी मशीनें मजदूरों की अधिकाधिक संख्या का स्थान छीन लेती हैं जिससे बेकार मजदूरों की औद्योगिक फौज खड़ी हो जाती है। दूसरी ओर उत्पादन का निरन्तर विकास और विस्तार करना भी पूँजीपतियों के लिए नितान्त आवश्यक और अनिवार्य बन जाता है। दोनों ही परिणामों के फलस्वरूप उत्पादन-शक्तियों का अभूतपूर्व विकास होता है। जितने की माँग होती है उससे अधिक चीज पैदा होने लगती है। बहु-उत्पादन का रोग फैलता है। बाजारों में माल ठसाठस भर जाता है। हर दसवें साल आर्थिक संकट आता है। सारा समाज तेजी और मन्दी के भँवर में चक्कर काटने लगता है। कहीं उत्पादन के साधनों और उत्पादित वस्तुओं की अधिकता दीख पड़ती है, *कहीं जीविका के साधनों से रिक्त बेकार मजदूरों की।* किन्तु सामाजिक समृद्धि की इन शक्तियों की इतनी अधिकता होने पर भी वे काम में नहीं लायी जातीं। पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली उन्हें कार्यशील होने से रोकती है। सच पूछिये तो उनकी अधिकता ही उत्पादन-शक्तियों और उत्पादित वस्तुओं के बेकार रहने का कारण बन जाती है। पूँजीवादी समाज में कोई भी उत्पादन-शक्ति तब तक काम में नहीं लायी जा सकती कोई भी उत्पादित वस्तु तब तक किसी के लिये नहीं रखी जा सकती जब तक कि पहले वह पूँजी का रूप नहीं धारण कर लेती। बहुलता के बीच दुर्लभता की यह असंगति अब इतनी बढ़ गयी है कि उसने हास्यास्पद और मूर्खतापूर्ण रूप

प्रारम्भ कर दिया है। उत्पादन की प्रणाली विनिमय-पद्धति के खिलाफ विद्रोह कर रही है। पूँजीवादी इतने अयोग्य हो गये हैं कि अपनी सामाजिक उत्पादन-शक्तियों का प्रबन्ध नहीं कर पाते।

(च) उत्पादन-शक्तियों के सामाजिक स्वरूप को कुछ अंशों में स्वीकार करने के लिए पूँजीपतियों को भी बाध्य होना पड़ा है। उत्पादन और यातायात की बड़ी-बड़ी संस्थाओं का लिमिटेड कम्पनियों तथा ट्रस्टों के और अन्त में राज्यों के अधिकार में आ जाना इसका प्रमाण है। पूँजीवादी वर्ग ने अपने को निकम्मा प्रमाणित कर दिया है। उसके सभी सामाजिक कर्तव्य अब वेतनभोगी कर्मचारियों द्वारा पूरे किए जाते हैं।

३ सर्वहारा क्रान्ति—उपरोक्त असंगति को मिटाने का केवल एक मार्ग है—सर्वहारा वर्ग राजसत्ता पर अधिकार कर ले। इस सत्ता के सहारे उत्पादन के साधनों को पूँजीवादियों के दुर्बल हाथों से छीनकर वह उन्हें सार्वजनिक सम्पत्ति बना दे। इस कार्य द्वारा उत्पादन के साधनों को पूँजी के बंधनों से वह मुक्त कर देगा और अपने सामाजिक स्वरूप की प्रतिष्ठा करने का उन्हें (उत्पादन के साधनों को) मुअवसर देगा। उस अवस्था में समाज का उत्पादन पहले से बनी योजना के अनुसार हो सकेगा। उत्पादन का विकास हो जाने से समाज में विभिन्न वर्गों का अस्तित्व अनावश्यक और निरर्थक बन जायगा। जैसे-जैसे सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र से अराजकता दूर होती जायगी वैसे-ही-वैसे राज्य के राजनीतिक अधिकारों का भी अन्त होता जायगा। मनुष्य अपने सामाजिक संगठन का स्वामी बन जाएगा। अतः वह प्रकृति का और अपने-आप का भी स्वामी बनेगा। इतिहास में पहली बार मनुष्य पूर्णतः स्वतन्त्र होगा।

सामन्तवाद से पूँजीवाद

फ्रेडरिक एंगेल्स ने अपनी पुस्तक 'समाजवाद : काल्पनिक और वैज्ञानिक' में लिखा है कि माल उत्पादन की जो प्रणाली मध्य-युग में विकसित हुई थी उसमें यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता था कि श्रम की पैदावार का मालिक कौन हो। हर चीज को पैदा करने वाला कोई-न-कोई व्यक्ति था जो वैयक्तिक ढंग से काम करता था। कच्चे माल का वही मालिक था या कभी-कभी कच्चे माल को भी वह स्वयं ही पैदा कर लेता था। श्रम के औजार उसके अपने थे और शारीरिक श्रम भी उसका ही या उसके परिवार के लोगों का था। इस तरह से

सर्वहारा वर्ग की भूमिका

के अधिकाधिक भाग को सर्वहारा की स्थिति में लाकर पूंजीवादी
प्रणाली ने ही यह शक्ति उत्पन्न कर दी है जो अपने अस्तित्व की रक्षा
मुक्ति का पथ अपनाने पर बाध्य हो गयी है। सामाजिक स्वरूप वाले
उत्पादन-साधनों का राजकीय सम्पत्ति में परिवर्तित करके वह खुद इस
को पूरा करने का रास्ता दिखाती है। (सर्वहारा वर्ग राजसत्ता पर
करता है और सबसे पहले उत्पादन के साधनों को राजकीय सम्पत्ति
देता है। किन्तु इससे सर्वहारा वर्ग भी सर्वहारा के रूप में अपना अस्त
ता है, हर तरह के वर्ग-विभेदों और वर्ग-विरोधों का भी अन्त कर देता है,
राज्य का भी राज्य के रूप में अन्त कर देता है। अब तक का समाज ऐसी
पर आधारित था। अतएव उस राज्य की आवश्यकता थी, अर्थात्
युग के शोषक वर्ग को एक ऐसे संगठन की आवश्यकता थी जो तत्कालीन
दन प्रणाली के लिए आवश्यक बाह्य स्थितियों की रक्षा कर सके अर्थात्
शोषित वर्ग को उस युग की उत्पादन प्रणाली के लिए आवश्यक उत्पीड़न
अवस्था में दासता या मजूरी की अवस्था में बलपूर्वक बनाये रखे। राज्य
समाज का अधिकारी प्रतिनिधि उसका साकार रूप माना जाता था।
किन्तु इस आशय को राज्य केवल तभी प्राप्त कर सका था जब वह एसे वर्ग
का संगठन था जो स्वयं उस युग के पूरे समाज का प्रतिनिधित्व कर रहा था।
प्राचीन युग में दास रखने वाले नागरिकों का राज्य मध्य युग के सामन्ती
ठाकुरों का राज्य और आजकल के पूंजीवादियों का राज्य कुछ काल के लिए
ऐसा ही था। किन्तु भविष्य में जब राज्य पूरे समाज का सचमुच प्रतिनिधि बन
जायगा तो फिर उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। अव्यवस्थापूर्ण उत्पादन
के कारण आज व्यक्तिगत जीवन के लिए संघर्ष होता है। किन्तु जब इस
संघर्ष और वर्गीय शासन का अन्त हो जायगा तो फिर समाज के भीतर लड़ाई
झगड़ों और अत्याचारों के लिए भी कोई जगह न रह जायगी। जब ऐसा हो
जाएगा, जब समाज में ऐसा वर्ग ही नहीं रहेगा जिसे दबाकर रखना आवश्यक
हो, तब राज्य-सरीखे किसी विशेष दमन-यंत्र की भी आवश्यकता न होगी, क्योंकि
पूरे समाज के प्रतिनिधि के रूप में राज्य सचमुच तभी प्रकट होगा जब कि सारे
समाज के नाम पर वह उत्पादन के साधनों पर अधिकार कर ले। किन्तु राज्य
का यह प्रथम सर्व-हितैषी कार्य उसका अन्तिम कार्य है। इसके बाद सामाजिक
सम्बन्धों में एक के बाद एक क्षेत्र से राजकीय हस्तक्षेप की आवश्यकता उठ

रूपगी और अन्त में हस्तक्षेप ही बन्द हो जायगा। व्यक्तियों पर शासन के स्थान पर वस्तुओं पर शासन होने लगेगा और शासन-कार्य उत्पादन-क्रियाओं का संचालन करना हो जायगा। राज्य को 'भंग' नहीं किया जायगा, उसका लोप हो जायगा। 'स्वाधीन जनराज्य' का नारा लगाया जाता है। आन्दोलन के लिए इस नारे के औचित्य को जाँचना तथा अन्ततोगत्वा उसकी वैज्ञानिक अपर्याप्तता को दिखलाना आवश्यक है। इस नारे पर विचार करते समय और तथाकथित अराजकतावादियों की राज्य को एकाएक भंग कर देने की माँग की समीक्षा करते समय हमें इसी दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए।

विचारकों की कल्पनाएँ

पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के प्रचलन के बाद से कितने ही विचारकों ने भविष्य में एक ऐसे समाज के स्थापित होने की कल्पना की जिसमें उत्पादन के सभी साधनों पर समाज का ही अधिकार होगा। किन्तु यह कल्पना तभी साकार हो सकती थी यह आदर्श तभी ऐतिहासिक आवश्यकता का रूप धारण कर सकता था जब उसकी प्राप्ति के लिए अनिवार्य भौतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जायें। कुछ खास विचारों के मस्तिष्क में आ जाने से ही सामाजिक प्रगति नहीं होती। यह तो लोगों ने अनुभव किया कि वर्गों का अस्तित्व न्याय और समानता की धारणा के प्रतिकूल है। साथ ही इन वर्गों को मिटा देने की इच्छा भी कई विचारकों में उत्पन्न हुई। किन्तु अनुभूति और इच्छा से ही वर्गों को नहीं मिटाया जा सकता। सामाजिक क्षेत्र की अन्य प्रगतियों की भाँति समाजवाद का आदर्श भी नयी आर्थिक परिस्थितियों द्वारा ही प्राप्त हो सकता था। शोषक और शोषित तथा शासक और शासित वर्गों में समाज का विभाजन उत्पादन के अल्प विकास का आवश्यक परिणाम था। जब तक समाज के सारे श्रम से जो वस्तुएँ उत्पन्न होती थीं वे सबके जीवन की साधारण आवश्यकताओं से कुछ ही अधिक थीं। अतएव समाज के अधिकतर व्यक्तियों का सारा या लगभग सारा समय मेहनत करने में ही बीत जाता था। इसलिए समाज में वर्गों का होना अनिवार्य था। मेहनतकश जनता के साथ-ही-साथ एक ऐसे वर्ग का विकास हुआ जो प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में कोई भाग न लेता था किन्तु सामाजिक प्रबन्ध के कार्यों की देखभाल करता था। यह वर्ग उन लोगों का था जो उत्पादन तथा शासन-सम्बन्धी कार्यों को सँभालते और न्याय कला विज्ञान आदि का अनुशीलन करते थे। सच पूछिए तो विभिन्न वर्गों में समाज के विभाजन के पीछे श्रम के ही विभाजन का सिद्धान्त काम कर रहा था। किन्तु इस कथन का यह

अर्थ नहीं है कि वर्गों की स्थापना में हिंसा और लूट तथा धोखेबाजी और ठगी का सहारा नहीं लिया गया या यह भी अर्थ नहीं कि शासन की बागडोर हाथ में आ जाने पर शासक वर्ग ने श्रमजीवी वर्ग को दबा-सताकर अपनी स्थिति नहीं मजबूत की अथवा सामाजिक प्रबन्ध के अपने अधिकार का दुरुपयोग करके उसने जनता का शोषण नहीं किया।

वर्ग विभाजन

इन कारणों से समाज का वर्गों में विभाजन ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ-कुछ उचित कहा जाता था। किन्तु साथ ही हमें यह न भूलना चाहिए कि एक निश्चित काल के लिए और कुछ निश्चित सामाजिक अवस्थाओं में ही इस विभाजन का औचित्य था। इस औचित्य का आधार था उत्पादन की अपर्याप्तता जो कि आधुनिक उत्पादन-शक्तियों के विकास से अवश्य ही मिट जायगी। सामाजिक वर्गों के निराकरण की धारणा में ऐतिहासिक विकास की एक ऐसी अवस्था की भी कल्पना की गई है जिसमें न केवल किसी विशेष शासक वर्ग का बल्कि शासक वर्ग नामक सामाजिक शक्ति का ही अर्थात् वर्ग-विभेद का ही औचित्य एवं अस्तित्व मिटकर रहेगा। उक्त अवस्था में उत्पादन का इतना अधिक विकास हो गया रहेगा कि उत्पादन के साधनों के और उत्पादित वस्तुओं के स्वामित्व को किसी विशेष वर्ग के हाथ में देने तथा शिक्षा राजनीति और बौद्धिक नेतृत्व के क्षेत्र में इस वर्ग की एकमात्र प्रधानता मानने की आवश्यकता न रहेगी। बल्कि सच तो यह है कि किसी भी वर्ग के एकछत्र प्रभुत्व के स्थापित होने से समाज के आर्थिक राजनीतिक और बौद्धिक विकास में बहुत बड़ी बाधा पड़ेगी।

पूँजीवाद का दिवालियापन

अब यह अवस्था आ गई है। अपने राजनीतिक और बौद्धिक दिवालियापन से पूँजीवादी भी अब अपरिचित नहीं हैं और उनके आर्थिक दिवालियापन की घोषणा तो हरएक दस साल पर डंके की चोट से होती है। हर एक संकट के समय पूँजीवादी समाज स्वयं अपनी उत्पादन-शक्तियों और उत्पादित वस्तुओं के भारी बोझ के तले पिसने लगता है। उत्पादित वस्तुओं का कोई उपयोग नहीं दीखता और यह विचित्र असंगति उत्पन्न हो जाती है कि उत्पादक किसी वस्तु को खरीद नहीं सकते क्योंकि समाज में कोई खरीदार नहीं मिलता। उत्पादन के साधनों की बढ़ती हुई शक्ति उन बन्धनों को तोड़ डालेगी जिनमें पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली ने इन साधनों को बाँध रखा है। वह अवस्था अब आ गई

है। इस प्रकार उत्पादन-शक्तियों के प्रबाध और निरन्तर विकास की आवश्यक
शर्त पूरी हो जाएगी और उत्पादन की प्रायः असीम वृद्धि का रास्ता खुल
जाएगा। प्रचलित उत्पादन-पद्धति में उत्पादित वस्तुओं और उत्पादन-शक्तियों
की बहुत बड़ी बरबादी होती है जो संकट के दिनों में अपनी चरम सीमा पर पहुँच
जाती है। उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार हो जाने से न केवल ऊपर
बताये गए बन्धनों और कृत्रिम प्रतिबन्धों का ही अन्त हो जाएगा बल्कि वह
बरबादी भी मिट जाएगी। इतना ही नहीं वर्तमान शासक वर्ग के लोगों और
उनके राजनीतिक प्रतिनिधियों की मूर्खतापूर्ण विलासिता और फिजूलखर्ची का
अन्त हो जाने से उत्पादन के साधनों और उत्पादित वस्तुओं की महान् राशि का
उपयोग सारे समाज के लिए हो सकेगा। इतिहास में पहली ही बार क्यों न हो
लेकिन यह सम्भावना आज उत्पन्न हो गई है कि सामाजिक उत्पादन द्वारा प्रत्येक
व्यक्ति के जीवन को भौतिक दृष्टि से सुखी और दिनों-दिन अधिकाधिक समृद्ध
बनाया जा सके। अब यह सम्भावना उत्पन्न हो गई है कि हरेक व्यक्ति अपनी
शारीरिक और मानसिक शक्तियों का भरपूर विकास कर सकेगा और उनका
स्वतन्त्र रूप से प्रयोग कर सकेगा। यह सम्भावना पहली बार मौजूद हुई है
मगर वह मौजूद है।

उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार

उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार हो जाने से (यानी समाजवाद
की स्थापना हो जाने पर) माल-उत्पादन की पद्धति का अन्त हो जाएगा। साथ
ही उत्पादकों पर उत्पादित वस्तुओं का प्रभुत्व भी मिट जाएगा। सामाजिक
उत्पादन का संगठन सोच-समझकर योजनापूर्ण ढंग से होगा। अराजकता दूर
कर दी जाएगी। व्यक्तिगत जीवन के लिए संघर्ष का अन्त हो जाएगा। एक
तरह से वह अवस्था आ जाएगी जब मनुष्य पशु-जीवन की अवस्थाओं को पीछे
छोड़कर सचमुच मानवीय जीवन के क्षेत्र में प्रवेश करेगा। अब तक जीवन की
अवस्थाओं और परिस्थितियों ने ही मनुष्य पर शासन किया था किन्तु अब उन
पर मनुष्य शासन करने लगेगा। अपने सामाजिक संगठन का स्वामी होने के
कारण अब मनुष्य पहली बार प्रकृति का सचान स्वामी बनेगा। उसके अपनी
सामाजिक क्रियाओं के नियम अब तक बाहरी तथा अनियन्त्रित प्राकृतिक नियमों
का रूप धारण करके मनुष्य का नियंत्रण करते थे। अब मनुष्य उनको पूरी
तरह समझकर काम में लाएगा उनका वह स्वयं नियंत्रण करेगा। सामाजिक
संगठन अब तक मनुष्य का विरोधी था, अतः वह प्रकृति तथा इतिहास द्वारा

निर्मित स्वेच्छाचारी विधान प्रतीत होता था। किन्तु अब वह (संकल्प) मनुष्य की इच्छा पर आधारित विधान बन जाएगा। इतिहास की गतिविधि अब तक वस्तुगत और बाह्य शक्ति द्वारा निर्धारित होती आई थी। अब उसका निर्माण मनुष्य स्वयं करेगा। मनुष्य स्वयं अपने इतिहास का नियामक और विधाता बनेगा। मनुष्य द्वारा परिचालित सामाजिक क्रियाओं के परिणाम अब से मुख्यतः और अधिकाधिक मात्रा में उसकी इच्छा-आकांक्षाओं के अनुकूल होंगे। इस प्रकार मनुष्य जाति आवश्यकता के गर्त से निकलकर स्वाधीनता के क्षेत्र में पहुँच जाएगी।

थोरस्टीन वेवलन

(THORSTEIN VEBLEN)

अध्याय १

भूमिका

थोरस्टीन वेबलन (Thorstein Veblen) (१८५७-१९२९) का जन्म अमरीका के विसकोनसिन फार्म में हुआ था। उनके माता-पिता नार्वेजियन थे जो कि अमरीका में आकर बस गये थे। इस परिवार में कुल नौ सदस्य थे। कुछ समय बाद यह परिवार मिनेसोटा चला गया जहाँ वेबलन ने कार्लटन कालेज में शिक्षा पायी। इस कालेज में भर्ती होने के समय उनकी अवस्था केवल बीस वर्ष की थी। तीन वर्ष में उन्होंने डिग्री हासिल कर ली। इसके बाद उन्होंने जान्स होपकिन्स (१८८१) याले (१८८१-८४) और कार्नेल (१८९०-९२) में स्नातकोत्तर (पोस्ट-ग्रेजुएट) शिक्षा हासिल की। १८८४ से १८९० तक का समय उन्होंने स्वाध्याय में लगाया।

अध्यापन-कार्य

१८९२ में वेबलन को शिकागो विश्वविद्यालय में अध्यापन-कार्य मिल गया। यहाँ उनके एक प्रोफेसर, जे० लारेंस लाफलिन अर्थशास्त्र-विभाग के अध्यक्ष हो गये थे और उन्हीं की सहायता से वेबलन की नियुक्ति हुई। वे इस विश्वविद्यालय में कई वर्ष तक रहे और अपनी प्रमुख पुस्तकें यहीं रहकर तैयार कीं। इससे उनकी प्रतिष्ठा तो बढ़ गयी लेकिन उनके स्वभाव और व्यवहार से विश्वविद्यालय के अधिकारी असंतुष्ट थे। फलतः वे सहायक प्रोफेसर होकर १९०६ में स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय चले गये। पर वहाँ भी लोग उनसे उसी तरह परेशान रहे। अब उनके पास केवल यही एक रास्ता रह गया कि वे मिसूरी विश्वविद्यालय में लेक्चरर हो जायें और उन्हें यही करना पड़ा। यह बात १९११ की है। पर यहाँ का वातावरण उनके लिए और भी प्रतिकूल साबित हुआ। १९१८ में वे न्यूयार्क-स्थित सामाजिक अन्वेषण के एक स्कूल में चले गये और १९२७ में अवकाश ग्रहण करने तक वहीं रहे। इस स्कूल में जाने से पूर्व वेबलन ने कुछ समय तक वाशिंगटन में खाद्य-प्रशासन में भी काम किया था और 'डायल मैगज़ीन' के सम्पादक-मण्डल में शामिल हो गये थे। सामाजिक अन्वेषण स्कूल में प्रारम्भ में उनके लेक्चर सुनने के

लिए बहुत से छात्र आये लेकिन वे इतने धीमे बोलते थे कि छात्रों की संख्या शीघ्र ही घटने लगी। इस स्कूल को छोड़ने के बाद सन् १९२९ में ७२ वर्ष की उम्र में उनका देहावसान हो गया ।

मानसिक झुकाव

वैसे तो वेबलन अर्थशास्त्री थे लेकिन १८७० और १८८ की दशाब्दियों में चलने वाले दार्शनिक विवादों ने उनका झुकाव दर्शन-शास्त्र की ओर कर दिया था। पर उन्हें न तो हीगेल के विचारवादी द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त में दिलचस्पी थी और न मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में। उन्होंने तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों का विश्लेषण अपनी तरह से किया और धनिकों की धन-संग्रह की प्रवृत्तियों की कड़ी आलोचना की। पत्रकारिता के प्रति भी उन्हें नफरत थी और वे पत्रों कालेजों तथा गिरजाघरों को पूंजीपतियों के हित-साधक मानकर उनकी निन्दा किया करते थे। अध्यापक के रूप में भी वे बड़े कड़े थे और न तो स्नातक-पूर्व कक्षाओं के छात्रों के समक्ष कभी लेक्चर देते थे और न कभी किसी छात्र को परीक्षा में 'सी' से ज्यादा ऊंची श्रेणी देते थे।

लेखन-शैली

वेबलन ने इतिहास, प्राणी-शास्त्र, मनोविज्ञान और राजनीति-शास्त्र का गहरा अध्ययन किया था। उनकी लेखन-शैली पुराणात्मक कथाकारों-जैसी थी। वे भारी भरकम शब्दों का प्रयोग किया करते थे और व्यंग्यात्मक ढंग से लिखते थे। उनकी प्रत्येक पुस्तक को तत्कालीन संस्कृति पर एक लम्बा-चौड़ा व्यंग्य कहा जा सकता है। वे अपनी पुस्तकों के लिए मौलिक विषय चुनते थे और उनके विचार भी मौलिक हुआ करते थे। फिर भी उनकी पुस्तकों ने तत्कालीन विचारों को प्रभावित नहीं किया। उनके शिष्यों तथा पाठकों की संख्या भी बहुत ही कम थी। एक दिलचस्प बात यह थी कि यद्यपि वे मुख्यतया अर्थशास्त्री थे उनकी कृतियों ने समाज-शास्त्रियों, दार्शनिकों तथा इतिहासकारों को ज्यादा आकृष्ट किया। पिछले बीस वर्षों में उनकी ख्याति बहुत बढ़ी है और उनकी कृतियों के अध्ययन में समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के छात्रों ने रुचि ली है।

अध्याय २

सामाजिक विकास-सम्बन्धी सिद्धान्त

वेबलन विकासवादी अर्थशास्त्री थे। उनका कहना था कि 'आर्थिक विज्ञान' पुराना पड़ चुका है। समाज विकास करता रहता है और वह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में पहुँचता है। पर सुनिश्चित सामाजिक अथवा आर्थिक व्यवस्था-जैसी कोई चीज नहीं होती अतः विभिन्न व्यवस्थाओं में अन्तर्निहित नियमों की खोज करने का प्रश्न ही नहीं उठता। उनकी दृष्टि में मार्क्स का सामाजिक सिद्धान्त भी पुराना पड़ चुका है। वह सिद्धान्त उस युग का है जब कि डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त की खोज नहीं हो पायी थी। मार्क्स के अर्थशास्त्र के बारे में भी उनकी राय थी कि वह बुनियादी रूप से शास्त्रीय (क्लेसिकल) है। समाज का विकास किसी पूर्वनिश्चित प्रक्रिया के अनुसार नहीं होता और यह समझना गलत है कि वह किसी पूर्व-निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है, जिसके कारण उसे पूर्व-निश्चित व्यवस्थाओं से होकर गुजरना पड़े और एक व्यवस्था के बाद किसी दूसरी पूर्व-निश्चित व्यवस्था का आना अनिवार्य हो। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मार्क्स ने समाज के विकास के नियमों की खोज की है और अपने विश्लेषणों द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि एक सामाजिक व्यवस्था के बाद दूसरी सामाजिक व्यवस्था का आना लाजिमी होता है। गुलामी प्रथा के बाद सामन्तवादी व्यवस्था का आना और उसके बाद पूँजीवादी व्यवस्था का आना लाजिमी था और ठीक उसी तरह अब समाजवादी व्यवस्था का आना लाजिमी है। पर वेबलन इस सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि सामाजिक विकास व्यवस्थाओं की कड़ी नहीं है। ऐसा नहीं होता कि सामाजिक विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप एक व्यवस्था के बाद दूसरी व्यवस्था आये बल्कि होता केवल यह है कि अपने विकास की प्रक्रिया में समाज एक स्थिति से दूसरी स्थिति में पहुँचता है।

सामाजिक व्यवस्था का आधार

मार्क्स और वेबलन में एक बुनियादी अन्तर और भी है। मार्क्स ने आर्थिक व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था तथा संस्कृति का आधार माना है। उनका कहना

है कि सर्वप्रथम आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन होता है। उसके बाद सामाजिक व्यवस्था उसी के अनुरूप बन जाती है तथा उसी आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप संस्कृति का जन्म होता है। आर्थिक व्यवस्था रूपी नींव पर ही सामाजिक व्यवस्था तथा संस्कृति रूपी भवन का निर्माण होता है। लेकिन वेबलन का सिद्धान्त इसके ठीक विपरीत है। उनका कहना है कि प्रमुख सांस्कृतिक विशिष्टताओं से ही किसी आर्थिक व्यवस्था को जाना जा सकता है यानी जैसी संस्कृति होती है वैसी ही आर्थिक व्यवस्था। समाज का जैसा ढाँचा होता है और जिस तरह के सामाजिक मूल्यों का बाहुल्य होता है उसी तरह का लोगों का तौर-तरीका होता है। सही वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह है कि इस बात का अध्ययन किया जाय कि सामाजिक ढाँचे व सामाजिक मूल्यों की उत्पत्ति कैसे हुई वे लोगों के तौर-तरीके को किस तरह प्रभावित करते हैं और उस सबके परिणामस्वरूप समाज में क्या परिवर्तन आता है।

समाज का विकासवादी विश्लेषण

वेबलन ने विभिन्न दृष्टिकोणों से समाज का विकासवादी विश्लेषण प्रस्तुत किया है। एक विकासवादी समाजशास्त्री होने के कारण वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि लुटेरों और उद्यमशील लोगों के बीच सदैव संघर्ष रहा है और यही संघर्ष सभ्यता के सम्पूर्ण इतिहास की विशेषता रही है। सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में इस संघर्ष का रूप अलग-अलग रहा है। यह लूट-खसोट कभी तो नग्न रूप में रही है तो कभी उस पर नैतिक वांछनीयता और सामान्य हितों की सुरक्षा का पर्दा पड़ा रहा है। जो एक युग में लुटेरों के सरदार के रूप में सामने आया वही दूसरे युग में उद्योग के 'कप्तान' के रूप में सामने आया (वेबलन पूँजीपतियों को उद्योग के कप्तान कहा करते थे।) शान्तिपूर्ण व्यापार पर कर लगाने वाले ही सेठ-साहूकार बन गये। यह लूट-खसोट किस हद तक हो सकती है, यह उत्पादन की प्रणाली पर निर्भर करता है। जिस उत्पादन-प्रणाली में अतिरिक्त उत्पादन की जितनी अधिक क्षमता होती है उसमें लूट-खसोट की उतनी ही अधिक गुंजाइश रहती है और अतिरिक्त उत्पादन की क्षमता औद्योगिक कलाओं की स्थिति पर निर्भर करती है। ये औद्योगिक कलाएँ जितनी विकसित होती हैं उद्योगों की उत्पादन-क्षमता उतनी ही अधिक होती है।

सामाजिक अन्तर्विरोध

उनका कहना है कि मशीनों के प्रादुर्भाव के कारण जो कि सम्पत्ति के ... साधन हैं, एक बिल्कुल नये तरह के जीवन-मूल्यों की

आवश्यकता है। पर वर्तमान औद्योगिक समाज में भी बर्बर युग के जीवन-मूल्य कायम हैं। धन संग्रह करने वाले लोग (यानी पूँजीपति) जिस तरह की लूट खसोट करते हैं, वह प्रगट करता है कि उनके जीवन-मूल्य वही हैं जो बर्बर युग के लुटेरों के थे, जब कि वर्तमान औद्योगिक युग के जीवन-मूल्य *बिल्कुल भिन्न* होने चाहिए। यह विरोधाभास ही वर्तमान समाज की सबसे बड़ी समस्या है। अतः समाजशास्त्रियों का यह कर्तव्य है कि वे इन विरोधाभासों को स्पष्ट रूप से प्रकाश में लावें ताकि उन्हें दूर करने का कोई रास्ता निकल सके। वेबलन ने इन विरोधाभासों को दूर करने का स्वयं कोई *रास्ता नहीं सुझाया है।*

समाज का मूल्यांकन

वेबलन ने वर्तमान समाज का मूल्यांकन सामाजिक मापदण्डों द्वारा किया। पर वे समाज के गुणों व दोषों का विश्लेषण इस प्रकार करते थे मानो वे वर्तमान सभ्यता के अंग न होकर किसी उच्चतर सभ्यता से अवतरित हुए हों। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका सामाजिक मूल्यांकन बड़ा भयंकर होता था। उन्होंने धनिकों की बड़ी कटु आलोचनाएँ की हैं। यद्यपि वे ऐसे समाज में रहते थे जिसकी सभ्यता पर व्यापार व उद्योग का प्रभुत्व था तथापि उन्होंने व्यापार के प्रति तीव्र घृणा प्रगट की। उन्होंने पूँजीवादी बुराइयों का पर्दाफाश किया और अपने आरोप प्रमाणित करने के लिए बहुत से तथ्य प्रस्तुत किये। ऐसा करने के पीछे उनका उद्देश्य यह दिखाना था कि पूँजीवाद के समर्थकों द्वारा पूँजीवाद के जो सिद्धान्त प्रस्तुत किए जाते हैं उनमें और पूँजीवादी समाज के व्यक्तियों के वास्तविक आचरण में जमीन-आसमान का अन्तर है। इन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने के पीछे पूँजीवाद के समर्थकों का उद्देश्य लोगों को भ्रम में डालना होता है ताकि वे वास्तविकता को समझ न पावें और ऐसे कदम न उठा सकें जिससे आधुनिक यंत्र-विज्ञान (टेक्नोलॉजी) का पूरा लाभ सम्पूर्ण मानवता को पहुँच सके। अतः वेबलन ने वर्तमान सिद्धान्तों को (पूँजीवाद के समर्थकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को) बदलकर ऐसे सिद्धान्त प्रतिपादित करने पर जोर दिया है जो वस्तुस्थिति के अनुरूप हों।

अध्याय ३

आर्थिक विचारधारा

वेबलन मुख्यतया अर्थशास्त्री थे लेकिन उन्होंने आर्थिक मामलों के प्रति एकांगी अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण न अपनाकर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाया और पूँजीवादी अर्थतन्त्र तथा पूँजीवादी समाज का विश्लेषण करने के लिए सामाजिक मानदण्डों का सहारा लिया। अतः उनकी आर्थिक विचारधारा ने अर्थशास्त्रियों को उतना आकृष्ट नहीं किया जितना कि समाज-शास्त्रियों को। वे एक स्वतन्त्र विचारक थे और किसी भी 'स्कूल' अथवा दल के नहीं थे। यही नहीं वे ऐसे पहले अमरीकी अर्थशास्त्री थे जिन्होंने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए यूरोपीय अर्थशास्त्रीय परम्पराओं का सहारा नहीं लिया। उनके समय के अमरीकी अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त तत्कालीन ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों पर आधारित होते थे। वेबलन इन अमरीकी अर्थशास्त्रियों का मजाक बनाते थे और उन्होंने अपना सफर एकाकी तय किया।

आर्थिक मनुष्य

वे एक ओर तो क्लैसिकल अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध थे और दूसरी ओर मार्क्सवादी अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के। वे 'आर्थिक मनुष्य' सम्बन्धी सिद्धान्त को नहीं मानते थे। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान युग एक अर्थ प्रधान युग है और मनुष्य एक स्वतन्त्र व प्रतिद्वन्द्वी बाजार में एक वस्तु की भाँति है। इस अर्थ-प्रधान समाज में मनुष्य की प्रेरक शक्ति होती है आनन्द प्राप्त करने और कष्ट से बचने की इच्छा। मनुष्य में यही इच्छा सबसे अधिक बलवती होती है और उसके समस्त कार्य-कलाप केवल इसी इच्छा द्वारा प्रेरित होते हैं। वेबलन इस प्रकार के मनुष्य का अस्तित्व स्वीकार करने को तैयार न थे। उनका कहना है कि न तो मनोविज्ञान इस तरह के मनुष्य को जानता है और न इतिहास। वास्तविक जगत में भी इस तरह के मनुष्य का अस्तित्व कहीं भी दीख नहीं पड़ता।

मूल्य व्यवस्था

वेबलन ने वर्तमान आर्थिक व्यवस्था की आलोचना करते हुए कहा है कि उसे पूँजीवाद अर्थ-व्यवस्था कहना या व्यक्तिवादी व्यवस्था कहना गलत है। यह

तो दरअसल एक ऐसी 'मूल्य व्यवस्था' है (वह व्यवस्था जिसका आधार वस्तुओं का मूल्य हो) जिसे मुग-असोस्ट अर्थतंत्र कहना चाहिए। उनके कथनानुसार पुराण-पंथी अर्थशास्त्रियों का यह कहना गलत है कि पूंजीपति जो मुनाफा कमाता है उसे वह उत्पादन के अंगों के कुशल संगठन तथा उनके कुशल कार्य-संचालन द्वारा कमाता है। इसी तरह उनके मतानुसार, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र का यह सिद्धान्त गलत है कि पूंजीपति का मुनाफा दरअसल उस मानव-श्रम का मूल्य होता है जो पूंजीपति मजदूर को न देकर स्वयं हड़प लेता है। वेबलन के सिद्धान्तानुसार मुनाफा आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त औद्योगिक टेक्नीक का परिणाम होता है।

आधुनिक अर्थतन्त्र का विश्लेषण

वेबलन ने आधुनिक अर्थतन्त्र का विश्लेषण करते हुए कहा है कि यन्त्र-विज्ञान (टेक्नोलॉजी) के कारण उद्योगों को यह क्षमता प्राप्त होती है कि वे उन वस्तुओं का उत्पादन कर सकें जिनकी लोगों को आवश्यकता हो। लेकिन व्यापार और उद्योग में अन्तर होता है। व्यापार वह माध्यम होता है जिसके द्वारा उद्योगों पर कब्जा किया जाता है ताकि उद्योगों से मुनाफा कमाया जा सके। धन पैदा करना एक चीज है और जिन्स उत्पादित करना दूसरी चीज। इन दोनों की प्रक्रियाएं अक्सर परस्पर-विरोधी होती हैं। जो व्यक्ति बहुत अधिक धन कमाता है वह अक्सर ऐसा व्यक्ति होता है जो ज्यादा उत्पादन नहीं होने देता (यानी उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाता है) ताकि मुनाफे की अधिकतम दर में कमी न आने पाये। वह प्रतिद्वन्द्विता को खत्म करता है ताकि उद्योग-विशेष पर उसका एकाधिकार रहे और वह मनमाना मुनाफा कमा सके। वह अपने मुनाफे की खातिर कार्यकुशलता का स्तर गिराता है, और चीजों में मिलावट करता है। कभी-कभी तो वह जिन्सों का लेन-देन कतई नहीं करता। वह सिर्फ उद्योगों की मिल्कियत को खरीदता है शेयरों का सट्टा करता है और उसका वास्ता केवल शेयरों के भावों में होने वाली घट-बढ़ से होता है। जिन लोगों को इस तरह से धन कमाने की धुन रहती है वे लोग अक्सर उपभोक्ताओं तथा छोटी पूंजी लगाने वालों के साथ धोखाधड़ी करते हैं शेयर बाजार में मंदी लाते हैं तथा बेकारी बढ़ाते हैं।

पूंजीपतियों की आलोचना

पूंजीपतियों की आलोचना करते हुए वेबलन ने लिखा है कि उद्योगों के कप्तान (पूंजीपति) यह कभी नहीं चाहते हैं कि किसी भी चीज का भले ही

उपभोक्ता को उसकी कितनी ही जरूरत क्यों न हो इतना ज्यादा उत्पादन हो कि उनके मुनाफे की अधिकतम दर में कोई कमी आये। अतः उत्पादन न बढ़ने देने के लिए वे पूँजीवादी तोड़ फोड़ करते हैं। यदि कीमतें गिरने लगती हैं तो वे मजदूरों की छटनी करते हैं और कुछ मशीनों को बन्द करवा देते हैं। इस प्रकार वे उत्पादन की आधुनिक टेकनीक का पूरा लाभ उपभोक्ताओं को नहीं पहुँचने देते।

हड़तालों के कारण

हड़ताल के कारणों (वजूहातों) पर प्रकाश डालते हुए वेबलन ने कहा है कि उद्योगों के कप्तान मजदूरों को गरीबी की हालत में रखते हैं। वे अपने मुनाफे की दर कम न होने के लिए उत्पादन पर रोक लगाते हैं। मजदूर भी अपनी मजदूरी बढ़वाने तथा सुरक्षा हासिल करने हेतु उनका अनुकरण करते हैं और हड़ताल का रास्ता अपनाकर उत्पादन को रोकते हैं।

वेबलन के काल में अमरीका में बड़े-बड़े वित्तीय कार्पोरेशनों का निर्माण हो रहा था जिनका उद्देश्य उद्योगों पर वित्तीय नियंत्रण स्थापित करके एकाधिकार जमाना था। वेबलन ने जिस तरह पूँजीपतियों की कड़ी आलोचना की है, उसी तरह उन्होंने कार्पोरेशनों तथा सिंडीकेटों की भी आलोचना की।

मूल्य-व्यवस्था के अंत की चेतावनी

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं वेबलन ने वर्तमान आर्थिक व्यवस्था को पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान 'मूल्य-व्यवस्था' की संज्ञा दी है। उन्होंने चेतावनी दी कि यह व्यवस्था अधिक समय तक कायम नहीं रह सकती। इस व्यवस्था में अन्तर्विरोध निहित है जिसे कि दूर नहीं किया जा सकता। एक ओर तो वैज्ञानिकों और तकनीकी विशेषज्ञों (टेक्नोलाजिस्टों) की निरन्तर कोशिश उत्पादन बढ़ाने की होती है दूसरी ओर पूँजीपति हैं जिनके कि ये वैज्ञानिक व टक्नोलाजिस्ट वेतन भोगी कर्मचारी होते हैं और जो मूल्यों को कम न होने देने के लिए उत्पादन बढ़ने नहीं देते। इस अन्तर्विरोध का प्रमाण है औद्योगिक संकट का निरन्तर उग्रतर होता जाना। 'मूल्य-व्यवस्था' के बारे में चेतावनी देने के बावजूद उन्होंने स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा है कि इस व्यवस्था का स्थान कौनसी व्यवस्था ग्रहण करेगी। लेकिन अपनी बाद की पुस्तकों में उन्होंने एक ऐसी भावी व्यवस्था का संकेत किया है जिसमें उत्पादन और वितरण का नियंत्रण इंजीनियरों के हाथ में होगा और सामाजिक जीवन का निर्देशन उन्हीं का उत्तरदायित्व होगा।

अध्याय ४

वर्ग-संघर्ष व फ़ुरसतमद वर्ग

वेबलन ने पूँजीवादी अर्थतंत्र में निहित अन्तर्विरोध और वर्ग-संघर्ष को तो स्वीकार किया है लेकिन मार्क्सवादी अर्थ में नहीं। मार्क्स का कहना है कि पूँजीवादी अर्थतंत्र में दो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ होती हैं—मजदूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग—और इन वर्गों में निरन्तर संघर्ष होता रहता है। मार्क्स ने भविष्यवाणी की है कि इस वर्ग-संघर्ष में मजदूर वर्ग की विजय होगी और पूँजीवादी व्यवस्था का खात्मा हो जायगा। वेबलन वर्ग-संघर्ष के उनके इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि पूँजीवादी अर्थतंत्र में संघर्ष उन दो शक्तियों के बीच है जिनमें से एक उत्पादन बढ़ाने वाली शक्ति है और दूसरी मुनाफ़ा कमाने वाली शक्ति। एक ओर तो वे इंजीनियर आदि हैं जो उद्योगों की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के लिए बराबर प्रयत्नशील रहते हैं। उत्पादन करने की इच्छा मनुष्य में सहज-स्वाभाविक रूप से मौजूद होती है। यह उसका प्राकृतिक गुण है, उसका स्वभाव है। इस इच्छा के पीछे मुनाफ़ा कमाने की मंशा नहीं होती। लेकिन दूसरी ओर पूँजीपति वर्ग है, जिसमें उत्पादन बढ़ाने की इच्छा नहीं होती। उसका उत्पादन से कोई वास्ता न होकर केवल मुनाफ़े से वास्ता होता है। वह केवल इतना उत्पादन होने देता है जिससे मूल्यों में गिरावट न आने पाये और उसके मुनाफ़े में कमी न होने पाये। ये दोनों ही शक्तियाँ पूँजीवादी अर्थतंत्र की प्रमुख अंग हैं और उनमें निरन्तर संघर्ष होता रहता है। इंजीनियर ऐसे-ऐसे आविष्कार करते हैं और ऐसी तकनीकों (टेक्नीकों) की खोज करते हैं जिससे उद्योगों की उत्पादन-क्षमता बढ़े और अधिकतम उत्पादन हो सके। पर पूँजीपति ऐसी कोशिशें करते हैं जिससे उत्पादन सीमित रहे और अधिक उत्पादन के कारण मूल्य गिरने न पायें। अतः इन दोनों शक्तियों में संघर्ष होते रहना स्वाभाविक है।

धनिक वर्गों का विश्लेषण

वेबलन ने धनिक वर्गों का विश्लेषण विशेष रूप से किया है। उन्होंने उनकी तुलना बर्बर युग के लुटेरों के साथ करते हुए कहा है कि पश्चिमी पूँजीवाद के जो

सामाजिक मापदण्ड हैं वे आधुनिकता के जामे के अन्दर, करीब-करीब वही हैं जो बर्बर युग में थे। मानव का स्वभाव अथवा उसकी प्रवृत्ति अभी भी वही है। युद्ध प्रर्दशन तथा सम्पत्ति-संग्रह की होड़ ने उस केवल नया रूप प्रदान किया है।

उनका कहना है कि इन दोनों ही संस्कृतियों में उच्च वर्गों की विशिष्टता यही रही है कि उन्हें औद्योगिक श्रम नहीं करना पड़ता। बर्बर युग में योद्धा अथवा पुरोहित शासक हुआ करते थे। वे उत्पादन की अपेक्षा लूट-खसोट द्वारा उच्च स्थान प्राप्त करते थे। जो विशेष गुण उनमें थे वे ही गुण आज के धनिकों में देखने को मिलते हैं। वे कामचोर होते थे, कुकर्मी होते थे, कुचक्रपरस्त व क्रूर होते थे और जरूरत पड़ने पर बल-प्रयोग तथा धोखाधड़ी से काम लेने के लिए स्वतन्त्र होते थे। ये ही गुण आज के धनिकों में तथा उनके चाकरों (बैंकिंग व्यवसाय करने वालों तथा वकीलों) में देखने को मिलते हैं।

फिजूलखर्ची

फुरसतमन्द वर्गों की एक विशिष्टता यह होती है कि नागरिकों की आवश्यकताओं की दृष्टि से उनके कार्य-कलाप बिलकुल निरर्थक होते हैं। उनकी सफलता का प्रतीक उनका अनाप-शनाप खर्च होता है। इस खर्च से उनकी किसी वास्तविक जरूरत की पूर्ति नहीं होती बल्कि ये खर्च केवल प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए किये जाते हैं। उदाहरण के लिए, वे ऐसे कीमती कपड़े पहनते हैं जिन्हें पहनकर शारीरिक श्रम नहीं किया जा सकता। वे अपनी पत्नी के लिए जेवर व जवाहरात खरीदते हैं। उनके घरों में एक-से-एक बढ़िया भोजन तैयार किये जाते हैं और वे ऐसी चीजें सीखते हैं जिनसे उत्पादन में कोई मदद नहीं मिलती जैसे कि घुड़सवारी शिकार खेलना इत्यादि। वे बड़ी-बड़ी दावतों पर भी धन खर्च करते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि वे धन को केवल अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए खर्च न करके व्यर्थ खर्च करते हैं ताकि उनकी सम्पन्नता का प्रदर्शन हो सके और समाज में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ सके। इसी प्रदर्शन की खातिर वे जरूरत से ज्यादा बड़ी कोठियों में रहते हैं और बहुत से नौकर-चाकर रखते हैं।

लुटेरों की संस्कृति

वेबलन का कहना है कि केवल यही नहीं कि उच्च वर्ग के लोग अपनी आर्थिक सम्पन्नता के लिए फिजूलखर्ची करते हैं। वे जिन वस्तुओं का उपयोग करते हैं, वे बढ़िया-से-बढ़िया किस्म की होती हैं। इस तरह उनके उपभोग की वस्तुओं और जन-साधारण के उपयोग की वस्तुओं में अन्तर आ जाता है।

आगस्त कौंत (कॉम्टे)

(AUGUSTE COMTE)

अध्याय १

भूमिका

आगस्त कौंत (Auguste Comte)[1] समाजशास्त्र के पितामह माने जाते हैं क्योंकि वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस विज्ञान को यह नाम प्रदान किया और अपने समय की तथा अपने से पहले की राजनीतिक विज्ञान-सम्बन्धी प्रमुख विचारधाराओं को एक सूत्र में बाँधकर समाजशास्त्र को एक पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया। उनकी विचारधारा मुख्यतया सेण्ट साइमन से प्रभावित रही है और उन पर ह्यूम, काण्ट और गाल आदि दार्शनिकों का भी गहरा प्रभाव रहा है।

उनका जन्म फ्रांस के मोन्टपेलियर नामक स्थान पर १७९८ में हुआ था और उन्होंने उच्च शिक्षा एकोल पॉलिटेक्नीक में हासिल की। छः वर्ष तक वे तत्कालीन प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक श्री हेनरी डी सण्ट साइमन के शिष्य रहे पर १८२४ में उनका उनके साथ मतभेद हो गया। सण्ट साइमन सामाजिक परिवर्तन के बहुत बड़े समर्थक थे और अपने समय की क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों व कार्यों का समर्थन करते थे पर कौंत ने उनकी अपेक्षा रूढ़िवादी दृष्टिकोण अपनाया और यही उन दोनों के मतभेद का मुख्य कारण था। सन् १८३३ से १८५१ तक उन्होंने एकोल पॉलिटेक्नीक में परीक्षक के रूप में काम किया। वहाँ से अलग किये जाने के बाद वे मुख्यतया अपने शिष्यों की सहायता पर निर्भर रहे। सन् १८४८ में उन्होंने 'पॉज़िटिविस्ट सोसायटी' की स्थापना की।

कौंत की सर्वप्रथम पुस्तक थी—'समाज के पुनर्संगठन के लिए आवश्यक वैज्ञानिक कार्य के हेतु एक कार्यक्रम'। यह पुस्तक एक प्रोस्पेक्टस के रूप में थी। इसके बाद उन्होंने सन् १८२६ में कुछ लेक्चरों के माध्यम से अपने दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त प्रस्तुत किये। १८३० और १८४२ के बीच उनकी प्रमुख पुस्तक 'पॉज़िटिव फिलासफी' प्रकाशित हुई और उनकी अन्तिम पुस्तक 'पॉज़िटिव पॉलिटी' १८५१ व १८५४ के दौरान में प्रकाशित हुई। इन दोनों ही पुस्तकों में उन्होंने सकारात्मक (वैज्ञानिक) दर्शन के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है और

[1] फ्रांसीसी भाषा में August Comte (ऑगस्ट कोम्ते) का शुद्ध उच्चारण कौंत है।

भावी समाज की परिकल्पना तथा उस समाज की स्थापना के हेतु सामाजिक परिवर्तन के लिए कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। सन् १८२७ में उनका देहावसान हो गया।

सेण्ट साइमन का प्रभाव

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, कौंत सेण्ट साइमन (१७६०-१८२५) के शिष्य थे और उनका दर्शन सेण्ट साइमन के दर्शन से मुख्य रूप से प्रभावित था। बल्कि यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपना प्रमुख सिद्धान्त सेण्ट साइमन के दर्शन से ग्रहण किया। सेण्ट साइमन ने अपने समय की समाज-शास्त्रीय विचारधाराओं को संग्रहीत करके उनकी खास-खास बातों को एक व्यवस्थित रूप दिया था। कौंत ने इस पद्धति को ग्रहण किया और सेण्ट साइमन द्वारा प्रयोकृत समस्त प्रमुख सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। पर उन्होंने इस पद्धति के लिए राजनीतिशास्त्र के स्थान पर 'समाजशास्त्र' शब्द का प्रयोग कर उसे विकसित किया तथा नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

सेण्ट साइमन के सिद्धान्त

यहाँ पर सेण्ट साइमन के प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा कर देना अनुपयुक्त न होगा क्योंकि उन्हें जान लेना कौंत के समाजशास्त्र के सिद्धान्तों को समझने के लिए आवश्यक है। सेण्ट साइमन के प्रमुख और बुनियादी सिद्धान्त निम्न लिखित हैं—

(१) विज्ञान को ज्ञान की दूसरी सभी शाखाओं से भिन्न मानना चाहिए।

(२) विज्ञानों का वर्गीकरण किया जाना चाहिए और यह वर्गीकरण इस आधार पर होना चाहिए कि किस विज्ञान ने कितनी अधिक जटिलता ग्रहण की है। दूसरे, राजनीतिक विज्ञान (राजनीतिशास्त्र) को समस्त विज्ञानों के ऊपर स्थान देना चाहिए।

(३) राजनीतिक विज्ञान (राजनीतिशास्त्र) इतिहास और परीक्षणों के निष्कर्षों पर आधारित होना चाहिए और उसमें विकास तथा प्रगति की धारणा निहित होनी चाहिए।

(४) प्रगति का सामान्य नियम मनोवैज्ञानिक विकास के नियम के अनुरूप है।

(५) प्रगति-सम्बन्धी समस्त समाजशास्त्रीय सिद्धान्त बुनियादी नियमों पर आधारित होने चाहिए।

(६) नैतिकता का आधार सामाजिक जीवन की ठोस परिस्थितियाँ होनी चाहिएं और परलोक-सम्बन्धी मान्यताओं पर भरोसा न करके मानव की खुशहाली के लिए सामाजिक व्यवस्था को बदलना चाहिए,

(७) सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन एक नये तरह के औद्योगिक संगठन एक नयी तरह की सामाजिक व राजनीतिक पद्धति और यूरोपीय देशों के एक मैत्रीपूर्ण संघ द्वारा ही सम्भव है।

सेण्ट साइमन का कहना था कि समाज का पुनर्गठन इस रूप में किया जाना चाहिए कि उस पर औद्योगिक विशेषज्ञों का नियन्त्रण हो। ये लोग औद्योगिक उत्पादन का नियमन इस रूप में करें कि मानव के लिए किसी भी चीज की कमी न रहे। ये विशेषज्ञ समाजशास्त्रियों के निर्देशन पर काम करें और इन समाजशास्त्रियों पर इस बात की जिम्मेदारी हो कि वे नये-नये सत्य खोजते रहें और पुरानी तथा नई खोजों का समन्वय व उपयोग इस रूप में करें कि उससे मानव का अधिकतम हित हो सके।

सेण्ट साइमन के सिद्धान्त व कौंत

कौंत ने इन सिद्धान्तों को ग्रहण करके उन्हें व्यवस्थित रूप ही नहीं दिया बल्कि उन्हें विकसित भी किया और यही समाजशास्त्र को उसकी प्रमुख देन है। कौंत की एक बहुत बड़ी देन यह भी है कि उन्होंने सामाजिक प्रक्रियाओं के समाजशास्त्रीय अध्ययन की शुरुआत की जिसे स्पेन्सर, वार्ड और वर्तमान पीढ़ी के समाजशास्त्रियों ने विकसित किया। कौंत से पूर्व सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन और विश्लेषण अलग-अलग दार्शनिकों ने अलग-अलग विज्ञानों के माध्यम से किया था यानी किसी ने केवल मनोविज्ञान के माध्यम से तो किसी ने शरीर रचना-विज्ञान अथवा किसी अन्य विज्ञान के माध्यम से। किसी ने समाज के केवल आर्थिक पक्ष पर जोर दिया था तो किसी ने उसके बौद्धिक पक्ष पर। पर कौंत ने सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन और विश्लेषण करने के लिए समस्त विज्ञानों का समन्वय करके एक नई पद्धति को एक नये विज्ञान को जन्म दिया, जिसे समाजशास्त्र कहते हैं।

अध्याय २

सामाजिक सिद्धान्त

कौंत का सामाजिक सिद्धान्त इस बुनियादी मान्यता पर आधारित है कि कार्यों का विभाजन व प्रयासों की एकजुटता सामाजिक संगठन का आधार होती है। लेकिन यह धारणा उनकी खुद की न थी। इसे उन्होंने अरस्तु (Aristotle) से लिया था। उनके सामाजिक सिद्धान्त की दूसरी विशेषता है सामाजिक प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा उसके अध्ययन की वैज्ञानिक (Positivist) पद्धति। इस चीज को उन्होंने ह्यूम, केन्ट और गाल के दर्शनों से लिया था। उनके सामाजिक सिद्धान्त की तीसरी विशेषता है सामाजिक प्रत्यावर्तन-सम्बन्धी धारणा। वे यह भी मानते थे कि यह ऐतिहासिक प्रत्यावर्तन एक प्राकृतिक व्यवस्था के अनुरूप होता है। यह सिद्धान्त उन्होंने ह्यूम, केन्ट, तुर्गोत बिको और डी-मेस्त्री के दर्शनों से आंशिक रूप से लिया था। कौंत के सामाजिक *सिद्धान्त की चौथी प्रमुख बात यह है कि मनुष्य के बौद्धिक विकास की तीन* सीढ़ियाँ अथवा अवस्थाएँ होती हैं यह सिद्धान्त उन्होंने तुर्गोत, बोडिन और सेन्ट साइमन से लिया था। कौंत का कहना था कि समाजशास्त्र को बुनियादी विज्ञान मानना चाहिए और यह धारणा उन्होंने सेन्ट पेरी, सेन्ट साइमन तथा कुछ अन्य दार्शनिकों से ग्रहण की थी। मोंटेस्क्यू की भाँति कौंत भी यह मानते थे कि सामाजिक प्रक्रियाओं पर भौतिक वातावरण का विशेष रूप से असर पड़ता है और ये प्रक्रियाएँ प्राकृतिक नियमों द्वारा निर्देशित होती हैं। कौंत ने इस सिद्धान्त को ग्रहण करने के साथ-साथ कौंडोरसेट के इस सिद्धान्त को भी ग्रहण किया कि सामाजिक प्रगति में विज्ञान महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। सेन्ट पेरी और सेन्ट साइमन की भाँति उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि समाज के पुनर्गठन तथा निर्देशन के लिए समाज-विज्ञान का होना नितान्त आवश्यक है। उन्होंने विज्ञानों का वर्गीकरण किया और विज्ञानों की सूची में समाजशास्त्र को सबसे ऊपर रखा।

सामाजिक विकास के नियम

कौंत का कहना है [illegible] जिक तत्त्व दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जो स्थिर होते हैं और दूसर [illegible] हैं। सामाजिक प्रगति एक प्राकृतिक

नियम के ग्रनुसार होती है ग्रौर उसे तीन ग्रवस्थाग्रों से होकर गुजरना पड़ता है। जिस तरह जीवास्थुग्रों का विकास होता है ठीक उसी प्रकार समाज का भी विकास होता है क्योंकि उस पर भी वही नियम लागू होते हैं जो शेष प्रकृति पर। उनका कहना है कि यदि मानव ज्ञान विकसित किया जा सकता है तो केवल वैज्ञानिक पद्धति ग्रपनाकर ही यानी चीजों के निरीक्षण परीक्षण ग्रौर तुलनात्मक ग्रध्ययन द्वारा निष्कर्षों पर पहुँचने की पद्धति ग्रपनाकर। पर सामाजिक प्रक्रियाग्रों का ग्रध्ययन करने के लिए ऐतिहासिक पद्धति को भी प्रयुक्त करना ग्रावश्यक है। इस पद्धति से तात्पर्य यह है कि सामाजिक प्रक्रियाग्रों का ग्रध्ययन करने वालों को यह भी देखना चाहिए कि मानव-समाज का ऐतिहासिक विकास किस रूप में हुग्रा है ग्रौर उस पर कौन कौनसे नियम लागू होते हैं। उनका कहना है कि मानव-समाज का ग्रध्ययन करने के लिए समाज शास्त्र को यह तरीका ग्रपनाना चाहिए। इसके लिए ग्राध्यात्मवाद सही तरीका नहीं है ग्रौर वह सही परिणामों पर नहीं पहुँच सका है। कौंत ने ग्राध्यात्मवादी पद्धतियों की बड़ी तीव्र ग्रालोचना की है। उन्होंने विज्ञान की एक क्रमबद्ध सूची बनाई है जिसमें गणित खगोल भौतिकशास्त्र रसायनशास्त्र ग्रौर प्राणीशास्त्र ग्रादि सभी विज्ञान सम्मिलित हैं। इन सबके ऊपर उन्होंने नये विज्ञान-समाज शास्त्र को रखा है। उनका कहना है कि प्रत्येक विज्ञान को निचले क्रम के विज्ञानों पर निर्भर करना पड़ता है ग्रौर जैसे-जैसे हम ऊँचे क्रम के विज्ञानों की ग्रोर बढ़ते हैं हमें देखने को मिलता है कि वे ग्रधिकाधिक विशिष्ट ग्रौर जटिल हैं तथा वैज्ञानिक नाप-तौल उन पर कम-से-कम लागू होते हैं। चूंकि समाजशास्त्र इस क्रम में सबसे ऊपर है, इसलिए वह सबसे जटिल विज्ञान है। वास्तव में उसे उसकी जटिलता के कारण ही क्रम में सर्वोच्च स्थान पर रखा गया है। कौंत ने उस विज्ञान को क्रम-सूची में उतना ही ऊँचे स्थान पर रखा है जितना कि वह जटिल है ग्रौर उसका यह क्रम विज्ञानों की जटिलता पर निर्भर करता है। चूंकि समाजशास्त्र सबसे जटिल विज्ञान है, इसलिए उसका वैज्ञानिक ढंग से नाप तौल कर पाना तथा उसके द्वारा ठीक-ठीक भविष्यवाणी कर पाना बहुत कठिन काम है।

समाज ग्रौर प्रगति

वे समाज को एक जीवाणु (Organims) की भाँति मानते थे ग्रौर उसे उन्होंने सामूहिक जीवाणु की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि जो नियम जीवधारियों तथा पेड़-पौधों पर लागू होते हैं ग्रौर जिन नियमों के ग्रनुसार उनका

विकास होता है वे ही नियम समाज पर भी लागू होते हैं। समाज में वे सभी प्राथमिक वृत्तियाँ मौजूद हैं जो चेतन जगत् (प्राणियों) में पाई जाती हैं। अतः जीवधारियों और समाज के कार्यकलापों में समन्वय होता है उनके कार्यों की एक-दूसरे पर तथा वातावरण पर प्रतिक्रिया होती है और इस क्रिया प्रतिक्रिया द्वारा वे समान लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। यह समन्वित विकास मानव-समाज में अपनी चरम अवस्था मे पहुँचा है और इसलिए मानव-समाज जीवाणविक विकास का अन्तिम चरण है। मानव की सामाजिक प्रगति कार्यों के विभाजन तथा विभिन्न कार्यों में अधिकाधिक दक्षता प्राप्त करने की प्रवृत्ति के कारण हुई है। सामाजिक गड़बड़ियाँ सामाजिक संगठन में खराबियाँ पैदा होने के कारण होती हैं और इसलिए उनका उपचार भी समाजशास्त्र द्वारा ही सम्भव है।

समाज और समाजशास्त्र

उनका कहना है कि वैयक्तिक और सामाजिक जीवाणु एक-जैसे होते हैं। जिस तरह किसी भी जीवधारी मे पोर (सैल) होते हैं, उसी तरह परिवार में सामाजिक पोर होते हैं। और सामाजिक समितियों म सामाजिक मांसपेशियाँ होती हैं तथा राज्य के अन्तर्गत अनेक सामाजिक अंग होते हैं। वैयक्तिक जीवाणु (Individual organism) और सामाजिक जीवाणु (Social organism) में सबसे बड़ा अन्तर यह होता है कि वैयक्तिक जीवाणु म बड़े बड़े परिवर्तन नहीं किये जा सकते लेकिन सामूहिक जीवाणु में बड़े-से-बड़ा सुधार किया जा सकता है बशर्ते उसका निर्देशन वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार किया जाय। दूसरी बात यह भी है कि सामाजिक जीवाणु अथवा सामाजिक संगठन म कार्य विभाजन और प्रयासो क समन्वय की कहीं अधिक गुंजायश होती है। उनक कहना है कि समाजशास्त्र प्राणीशास्त्र के बहुत निकट है। प्राणीशास्त्र। विषय शरीर-रचना और जीवन है लेकिन समाजशास्त्र का विषय उसकी प्र और विकास है। इस दृष्टि से समाजशास्त्र को सामाजिक व्यवस्था तथा सा जिक प्रगति का विज्ञान कहा जा सकता है उसे सामाजिक प्रक्रिया का विज्ञान कहा जा सकता है।

समाजशास्त्र के प्रमुख अंग

कौत न समाजशास्त्र को दो प्रमुख विभागों में विभाजित किया है। पहले विभाग में वे सिद्धान्त हैं जिनका सम्बन्ध समाज के अस्तित्व (स्थिर तत्त्वों) से है और दूसरे विभाग में वे सिद्धान्त हैं जिनका सम्बन्ध परिवर्तनशील अथवा

विकासमय (क्रियाशील) सामाजिक तत्वों से है। और, सामाजिक व्यवस्था का आधार कार्यों का विभाजन और स्वार्थों का समन्वय है। कार्यों के विभाजन का अर्थ है समाज में श्रम का विभाजन। जहाँ तक स्वार्थों के समन्वय का सम्बन्ध है उसका दायित्व सरकार पर होता है।

बौद्धिक विकास की अवस्थाएं

समाज को अपनी प्रगति के लिए बौद्धिक विकास के भी तीन चरणों अथवा अवस्थाओं (Stages) से होकर गुजरना पड़ता है। ये अवस्थाएं हैं—ब्रह्म विद्या (Mysticism) आध्यात्मवाद (Theology) और विज्ञान (Science)। मानव-समाज के लिये इन तीनों ही अवस्थाओं से होकर गुजरना अनिवार्य है। इनमें से किसी भी अवस्था को लांघा नहीं जा सकता। लेकिन यह अवश्य है कि बुद्धि-बल से प्रारम्भिक अवस्थाओं के काल को कम किया जा सकता है। यदि सामाजिक प्रगति का निर्देशन बुद्धिमत्ता से न किया जाय तो प्रारम्भिक अवस्थाओं से गुजरने में ज्यादा समय लग सकता है। पर यह निश्चित है कि एक अवस्था से गुजरे बगैर दूसरी अवस्था में नहीं पहुँचा जा सकता।

मानव-प्रगति व वातावरण

मनुष्य की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि वह वातावरण (भौतिक परिस्थितियों) पर कितना नियंत्रण कर पाता है। वातावरण पर उसका नियंत्रण जितना बढ़ता जायेगा उसकी प्रगति की रफ्तार भी उतनी ही बढ़ती जायेगी। इस प्रगति को तीन खण्डों में विभाजित किया जा सकता है—बौद्धिक भौतिक और नैतिक। बौद्धिक प्रगति के लिए मनुष्य को उन तीन अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। भौतिक प्रगति की भी तीन अवस्थाएं होती हैं। पहली अवस्था होती है विजय अभियान की जिसमें मानव प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयास करता है। दूसरी अवस्था होती है सुरक्षात्मक जिसमें मनुष्य की मुख्य चिन्ता अपनी सुरक्षा के लिए होती है। तीसरी अवस्था होती है औद्योगिक जिसमें मनुष्य उद्योग और परिश्रम के बल पर आगे बढ़ता है। मनुष्य की नैतिक प्रगति भी इन्हीं अवस्थाओं के अनुरूप होती है। प्रथम अवस्था में उसका ध्यान केवल अपने परिवार तक सीमित रहता है, दूसरी अवस्था में राज्य उसकी मुख्य चिन्ता का विषय होता है और तीसरी अवस्था में समस्त मानव जाति के कल्याण में उसे संतोष मिल पाता है। इस प्रगति को आगे बढ़ाने में इच्छाएं और भावनाएं बहुत बड़ी

भूमिकाएँ अदा करती हैं। बुद्धि-बल उसे गति प्रदान करता है और बुद्धि की कमी के कारण प्रगति में बाधाएँ उपस्थित होती हैं।

कौंत ने परिवार को बुनियादी सामाजिक संस्था माना है और उनका कहना है कि समाज का नियमन मुख्य रूप से धर्म द्वारा होता है अतः समाज के विकास में परिवार और धर्म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ अदा करते हैं। यद्यपि कौंत ने परिवार और धर्म को सामाजिक प्रगति के आधारभूत तत्त्व माना है और बुद्धि-बल की भूमिका को विशेष महत्त्व दिया है तथापि यह कहना गलत होगा कि उन्होंने सामाजिक प्रगति के दूसरे तथ्यों को नज़रन्दाज़ किया है।

अध्याय ३

राजनीतिक सिद्धान्त

कौंत समाजशास्त्र को भविष्य में पूर्णतः ग्रहण करने वाला राजनीतिक विज्ञान मानते थे और इसलिए, उनकी दृष्टि में राजनीतिक विज्ञान तथा समाजशास्त्र में स्पष्टतया भेद नहीं किया जा सकता। इसके साथ-साथ वे समाजशास्त्र को पूर्ववर्ती राजनीतिक दर्शनों से भिन्न मानते थे क्योंकि इन राजनीतिक दर्शनों में आध्यात्मवादी धारणा का अत्यधिक समावेश था। उनका कहना था कि राजनीतिक दर्शन वैज्ञानिक होना चाहिए। निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए वैज्ञानिक तरीके अपनाये जाने चाहिए और प्रयोगों तथा तुलनात्मक अध्ययन का सहारा लिया जाना चाहिए। जाहिर है कि इस तरह का विज्ञान समाज के सामान्य विज्ञान से भिन्न नहीं हो सकता। कौंत ने अपने राजनीतिक दर्शन में मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र और आचार विचार को भी शामिल करके उसे अपने समाजशास्त्र का अंग बनाया। वे यह नहीं मानते थे कि विशिष्ट समाज-विज्ञान वास्तविक विज्ञान है। उनका कहना था कि समाज के विशिष्ट अंगों का अलग-अलग अध्ययन करने की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाना चाहिए और इस अध्ययन के लिए केवल एक ही विज्ञान का यानी समाज-शास्त्र का सहारा लिया जाना चाहिए। उनकी दृष्टि में राजनीतिक विज्ञान भी समाजशास्त्र का ही एक अंग है जिसका सम्बन्ध राज्य के इतिहास और संगठन से है। अतः उन्होंने राज्य और उसके संगठन को कोई अलग-अलग विषय मानकर उनका अध्ययन नहीं किया बल्कि सामाजिक विकास के चरणों अथवा दौरों के रूप में उनका अध्ययन किया। कहने का तात्पर्य यह है कि कौंत ने राज्य और उसके संगठनात्मक रूपों को समाज के अन्य सभी अंगों से सम्बद्ध करके देखा। सामाजिक विकास के किसी भी चरण-विशेष का अध्ययन करते समय उन्होंने केवल राजनीतिक संगठन विचारधाराओं और प्रवृत्तियों को दृष्टिगत न रखकर अर्थतन्त्र मनोविज्ञान और आचार-विचार आदि सभी चीजों को दृष्टिगत रखा और उनके एक-दूसरे पर पड़ने वाले प्रभावों को भी समान रूप से महत्त्व दिया।

राज्य और उसका स्वरूप

कौंत ने राज्य और उसके स्वरूप का विस्तृत व स्पष्ट विश्लेषण करने की कोशिश नहीं की जिसका परिणाम यह हुआ है कि उनके समाजशास्त्र में समाज राष्ट्र और सरकार आदि के भेद स्पष्टतया स्थापित नहीं हो पाये हैं। वे तत्कालीन पूंजीवादी राष्ट्रीय राज्यों के सैद्धान्तिक आधारों-सम्बन्धी विस्तृत विवेचन के झगड़े में नहीं पड़े क्योंकि वे भावी समाज पर अपना ध्यान केन्द्रित किए हुए थे। उनका कहना था कि ये पूंजीवादी राज्य और उनके अन्तर्गत आने वाले संगठन प्राय एक-जैसे ही हैं और उनमें अन्तर केवल यह है कि उनमें से कोई कम टिकाऊ है और कोई अधिक। अत उनकी व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे राजनीतिक इकाई को समाज के भौतिक और आध्यात्मिक पक्षों से अलग करके नहीं देखते थे। उनके समाजशास्त्र में पारिवारिक आचार-विचार पारम्परिक रूढ़ियों और आर्थिक व्यवस्था आदि समस्त पक्षों का समावेश होने के कारण यह सम्भव नहीं था कि वे केवल राजनीतिक संस्थाओं की ओर ध्यान देते। लेकिन वे यह भी मानते थे कि राजनीतिक संगठन अर्थात् सरकार के अस्तित्व के बिना सामाजिक सम्बन्धों में स्थायित्व नहीं हो सकता। उनका कहना है कि जिस तरह समाज के बिना सरकार का अस्तित्व सम्भव नहीं है ठीक उसी तरह सरकार के बिना समाज का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है और संगठन चाहे छोटा हो और चाहे बड़ा इन दोनों बातों को ध्यान में रखे बगैर सही निष्कर्षों पर नहीं पहुँचा जा सकता। एक के अस्तित्व के लिये दूसरे का अस्तित्व अनिवार्य है, अन्यथा अराजकता के कारण समाज का ही अन्त हो जाएगा।

समाज का कार्य-विभाजन

कौंत का कहना है कि एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग की मातहती समाज में कार्य-विभाजन का ही स्वाभाविक परिणाम है। जिस अनुपात में कार्य-विभाजन की प्रक्रिया पूर्ण होती जाती है उसी अनुपात में मातहती की प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से लागू होती जाती है। अलग-अलग तरह के काम करने वाले लोग उन लोगों की मातहती में हो जाते हैं जिनके हाथ में सामान्य नियंत्रण और निर्देशन का कार्य होता है यानी उन्हें अपने ऊपर वाले वर्ग की मातहती में काम करना पड़ता है। सामाजिक कार्य-कलापों का नियंत्रण और निर्देशन करने वाली शक्तियाँ सरकार को जन्म देती हैं। पिछले जमाने में युद्ध इस तितर-बितर राजनीतिक शक्ति को एक जगह केन्द्रित करने में मुख्य भूमिका अदा करता था।

अत: उस समय युद्ध सत्ता का माध्यम था। लेकिन अब सामाजिक अनुशासन और सरकारी नियंत्रण का माध्यम उद्योग-धन्धे हैं। उद्योग-धन्धों में कुछ लोग आदेश देना सीखते हैं और शेष लोग आज्ञा-पालन करना। सार्वजनिक धर्मों और प्रशासन में भी यही बात लागू होने लगती है। यह स्थिति मानव प्रकृति के विपरीत कदापि नहीं है। यद्यपि हुक्म चलाने की इच्छा प्राय: सभी लोगों में होती है, लेकिन अधिकांश लोग निर्देशन का बोझ दूसरों के सिर पर छोड़ देना ही अपने लिए ज्यादा सुविधाजनक मानते हैं। पर राज्य का आधार केवल कार्य-विभाजन और प्रयासों का समन्वय नहीं है। अन्ततोगत्वा सरकार का आधार बल प्रयोग होता है और बल प्रयोग कर सकने की क्षमता पर ही सरकारी सत्ता का अस्तित्व निर्भर करता है। कौंत का कहना है कि राज्य के लिए एक अन्य चीज की भी आवश्यकता पड़ती है और वह चीज है *सामाजिक नियंत्रण* की व्यवस्था अथवा समाज का नियमन करने वाली सामान्य शक्ति। यद्यपि राजनीतिक सत्ता बुनियादी रूप से भौतिक शक्ति पर आधारित होती है तथापि सामाजिक नियमन के लिए तीन चीजों का होना अनिवार्य है—बौद्धिक निर्देशन नैतिक अधिकार और सामाजिक नियंत्रण। ये तीनों चीजें मिलकर उस शक्ति को जन्म देती हैं जो समाज का सामान्य रूप से नियमन करती है।

समाज का नियमन

कौंत का कहना है कि समाज का नियमन करने वाली यह शक्ति वस्तुत: धर्म में निहित होती है, इसलिए उस सत्ता के संचालन का दायित्व धर्माचार्यों अथवा पुरोहितों पर होना चाहिए। राज्य की पूर्णता के लिए समाज में तीन श्रेणियों का होना आवश्यक है। पहली श्रेणी है परिवार जो कि भावनाओं और प्रेम पर आधारित होता है। दूसरी श्रेणी है राज्य जोकि कार्यक्षमता या कार्यवाहियों पर आधारित होता है और तीसरी श्रेणी होती है धर्म जोकि मुख्यतया बुद्धि पर आधारित होता है, लेकिन जोकि वास्तव में इन तीनों श्रेणियों में समन्वय स्थापित करता है। ये तीनों शक्तियाँ मानव-मस्तिष्क के तीन बुनियादी कार्य-कलापों के अनुरूप होती हैं। मानव-मस्तिष्क के ये बुनियादी कार्य-कलाप हैं—भावना कार्य और बुद्धि।

सामाजिक इकाइयाँ

कौंत का कहना है कि समस्त सामाजिक कार्य-कलापों के निर्देशन और देख-रेख का काम धर्म के अधीन हो जाने पर अत्याचारी राज्यों का अन्त हो

ायेगा और अराजकता का खतरा उत्पन्न हुए बगैर सामाजिक संगठन में पूर्णता ा सकेगी। उस हालत में वर्तमान राजनीतिक राज्य के स्थान पर नगरों के ऐसे समूह होंगे जो समान मानव-धर्म के माध्यम से एक-दूसरे के साथ बंधे हुए होंगे और उनका नियमन उस धर्म के आचार्यों द्वारा होगा। उस हालत में विशाल राजनीतिक इकाइयाँ भी बन सकेंगी। पर न तो अत्याचार हो सकने का खतरा रहेगा और न तानाशाही कायम हो सकने का। उस हालत में इन राजनीतिक इकाइयों की सीमाएँ स्वाभाविक होंगी और चूँकि वे स्वैच्छिक होंगी अत वे अपेक्षाकृत ज्यादा टिकाऊ भी होंगी। वे राज्य न तो कृत्रिम होंगे और न उनका आधार हिंसा होगी। उन राजनीतिक इकाइयों में केवल वे ही लोग होंगे जो स्वेच्छा से उसमें रहना चाहेंगे। अनुभव ने यह प्रमाणित कर दिया है कि अपने चारों तरफ के देहाती क्षेत्रों सहित नगर ही ऐसी सबसे बड़ी राजनीतिक इकाई हो सकती है जिसका आधार दमन अत्याचार और हिंसा न हो। इन नगरों के समूहों को एकजूट करके उन्हें विस्तृत राजनीतिक इकाई का रूप देने वाला तत्त्व धर्म ही हो सकता है। उस हालत में नगर एक-दूसरे के साथ नैतिकता द्वारा बँधे हुए होंगे। कहने का तात्पर्य यह कि धार्मिक समाज की स्थापना होने पर ही सामाजिक संगठन में पूर्णता आ सकेगी और ऐसे समाज में वे तीनों ही तत्त्व मौजूद होंगे जो राज्य की स्थापना के लिए अनिवार्य हैं यानी—बौद्धिक निर्देशन नैतिक सहमति या अधिकार और सामाजिक नियन्त्रण।

अध्याय ४

इतिहास-दर्शन

कौंत ने समाज की उत्पत्ति और राज्य की व्याख्या ऐतिहासिक दृष्टिकोण से की की है। उन्होंने यह बताया है कि मानवता को अपने विकास में भिन्न-भिन्न दौरों से होकर गुजरना पड़ा है और उसके विकास की चरम अवस्था क्या होगी? इतिहास की व्याख्या करते समय उन्होंने आर्थिक सम्बन्धों तथा अन्य तथ्यों का नजरन्दाज नहीं किया है।

सामाजिक विकास के ऐतिहासिक काल

उनका कहना है कि सामाजिक संगठन की भाँति सामाजिक विकास भी मानव-मस्तिष्क के त्रिमुखी कार्य-कलापों—भावना कार्य और बुद्धि—की उत्पत्ति है। भावना नतिक्रया का आधार होती है और उसे तीन अवस्थाओं में से होकर गुजरना पड़ता है। पहली अवस्था वह है जब कि उसकी भावनाएँ मुख्यतया परिवार तक सीमित रहती हैं; दूसरी अवस्था वह है जब कि उसकी भावनाओं का क्षेत्र राज्य होता है; और तीसरी तथा अन्तिम अवस्था वह है जब कि सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए उसकी वही भावनाएँ होती हैं जो कि उसके स्वयं के परिवार के लिए। इस नियम को ऐतिहासिक कालों पर लागू करके कौंत ने कहा है कि प्राचीन युग में मनुष्य की भावनाएँ पारिवारिक और नागरिक थीं मध्य युग में वे सामूहिक थी और वैज्ञानिक युग में विश्वव्यापी। इस प्रकार मनुष्य की प्रवृत्तियाँ अपने विकास में तीन अवस्थाओं से होकर गुजरी। इस भावनात्मक विकास का नैतिक विकास के साथ गहरा सम्बन्ध है और नैतिक विकास को भी इन्हीं तीन अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ा। बौद्धिक विकास को भी इन्हीं तीन अवस्थाओं—पदार्थ-विद्या आध्यात्मिक ज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान—से होकर गुजरना पड़ा। मनुष्य के विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया में भावना ने प्रभितशायक तत्त्व के रूप में कार्य की प्रगति के माध्यम के रूप में भूमिकाएँ अदा की हैं। कौंत ने अपने इतिहास-दर्शन को केवल बौद्धिक विकास के नियमों पर आधारित नहीं किया है बल्कि स्वयं बौद्धिक विकास में भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के योगदान को स्वीकार किया है।

सामाजिक विकास का काल-विभाजन

कौंत ने सन् ११० से पूर्व के काल को प्राचीन काल या पदार्थ-विद्या सम्बन्धी काल माना है उसके बाद सन् १८० तक के काल को आध्यात्मवादी काल की संज्ञा दी है और उसके बाद के काल को उन्होंने वैज्ञानिक काल(पॉजिटिव पीरियड) (Positive Period) कहा है। पदार्थ विद्या-सम्बन्धी काल को भी उन्होंने तीन भागों में बाँटा है। उनका कहना है कि इस काल के प्रथम भाग में परिवार का एक संस्था के रूप में प्रादुर्भाव हुआ जिसके कारण बाद में राज्य का विकास सम्भव हो सका। इसी दौर की सबसे बड़ी राजनीतिक विशेषता थी नगर अथवा राज्य का निर्माण और भू-सम्पत्ति का एक संस्था के रूप में विकास। इस दौर में जाति व्यवस्था का भी विकास हुआ पर नागरिक जीवन में पूर्णता न आ सकने के कारण धर्म का विकास सम्भव न हो सका।

सामन्तवाद की पृष्ठभूमि

इस प्रथम काल के द्वितीय भाग को रोमन काल कहा जा सकता है। इस दौर में पितृभूमि और मातृभूमि की धारणा का विकास हुआ। दूसरे, युद्ध ने जो कि अब तक विजय-अभियानों के रूप में होते थे रक्षात्मक रूप ग्रहण किया। गुलामी प्रथा परिवर्तित होकर अर्ध-गुलामी प्रथा बनी और साम्राज्यों के स्थान पर छोटे छोटे राज्यों की संयुक्त राज्य-व्यवस्थाएँ कायम हुईं। इन सबके कारण सामन्तवाद का विकास सम्भव हो सका।

धार्मिक युग

प्रथम काल के तीसरे और अन्तिम भाग में धर्म का विकास हुआ और चर्च की स्थापना हुई। इस दौर में औरतों को नजात और श्रमिकों को राहत मिली। पर इस दौर में एक ओर तो धर्मों का स्वरूप विश्वव्यापी था और दूसरी ओर राजनीतिक सत्ताएँ स्थानिक थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि चर्च और राज्य एक-दूसरे से बिलकुल अलग-अलग हो गये। इस दौर में यह भी हुआ कि युद्ध ने आक्रामक (Idealistic) से रक्षात्मक स्वरूप ग्रहण किया। महिलाओं के प्रति आदर्शवादितापूर्ण रुख अपनाया गया और मानवता की उपासना शुरू हुई। अर्ध-गुलामों को नजात मिली और मालिक व श्रमिक का विभेद कायम हुआ।

आध्यात्मिक काल

पश्चिमी यूरोप में क्रांति होने से सन् ११०० में द्वितीय काल का प्रारम्भ हुआ जिसे विकास का आध्यात्मिक काल कहा जा सकता है। इस क्रान्ति को बा...

में आठ तत्वों का विशेष रूप से हाथ रहा है—महिलाओं का प्रभाव कला की उन्नति राज्य का विकास वैज्ञानिक प्रगति औद्योगिक विकास, धर्म के प्रभाव में कमी कानूनों का विकास और आध्यात्मवादी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत की गई विचारधाराएं। इस काल म उद्योग धन्धों ने अपनी जड़ें जमा ली और उनका विकास हुआ क्योंकि मालिक और मजदूर, दोनों ही यह महसूस करने लगे थे कि अन्य वर्गों के विरोध म उनका तमाम हित है। सरकारों ने भी उद्योगों को संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान किया और इसकी एक वजह यह भी थी कि औद्योगिक विकास स सरकारों की आय बढ़ती थी जिससे वे अपने सैनिक खर्च की पूर्ति कर सकते थे। इसका परिणाम यह भी हुआ कि शासकों म प्रशासनिक उत्तरदायित्व की भावना पैदा हुई। राजनीति मे भी उद्योगों का दखल शुरू हो गया और जो सभ्यता अब तक मुख्यतया सैनिक थी वह तेजी से औद्योगिक बनने लगी। फ्रांसीसी क्रान्ति ने विघटन की प्रक्रिया का श्रीगणेश किया और इस तरह तीसरे यानी वैज्ञानिक काल क प्रारम्भ क लिए पृष्ठभूमि तैयार हुई।

वैज्ञानिक युग

कौंत का कहना है कि वैज्ञानिक युग (पॉजिटिव पीरियड) का प्रारम्भ उनके (कौंत के) समय से पूर्व हो चुका था। कई महत्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ शुरू हो चुकी थी और कई आधुनिक समाजशास्त्र को दार्शनिक आधार प्रदान कर चुके थे। कौंत ने समाजशास्त्र के बुनियादी नियमों की खोज की और समाजशास्त्रीय पद्धति को जन्म दिया। इस तरह विज्ञानवाद (पॉजिटिविज्म) के लिए बौद्धिक पृष्ठभूमि तैयार हो गयी। १८३१ में तानाशाही के प्रादुर्भाव ने राजनीतिक क्षेत्र में भी विज्ञानवाद क लिये पृष्ठभूमि तैयार कर दी और इस तरह एक नये युग का श्रीगणेश हुआ।

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि कौंत के उपर्युक्त ऐतिहासिक विश्लेषण मुख्यतया यूरोप की ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित है। उन्होंने कालविभाजन में भी केवल पश्चिम के इतिहास को दृष्टिगत रखा है और वहीं की घटनाओं का उल्लेख किया है।

अध्याय ५

सामाजिक पुनर्गठन

कौंत ने सामाजिक पुनर्गठन की योजना भी प्रस्तुत की है और चूंकि उस योजना का फ्रांस की तत्कालीन स्थिति से गहरा सम्बन्ध था अतः सामाजिक पुनर्गठन के सम्बन्ध में उनके विचारों को समझने के लिए फ्रांस की तत्कालीन राजनीतिक व आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखना पड़ेगा।

सामाजिक व आर्थिक स्थिति

कौंत के समय में फ्रांस की पुरानी सामाजिक व्यवस्था विघटित हो रही थी। फ्रांसीसी क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्तियों ने एक नये युग का श्रीगणेश किया था। फ्रांसीसी समाज एक नया स्वरूप धारण कर रहा था। यह स्पष्ट था कि भावी समाज-व्यवस्था पूंजीवादी व औद्योगिक होगी। कौंत इस परिवर्तन को ही नहीं देख रहे थे बल्कि उन्होंने उन बुराइयों को भी देख लिया था जो इस नये समाज में होंगी।

पूंजीवादी समाज की आलोचना

कौंत ने पूंजीवाद की कड़ी आलोचना की है। उनका कहना है कि उसकी राजनीतिक धारणाएं उद्देश्यहीन हैं। उसका इस बात से कोई वास्ता नहीं है कि सत्ता का उपयोग किस उद्देश्य से और किस रूप में किया जाना चाहिए। उसका राजनीतिक उद्देश्य तो केवल सत्ता हासिल करना है। यही कारण है कि वह समझता है कि संसदीय शासन की स्थापना हो जाने मात्र से क्रान्ति (फ्रांसीसी क्रान्ति) पूर्ण हो गई है। इस क्रान्ति को लाने वाला मध्यम वर्ग सामाजिक पुनर्गठन के प्रति उतना ही भयभीत है जितना कि पुराना उच्च वर्ग उसके प्रति भयभीत रहता था। यह पूंजीवादी वर्ग पुरानी व्यवस्था की उन बातों को कायम रखना चाहता है जिससे यह आश्वासित हो जाय कि जनता शासन के आदेशों के समक्ष सिर झुकाती रहेगी। यह राजनीतिक नेताओं से किसी विशिष्ट कर्तव्य की अपेक्षा नहीं करता। यही कारण है कि सर्वहारा-वर्ग में कोई सुधार नहीं

हो सका है और उनकी हालत बराबर बिगड़ती गई है। यह पूँजीवादी वर्ग समझता है कि लाखों लोगों को उन्हें न्यायोचित अधिकार और समाज में सम्मानपूर्ण स्थान दिये बगैर, आधुनिक समाज में अनिश्चित काल तक बन्दी बनाकर रखा जा सकता है। इस पूँजीवादी वर्ग की पूँजी जिसने लोगों को मजदूरी दिलाने में माध्यम का काम किया है अब उनके दमन का माध्यम बन गई है। फलतः मशीनों का आविष्कार सर्वहारा-वर्ग के लिए नई मुसीबतों का कारण बना है।

औद्योगिक और सामाजिक नैतिकता

कौंत ने पूँजीवाद के उन्मूलन की सिफारिश नहीं की है। उनका कहना है कि इस दुरवस्था का कारण नई औद्योगिक व्यवस्था की औद्योगिक और वित्तीय टेक्नीक नहीं है, बल्कि उसका कारण यह है कि नई औद्योगिक और सामाजिक नैतिकता का विकास नहीं किया जा सका है— ऐसी नैतिकता जो आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था को नियमित व अनुशासित रख सके। इस बात में कोई बुराई नहीं है कि औद्योगिक शक्ति कुछ लोगों के हाथ में सीमित है। लेकिन यदि वे अपनी इस सत्ता का उपयोग दमन करने के लिये करते हैं तो यह बुरा है। यदि पूँजीपति यह भली प्रकार जानते हों कि उनका कर्तव्य क्या है और यदि वे उन कर्तव्यों का पालन करें तो पूँजीवाद में कोई बुराई नहीं है। जनता को इस बात से कोई सरोकार नहीं है कि पूँजी किन लोगों के हाथ में है बशर्ते वे उसका उपयोग पूरे समाज की भलाई के लिये करें। पूँजीवाद की सबसे बड़ी कमी यह है कि उसने किसी नैतिक व्यवस्था को जन्म नहीं दिया है। औद्योगिक सम्बन्ध नैतिक नियमों पर आधारित नहीं हैं। अतः पूँजी और श्रम के बीच बराबर संघर्ष चलता रहता है। इस बुराई को एक नई औद्योगिक और सामाजिक नैतिकता विकसित करके ही दूर किया जा सकता है और उसके लिये वैज्ञानिक (पॉज़िटिव) विश्वास-व्यवस्था को अपनाना पड़ेगा।

सामाजिक पुनर्गठन का आधार

कौंत ने समाजवाद का समर्थन नहीं किया। उनका कहना है कि राजनीतिक कार्यवाहियों द्वारा कुछ लोगों के हाथों में पूँजी को इकट्ठा होने से रोका जा सकता है, लेकिन ऐसा करने पर औद्योगिक कार्य-कलापों का विकास न हो सकेगा। सामाजिक पुनर्गठन का आधार राजनीतिक या आर्थिक न होकर नैतिक होना चाहिये। और तभी यह पुनर्गठन स्थायी हो सकेगा। पूँजीपतियों की पूँजी

छीनने के स्थान पर यह उपाय ज्यादा कारगर साबित होगा कि उनमें भी यह नैतिकता उत्पन्न की जाय कि वे अपनी पूँजी का उपयोग स्वार्थ-सिद्धि के लिए न करके पूरे समाज की भलाई के लिए करें। इसके लिए सामान्य नैतिक शिक्षा नितान्त आवश्यक है। पर इस आवश्यकता की पूर्ति किसी-न-किसी आध्यात्मिक सत्ता के स्थापित होने पर ही सम्भव है। आध्यात्मिक सत्ता के निर्देशन में सामान्य नैतिक शिक्षा की व्यवस्था हो जाने पर इस बात का कोई भय नहीं रह जायगा कि पूँजीपति-वर्ग दूसरों पर जुल्म कर सकेगा। पूँजीपति अपने को जनता के धन का नैतिक संरक्षक मानने। उनसे यह अपेक्षित होगा कि वे पहले नैतिक शिक्षा हासिल करें और उसके बाद सबकी भलाई के लिए काम करें। कौंत का विश्वास था कि सामाजिक नैतिकता विकसित करके ही ऐसी शक्ति उत्पन्न की जा सकती है जो पूँजीवादी समाज की समस्त समस्याओं को सन्तोषजनक ढंग से हल कर सके और वर्गों के आपसी संघर्षों को समाप्त कर सके।

सामाजिक शक्तियों का वर्गीकरण

कौंत ने मानव-व्यक्तित्व को जिन तीन विभागों में विभाजित किया है यानी भावना कर्म और बुद्धि उन्हीं के आधार पर उन्होंने सामाजिक शक्तियों को तीन विभागों में विभाजित किया है—भौतिक शक्ति जो कि कर्म पर आधारित होती है और जिसकी अभिव्यक्ति संख्या तथा सम्पत्ति के रूप में होती है दूसरी बौद्धिक शक्ति जो कि विभिन्न धारणाओं के रूप में अभिव्यक्त होती है और तीसरी नैतिक शक्ति जो कि प्रेम व सहृदयता पर आधारित होती है और जिसकी अभिव्यक्ति आज्ञाओं तथा आज्ञा-पालन के रूप में होती है। यह आज्ञा दे सकने का अधिकार चरित्र द्वारा प्राप्त होता है और आज्ञा-पालन की भावना हृदय-जनित होती है। सामाजिक संगठन में इन तीनों ही कार्यों का सही अनुपात में समन्वय होना चाहिये। अतः ये तीनों कार्य सामाजिक पुनर्निर्माण के आधारस्वरूप हैं और कौंत ने सामाजिक पुनर्निर्माण-सम्बन्धी सिद्धान्तों को इन्हीं तीन शक्तियों के समुचित समन्वय पर आधारित किया है। यदि हम किसी भी राज्य के बुनियादी सामाजिक वर्गों पर नजर डालें तो हम देखेंगे कि ये वर्ग तीन तरह के हैं। पहला वर्ग पुरोहितों या धार्मिक आचार्यों का है जो हमारी धारणाओं का निर्देशन करता है। दूसरा वर्ग महिलाओं का है जो हमें प्रेम व सहानुभूति के लिये प्रेरित करता है। और तीसरा वर्ग उन नेताओं का है जो व्यवहार जगत् में हमारे कार्य-कलापों का भले ही व युद्ध-सम्बन्धी हों अथवा उद्योग सम्बन्धी निर्देशन करता है। जन-साधारण इन तीनों ही वर्गों से जुड़ा हुआ होता है।

भावी समाज की परिकल्पना

कौंत ने जिस भावी समाज की परिकल्पना प्रस्तुत की है उसके शासन का दायित्व उन्होंने दो वर्गों पर डाला है—पॉजिटिव (वैज्ञानिक) धर्म के पुरोहितों और औद्योगिक नेताओं पर। उनका कहना है कि भौतिक निर्देशन तथा नैतिकता का पालन कराने का दायित्व पॉजिटिव (वैज्ञानिक) धर्म के नेताओं पर होना चाहिये और दैनिक शक्ति का स्थान औद्योगिक जीवन को ग्रहण करना चाहिये। इस समाज में पुरोहितों का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होगा। इन पुरोहितों अथवा धार्मिक नेताओं से कौंत का तात्पर्य समाजशास्त्रियों से है। वे समाज के वैज्ञानिक निर्देशक अथवा सचालक के रूप में होंगे और उनके चुनाव का आधार उनकी विशिष्ट योग्यता तथा समाजशास्त्र के सिद्धान्तों की जानकारी होगी। समाजशास्त्र के सिद्धान्त ही मनुष्य के धर्म होंगे। उन सिद्धान्तों की व्याख्या करने का दायित्व इन्हीं पुरोहितों पर होगा। इस नव मानव-धर्म यानी वैज्ञानिक समाजशास्त्र (पॉजिटिविज़्म) का निर्देशक-सिद्धान्त प्रेम होगा उसका आधार होगी सुव्यवस्था और उसका उद्देश्य होगा प्रगति। पुरोहितों को इस कार्य-विशेष के लिये प्रशिक्षित किया जायगा और उनसे साहस और धैर्य आदि वे सभी गुण अपेक्षित होंगे जो उनके कर्तव्य-पालन के लिये आवश्यक हों।

पुरोहितों के भावी संगठन की योजना

पुरोहितों का संगठन किस प्रकार का होना चाहिए, इसके सम्बन्ध में भी कौंत ने विस्तृत योजना प्रस्तुत की है। उदाहरण के लिए उन्होंने कहा है कि पश्चिमी यूरोप के लिए करीब २० हजार पुरोहितों (Priests) की आवश्यकता होगी। उनका अध्यक्ष एक महापुरोहित अथवा बड़ा पादरी होगा जिसका सदर मुकाम पेरिस में होना चाहिए। उसकी सहायता करने के लिए ७ राष्ट्रीय प्रमुख-पुरोहित या पादरी होने चाहिए और इस धर्म का जैसे जैसे विकास होता जाय वैसे-वैसे राष्ट्रीय प्रमुख-पुरोहितों की संख्या बढ़ायी जानी चाहिए। जब सम्पूर्ण विश्व इस धर्म के अन्तर्गत आ जाय उस समय प्रमुख-पुरोहितों की कुल संख्या ४६ होनी चाहिए। १ हजार परिवारों के लिए एक मन्दिर होना चाहिए और प्रत्येक मन्दिर के लिए एक पुरोहित या पादरी। समस्त पुरोहितों को निश्चित दर पर वेतन मिलना चाहिए, लेकिन यह वेतन दर इतनी कम होनी चाहिए कि पुरोहित बनने के लिए कोई आर्थिक आकर्षण न रहे और केवल वे ही लोग पुरोहित बनने के लिए सामने आयें जो समाज की सेवा करना चाहते हों।

पुरोहितों के कर्तव्य व दायित्व

जहाँ तक इन पुरोहितों के कर्तव्यों व जिम्मेदारियों का सम्बन्ध है, कौंत का कहना है कि उन्हें शिक्षा का संचालक होना चाहिए। उन्हें समाज के प्रत्येक व्यक्ति की योग्यताओं तथा गुणों के बारे में व्यक्तिगत जानकारी हासिल करके इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज में उसकी योग्यता के अनुरूप काम व पद मिले। उन्हें यह काम सुझावों द्वारा तथा समझा-बुझाकर करना चाहिए, न कि जोर-जबरदस्ती द्वारा। व्यक्तियों के गुणों तथा उनकी क्षमताओं का अन्दाज लगाना बड़ा कठिन काम है और किसी भी व्यक्ति के बारे में तब तक सही अनुमान लगा पाना बहुत ही मुश्किल होता है जब तक कि वह किसी कार्य-विशेष को पूरा करके अपनी क्षमता का परिचय न दे दे तथापि कौंत पुरोहितों से यह आशा करते हैं कि वे इन कठिनाइयों के बावजूद प्रत्येक व्यक्ति के बारे में प्रारम्भिक रूप में भी सही अनुमान लगा सकने के योग्य होंगे। समाज में एकजुटता (Solidarity) की भावना उत्पन्न करना भी इन पुरोहितों का ही काम होगा। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के आचरण की देख रेख करने का काम भी इन पुरोहितों का ही होगा। इन पर यह जिम्मेदारी होगी कि वे लोगों को उनके सामाजिक कर्तव्यों के बारे में बताते रहें और जो लोग उन कर्तव्यों का पालन न करें उन्हें वे समझाएँ-बुझाएँ और आवश्यकता पड़ने पर चेतावनी भी दें। इन पुरोहितों में विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान भी होना चाहिए और वे इस योग्य होने चाहिए कि सभी सामाजिक मामलों में राय दे सकें। लेकिन इन पुरोहितों के पास भौतिक शक्ति कतई नहीं होनी चाहिये। उनकी शक्ति का आधार नैतिकता व बुद्धि होनी चाहिए। उन्हें अपने प्रभाव का उपयोग शिक्षा नसीहत तथा उपदेशों के माध्यम से करना चाहिए। उनके चरित्र भाव रण और बौद्धिकता का स्तर इतना ऊँचा होना चाहिए कि लोग उनके उन गुणों के कारण उनके भक्त बन जायें और उनकी बातों को माना करें।

भौतिक व औद्योगिक शक्ति

जहाँ तक भौतिक या औद्योगिक शक्ति का सम्बन्ध है वह मालिक वर्ग में निहित होनी चाहिए। मालिक वर्ग से कौंत का तात्पर्य पूँजीपति वर्ग से है जिसमें बैंकर (महाजन या लेन-देन का काम करने वाले) व्यापारी और उत्पादक (यानी कारखाने के मालिक) शामिल हैं। किसानों को भी कौंत ने इसी वर्ग में रखा है। इसके बाद उन्होंने इन उपवर्गों के लिए, उनके प्रभाव के अनुरूप अलग अलग स्थान प्रदान किया है। उन्होंने सबसे ऊँचा स्थान बैंकरों (महाजनों) को

होता है। उनका क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र में उनका प्रभाव सर्वाधिक होता है। उनका
ि शासन में भी महाजनों के पास सबसे अधिक सत्ता होनी चाहिए।
मालिक के पास केवल उतने ही उद्योग होने चाहिए, जितने का निर्देशन
ाक्तिगत रूप से कर सके। इन मालिकों को यह अधिकार होगा कि वे
आमदनी अथवा अपना पारिश्रमिक स्वयं निर्धारित कर सकें। कानून
ृष्टि से उन्हें यह अधिकार होगा कि वे आमदनी जितनी भी अधिक रखना
ह रखें लेकिन उनसे यह अपेक्षित होगा कि वे व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा
ता की भलाई को ज्यादा महत्त्व दर्से और अपनी आमदनी निर्धारित करते
नय लोभ का संवरण करन। उन्हें अपने इस सामाजिक कर्तव्य के प्रति जाग
क रखने का उत्तरदायित्व पुरोहितों पर होगा।

सामाजिक न्याय

कौंत की यह मान्यता है कि इस तरह की सामाजिक व्यवस्था होने पर एक
ओर तो सभी लोगों के साथ सामाजिक न्याय हो सकेगा और दूसरी ओर उद्योग
धन्धों की कार्य-कुशलता पर कोई बुरा असर न पड़ेगा। कारखाने के मालिकों
को मालिक बने रहने का पूरा अधिकार होगा और दूसरा ओर मजदूरों को
अपने पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने के समस्त साधन प्राप्त करने का
अधिकार होगा। कारखानों के मालिक अवकाश ग्रहण से सात वर्ष पूर्व अपनी
सम्पत्ति तथा कारखाने का उत्तराधिकारी नामजद कर सकेंगे। वे किसी भी
व्यक्ति को नामजद करने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र होंगे फिर भी उन्हें अपनी
इस नामजदगी की सार्वजनिक घोषणा करनी पड़ेगी और उनसे अपेक्षित होगा
कि वे ऐसे व्यक्ति को नामजद करें जो जनता को पसन्द हो।

महिलाओं का स्थान

कौंत ने अपनी योजना में महिलाओं को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया
है। उनका कहना है कि जिस तरह सार्वजनिक नैतिकता का दायित्व पुरोहितों
पर होगा ठीक उसी तरह पारिवारिक नैतिकता का दायित्व महिलाओं पर होना
चाहिए और परिवारों का निर्देशन भी महिलाओं द्वारा ही होना चाहिए।
ारिवार में महिलाओं की सत्ता आस्थापित करने के लिए कौंत ने यह कहा है
क वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद की मनाही होनी चाहिए और विधवाओं को
पुनर्विवाह की अनुमति नहीं होनी चाहिए। उस समाज में वैविध्य सम्बन्धों
की समस्त जटिलताएँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी क्योंकि दुनिया के सभी साथ

पुरोहितों के कर्तव्य व दायित्व

जहाँ तक इन पुरोहितों के कर्तव्यों व जिम्मेदारियों का सम्बन्ध है, कोंत का कहना है कि उन्हें शिक्षा का संचालक होना चाहिए। उन्हें समाज के प्रत्येक व्यक्ति की योग्यताओं तथा गुणों के बारे में व्यक्तिगत जानकारी हासिल करके इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज में उसकी योग्यता के अनुरूप काम व पद मिले। उन्हें यह काम सुझावों द्वारा तथा समझा-बुझाकर करना चाहिए, न कि जोर-जबरदस्ती द्वारा। व्यक्तियों के गुणों तथा उनकी क्षमताओं का अन्दाज लगाना बड़ा कठिन काम है और किसी भी व्यक्ति के बारे में तब तक सही अनुमान लगा पाना बहुत ही मुश्किल होता है जब तक कि वह किसी कार्य-विशेष को पूरा करके अपनी क्षमता का परिचय न दे दे, तथापि कोंत पुरोहितों से यह आशा करते हैं कि वे इन कठिनाइयों के बावजूद प्रत्येक व्यक्ति के बारे में प्रारम्भिक रूप में भी सही अनुमान लगा सकने के योग्य होंगे। समाज में एकसूत्रता (Solidarity) की भावना उत्पन्न करना भी इन पुरोहितों का ही काम होगा। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के आचरण की देख रेख करने का काम भी इन पुरोहितों का ही होगा। उन पर यह जिम्मेदारी होगी कि वे लोगों को उनके सामाजिक कर्तव्यों के बारे में बताते रहें और जो लोग उन कर्तव्यों का पालन न करें उन्हें वे समझाएँ-बुझाएँ और आवश्यकता पड़ने पर चेतावनी भी दें। इन पुरोहितों में विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान भी होना चाहिए और वे इस योग्य होने चाहिए कि सभी सामाजिक मामलों में राय दे सकें। लेकिन इन पुरोहितों के पास भौतिक शक्ति कतई नहीं होनी चाहिये। उनकी शक्ति का आधार नैतिकता व बुद्धि होनी चाहिए। उन्हें अपने प्रभाव का उपयोग शिक्षा, नसीहत तथा उपदेशों के माध्यम से करना चाहिए। उनका चरित्र, आचरण और बौद्धिकता का स्तर इतना ऊँचा होना चाहिए कि लोग उनके उन गुणों के कारण उनके भक्त बन जायें और उनकी बातों को माना करें।

भौतिक व औद्योगिक शक्ति

जहाँ तक भौतिक या औद्योगिक शक्ति का सम्बन्ध है, वह मालिक वर्ग में निहित होनी चाहिए। मालिक वर्ग से कोंत का तात्पर्य पूँजीपति वर्ग से है, जिसमें बैंकर (महाजन या लेन-देन का काम करने वाले) व्यापारी और उत्पादक (यानी कारखाने के मालिक) शामिल हैं। किसानों को भी कोंत ने इसी वर्ग में रखा है। इसके बाद उन्होंने इन उपवर्गों के लिए, उनके प्रभाव के अनुरूप अलग अलग स्थान प्रदान किया है। उन्होंने सबसे ऊँचा स्थान बैंकरों (महाजनों) को

दिया है क्योंकि ग्रौद्योगिक क्षेत्र में उनका प्रभाव सर्वाधिक होता है। उनका कहना है कि शासन में भी महाजनों के पास सबसे अधिक सत्ता होनी चाहिए। प्रत्येक मालिक के पास केवल उतने ही उद्योग होने चाहिए, जितने का निर्देशन वह व्यक्तिगत रूप से कर सके। इन मालिकों को यह अधिकार होगा कि वे अपनी ग्रामदनी ग्रथवा अपना पारिश्रमिक स्वयं निर्धारित कर सकें। कानून की दृष्टि से उन्हें यह अधिकार होगा कि वे ग्रामदनी जितनी भी अधिक रखना चाहें रखें लेकिन उनसे यह अपेक्षित होगा कि वे व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा जनता की भलाई को ज्यादा महत्व देंगे और अपनी ग्रामदनी निर्धारित करते समय लोभ का संवरण करेंगे। उन्हें अपने इस सामाजिक कर्तव्य के प्रति जाग रूक रखने का उत्तरदायित्व पुरोहितों पर होगा।

सामाजिक न्याय

कौंत की यह मान्यता है कि इस तरह की सामाजिक व्यवस्था होने पर एक ग्रोर तो सभी लोगों के साथ सामाजिक न्याय हो सकेगा और दूसरी ग्रोर उद्योग धन्धों की कार्य-कुशलता पर कोई बुरा ग्रसर न पड़ेगा। कारखाने के मालिकों को मालिक बने रहने का पूरा ग्रधिकार होगा और दूसरी ग्रोर मजदूरों को अपने पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने के समस्त साधन प्राप्त करने का अधिकार होगा। कारखानों के मालिक ग्रवकाश ग्रहण से सात वर्ष पूर्व अपनी सम्पत्ति तथा कारखाने का उत्तराधिकारी नामजद कर सकेंगे। वे किसी भी व्यक्ति को नामजद करने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र होंगे फिर भी उन्हें अपनी *इस नामजदगी की सार्वजनिक घोषणा करनी पड़ेगी* और उनसे अपेक्षित होगा कि वे ऐसे व्यक्ति को नामजद करें जो जनता को पसन्द हो।

महिलाओं का स्थान

कौंत ने अपनी योजना में महिलाओं को भी महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। उनका कहना है कि जिस तरह सार्वजनिक नैतिकता का दायित्व पुरोहितों पर होगा ठीक उसी तरह पारिवारिक नैतिकता का दायित्व महिलाओं पर होना चाहिए और परिवारों का निर्देशन भी महिलाओं द्वारा ही होना चाहिए। पारिवार में महिलाओं की सत्ता ग्राश्वासित करने के लिए कौंत ने यह कहा है कि वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद की मनाही होनी चाहिए और विधवाओं को पुनर्विवाह की ग्रनुमति नहीं होनी चाहिए। उस समाज में वैवाहिक सम्बन्धों की समस्त जटिलताएँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी क्योंकि दुनिया के सभी लोग

समान सिद्धान्तों के अनुयायी होंगे। इस समाज में शासितों के साथ कोई पुरुष पक्षपाती नहीं हो सकेगी क्योंकि शासकों को पुरोहितों के उपदेशों के अनुसार आचरण करना पड़ेगा। इस समाज में अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों को महत्व दिया जाएगा पर शासितों का शासन में कोई हाथ न होगा। न तो चुनाव हुआ करेंगे और न संसदीय सरकार होगी।

अध्याय ६

सामाजिक विकास की प्रक्रिया

कौंत की यह मान्यता थी कि सामाजिक विकास की मूल प्रवृत्तियां प्राकृतिक नियमों के अधीन हैं और समाज को अपने विकास के लिए सुनिश्चित सोपानों (अवस्थाओं) से होकर गुजरना पड़ता है। इन प्राकृतिक नियमों में मूलभूत परिवर्तन कर पाना मनुष्य के वश के बाहर है। लेकिन दूसरी ओर यह भी सही है कि मनुष्य अपने बुद्धि-बल से सामाजिक विकास की प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान कर सकता है और सीमित हद तक उसका निर्देशन भी कर सकता है। पर वह यह भी तभी कर सकता है जब सामाजिक विकास के प्राकृतिक नियमों की उसे भली प्रकार जानकारी हो और वह उन नियमों के अन्तर्गत समाज को आगे ले जाने के लिए प्रयास करे। अतः सामाजिक सुधारों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि तत्सम्बन्धी योजनाएं सभ्यता के सामान्य विकास की दिशा के अनुरूप हों। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि समाज-सुधार की योजनाएं तात्कालिक परिस्थितियों को दृष्टिगत रखकर बनाई गई हों और वे इतनी अग्रगामी न हों कि उनकी व्यावहारिकता ही नष्ट हो जाय। सामाजिक नीति निर्धारण करते समय इस बात को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि भूतकाल में सामाजिक विकास ने कौनसी दिशा ग्रहण की थी और उसके लिए कौन कौनसे तत्व उत्तरदायी थे।

समाज के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने विकास को प्राकृतिक नियमों पर छोड़ दे और स्वयं केवल एक दर्शक बन जाय। वह अपनी बुद्धिसंगत कार्यवाहियों द्वारा सामाजिक विकास की प्रक्रिया को तेज बना सकता है पर इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य सामाजिक व्यवस्था को एकदम बदल सकता है। यह सोचना गलत है कि कोई नया संविधान बना देने से ही सामाजिक व्यवस्था फौरन बदल जाएगी। सामाजिक व्यवस्थाओं को बदलने में समय लगता है और मनुष्य बुद्धि प्रयोग द्वारा उस अवधि को केवल कम कर सकता है। सामाजिक विकास अथवा समाज-सुधार के लिए जो भी योजनाएं बनाई जायें वे मनमानी नहीं होनी चाहिए बल्कि इतिहास द्वारा प्राप्त अनुभवों के आधार पर होनी चाहिए।

सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक सिद्धान्त का सम्बन्ध

कौंत का कहना है किसी भी काल-विशेष की सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था और तत्कालीन सामाजिक सिद्धान्तों में गहरा सम्बन्ध होता है। दूसरे शब्दों में, किसी भी काल-विशेष का सामाजिक दर्शन उस काल-विशेष की सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल होता है। उदाहरण के लिए, समाज की प्रारंभिक अवस्था में वैज्ञानिक सिद्धान्त सम्भव नहीं थे। मनुष्य का जीवन इतना छोटा होता है और उसकी तर्क-बुद्धि इतनी कमजोर होती है कि वह अपने को वातावरण के प्रभाव से मुक्त नहीं कर पाता। ऊँची-से ऊँची काल्पनिक उड़ानें भरने वाले लोग भी जो विचार प्रगट करते हैं वे उनके समय की सामाजिक परिस्थितियों से जुड़े हुए होते हैं।

सामाजिक नियन्त्रण

सामाजिक नियन्त्रण के लिए कौंत ने तीन बातें अनिवार्य मानी हैं—

(१) सामाजिक सिद्धान्तों की स्थापना

(२) जन-साधारण द्वारा उन सिद्धान्तों की मान्यता और उन पर अमल

(३) इन सिद्धान्तों का निर्धारण करने तथा इन्हें व्यवहृत करने वाली मान्यता-प्राप्त एजेन्सी अथवा माध्यम का होना।

इन तीनों बातों के मौजूद होने पर ही जनमत को इस रूप से संगठित किया जा सकता है कि वह सामाजिक नियंत्रण के लिए एक प्रभावकारी माध्यम के रूप में काम करे। सामाजिक नियन्त्रण के लिए जनमत नितान्त आवश्यक है और इसके बग़ैर सार्वजनिक नैतिकता सम्भव नहीं है। अतः सामाजिक सुधारों अथवा सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए जनमत को बुद्धिसंगत ढंग से संगठित करने की आवश्यकता होती है। जनमत के प्रभावकारी होने के लिए आवश्यक है कि उसकी अभिव्यक्ति का कोई-न-कोई मान्यता प्राप्त माध्यम हो। कौंत का कहना है कि उनकी परिकल्पना के समाज में पुरोहित वर्ग जनमत की बुद्धिसंगत अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम माध्यम होगा।

जनमत का प्रभाव

कौंत का कहना है कि समाज जैसे-जैसे आगे बढ़ता जैसे-जैसे जनमत का प्रभाव भी बढ़ता जाएगा। हम जिस तरह के समाज की ओर बढ़ रहे हैं उसकी एक खास विशेषता होगी जनमत का प्रभाव और इस तरह एक समय वह आयेगा जब कि समाज का नियमन मुख्यतया जनमत द्वारा हुआ करेगा। उस समाज में

न तो क्रान्तियाँ सम्भव होंगी और न उपद्रव क्योंकि सब लोगों के कर्तव्य सुस्पष्ट होंगे और सभी लोग जनमत के प्रभाव के कारण अपना कर्तव्य-पालन किया करेंगे। उस समाज में राजनीतिक पार्टियों आदि के लिए भी कोई स्थान न होगा और जनमत को निर्देशित करने का काम वैज्ञानिक समाज-सुधारकों का होगा।

अध्याय ७

दार्शनिक विचार

कौंत १९वीं शताब्दी के एक ऐसे दार्शनिक विचारक और समाज-सुधारक थे जिनका दर्शनशास्त्र काण्ट के दर्शनशास्त्र से प्रभावित तो अवश्य हुआ था लेकिन जिसे उनके दर्शनशास्त्र की छाया नहीं कहा जा सकता। कौंत के वैज्ञानिक दर्शन और काण्ट के आलोचनात्मक दर्शन में बहुत अन्तर है। वैसे तो कौंत भी काण्ट की तरह ही आत्म-विद्या और ब्रह्म-विद्या के विरोधी थे पर काण्ट ने इस बात से इन्कार नहीं किया कि कुछ चीजें ऐसी भी होती हैं जिनको समझ पाना विज्ञान के परे है। उन्होंने इस बात से भी इन्कार नहीं किया है कि कुछ बौद्धिक प्रक्रियाएँ ऐसी भी होती हैं जो विज्ञान के नियमों के अनुरूप न हों। उन्होंने जीवन के प्रति इस परम्परागत दृष्टिकोण को चुनौती नहीं दी है कि जो कुछ भी विज्ञान के परे है वह तर्क-संगत नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि केवल विज्ञान ही ज्ञान नहीं है। पर कौंत ने इस तरह के दृष्टिकोण को मान्यता नहीं दी है। उन्होंने विज्ञान से परे ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है। वे केवल उसी को तर्क-संगत मानते हैं जो वैज्ञानिक हो और इसी आधार पर उन्होंने ब्रह्म-विद्या और आत्म-विद्या को ज्ञान नहीं माना है। उन्होंने केवल विज्ञान को ही ज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति को ही ज्ञान की पद्धति माना है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने नैतिकता और धर्म को पूर्णतः अस्वीकार किया हो। वास्तव में उन्होंने जो दर्शन प्रस्तुत किया है उसमें नैतिकता और धर्म का भी समावेश है और उसे उन्होंने मानवता के धर्म की संज्ञा दी है। अपने इस धर्म को उन्होंने वैज्ञानिक (पॉज़िटिविस्ट) कहा है और उनका कहना है कि ऐसी किसी भी बात पर विश्वास न करना चाहिए जिसकी वैज्ञानिक पद्धति द्वारा पुष्टि न की जा सकती हो। चूँकि ब्रह्म-विद्या और आत्म-विद्या वैज्ञानिक नहीं हैं इसलिए उन्हें स्वीकार नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत उन्होंने केवल अपने मानव-धर्म अर्थात् अपनी 'पॉज़िटिविस्ट थ्योरी' को एकमात्र वैज्ञानिक धर्म कहा है।

तीन अवस्थाओं वाला नियम

कौंत ने जिस नियम की खोज की है उसे तीन अवस्थाओं (Stages) वाला नियम कहा जा सकता है। उनका कहना है कि मनुष्य का मानसिक बौद्धिक सामाजिक और ऐतिहासिक सभी प्रकार का विकास तीन अवस्थाओं में हुआ है यानी मनुष्य को सभी क्षेत्रों में तीन अवस्थाओं म होकर गुजरना पड़ा है। उन्होंने ब्रह्म-ज्ञान को मानव के बौद्धिक विकास की पहली अवस्था आत्म-ज्ञान को दूसरी अवस्था और विज्ञान को तीसरी अवस्था कहा है। इस तीसरी अवस्था के लिए उन्होंने पॉजिटिव शब्द का प्रयोग किया है और यह दावा किया है कि 'पॉजिटिव साइंस' में ही समस्त मानव ज्ञान सीमित है।

कौंत ने वैज्ञानिक दार्शनिक होने के कारण विज्ञान की एकता के आदर्श को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि विज्ञानों में जो अन्तर है वह केवल उनके कार्यक्षेत्र अथवा उनकी सीमाओं का है। लेकिन चूंकि सभी विज्ञानों की पद्धतियाँ समान हैं और ये पद्धतियाँ परीक्षण तथा तर्क पर आधारित हैं इसलिए इन सबमें बुनियादी एकता है। दर्शन-शास्त्र को भी उन्होंने एक प्रकार का विज्ञान ही माना है लेकिन उन्होंने इसकी *गणना* बुनियादी विज्ञानों में नहीं की है। उनका कहना है कि केवल दो ही विज्ञान बुनियादी हैं—शरीर-विज्ञान और समाजशास्त्र।

मानव विकास की अन्तिम अवस्था

कौंत का कहना है कि मानव अपने विकास की तृतीय और अन्तिम अवस्था से गुजर रहा है। यह अवस्था अथवा युग विज्ञान का युग है। इस युग में ऐसा कोई भी धर्म मानव के लिये उपयुक्त नहीं हो सकता जो वैज्ञानिक न हो। पर परम्परागत धर्म ऐसी मान्यताओं पर आधारित हैं जो वैज्ञानिक नहीं हैं और उनको मानने का अर्थ है उनकी अवैज्ञानिक मान्यताओं को स्वीकार करना। वे व्यक्ति और समूह की समस्याओं के समाधान में सहयोगी बनने के बजाय उनकी ओर से मनुष्य का ध्यान हटाती हैं। अतः इस युग में एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो वैज्ञानिक हो और सेवा तथा प्रेम के सिद्धान्तों पर आधारित हो। कौंत का कहना है कि उनका दर्शन इस नये मानव-धर्म के लिए आधार प्रस्तुत करता है क्योंकि यह वैज्ञानिक है और इसलिए वर्तमान युग के अनुकूल है। कौंत ने मानव विकास की तीन अवस्थाओं की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रथम अवस्था में मानव-मस्तिष्क ने सभी चीजों के उद्गम और मूल कारणों का पता लगाने की कोशिश की है। इस अवस्था में उसकी कोशिश पूर्ण ज्ञान हासिल करने को रही

है। दूसरी अवस्था में उसने निर्गुण शक्तियों को समझने और जानने की कोशिश की है। लेकिन तीसरी अवस्था में उसने इन अर्थहीन प्रयासों का परित्याग कर दिया। उसने प्रकृति और उसकी प्रक्रियाओं के उद्गम का पता लगाने की कोशिश छोड़कर उसके नियमों को जानने और समझने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। तीन अवस्था वाले जिस प्राकृतिक नियम की खोज करने का कौंत दावा करते हैं उसके लिये उन्होंने अनेक प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। उनका कहना है कि केवल मानव इतिहास ही तीन अवस्थाओं में विभाजित नहीं है, बल्कि प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन-काल में इन्हीं तीन अवस्थाओं से होकर गुजरना होता है। बचपन में उसकी मानसिक अवस्था ब्रह्मज्ञानी-जैसी होती है, युवा अवस्था में शास्त्रज्ञानी-जैसी और प्रौढ़ावस्था में एक दार्शनिक-जैसी।

कौंत के दर्शन का आधार यह है कि समस्त प्रक्रियाएँ अनिवार्य रूप से प्राकृतिक नियमों के अनुरूप होती हैं। उनके कारणों की खोज करना व्यर्थ है। हमारा काम तो उन नियमों की खोज करना होना चाहिए। उनके उद्गम उद्देश्य और कारणों के बारे में पता लगाते रहने से हम किसी भी नतीजे पर नहीं पहुँच सकेंगे। हम तो प्रत्येक प्रक्रिया की परिस्थितियों का सही-सही विश्लेषण करना चाहिए और अन्य प्रक्रियाओं के साथ उसके स्वाभाविक सम्बन्धों की जानकारी द्वारा तथा अन्य प्रक्रियाओं के साथ उसके तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उसे समझने की कोशिश करनी चाहिए।

मैक्स वेबर
(MAX WEBER)

अध्याय १

भूमिका

मैक्स वेबर का जन्म थुरिंजिया के एरफर्ट नामक स्थान पर २१ अप्रैल १८६४ को हुआ था। उनके पिता एक वकील और म्यूनिसिपल कौन्सलर थे। १८६९ में यह परिवार बर्लिन आ गया। वहाँ उनके पिता समृद्धिशाली राजनीतिक बन गये। वे दक्षिणपन्थी उदारवादियों में से थे। मैक्स वेबर की माँ भी उदार विचारों की थीं और प्रोटेस्टेंट धर्म में उनका विश्वास था। वेबर की धर्म के प्रति उदासीनता थी जिससे उनकी माँ चिन्तित रहती थीं। वे स्कूल की उबा देने वाली दिनचर्या को पसन्द नहीं करते थे और बड़ों की सत्ता के प्रति उनका रुख विद्रोहात्मक था। उन्होंने विश्वविद्यालय की शिक्षा पाने से पूर्व ही १८७९ में स्कूल छोड़ दिया। उनके अध्यापक उनसे प्रभावित नहीं थे। बाद में वे हिडलबर्ग जाकर कानून के विद्यार्थी हो गये और इतिहास अर्थशास्त्र व दर्शनशास्त्र आदि विषयों का अध्ययन किया। १९ वर्ष की अवस्था में वे अनिवार्य सैन्य सेवा के लिए स्ट्रेसबर्ग चले गये। एक वर्ष की सैन्य-शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने बर्लिन और गोटिनजन में विश्वविद्यालय-शिक्षा जारी की और कानून की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। पढ़ाई समाप्त करने के बाद उन्होंने वकालत शुरू की। बाद में उन्होंने व्यापारिक कम्पनियों के इतिहास पर थीसिस लिखकर पी-एच० डी० की डिग्री हासिल की और कानून की भी दूसरी परीक्षा पास की।

१८९१ में उन्होंने 'कृषि संस्थाओं का इतिहास' नामक एक ग्रन्थ लिखा जिसे मार्क्स ने 'रोमन्स के गुप्त इतिहास' की संज्ञा दी। इसमें उन्होंने प्राचीन इतिहास का समाजशास्त्रीय अर्थशास्त्रीय और सांस्कृतिक विश्लेषण प्रस्तुत किया था। १८९१ में उन्होंने अपना विवाह किया। १८९४ में वे फ्रीबर्ग विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर हो गए। दूसरे ही वर्ष वे स्काटलैण्ड और आयरलैण्ड गये। बाद में अमरीका की यात्रा करके वे उससे बहुत प्रभावित हुए। अमरीका में उनका ध्यान इस बात की ओर गया कि वहाँ की पूँजीवादी व्यवस्था में मानव-जीवन बेकार हो जाता है। अमरीका में उनका मुख्य अनुभव प्रजातन्त्र में नौकरशाही की भूमिका के सम्बन्ध में था। उन्होंने यह देखा कि यदि

शासन को नेतृत्वहीन नहीं बनना है तो आधुनिक प्रजातन्त्र के लिए मशीनीय राजनीति अनिवार्य है। मशीनीय राजनीति से उनका तात्पर्य था पेशेवर लोगों अनुशासित पार्टी संगठनों और प्रचार के साधनों द्वारा राजनीति का संचालन। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मक था। उनका कहना था कि प्रजातन्त्र द्वारा एक प्रवृत्ति के रूप में नौकरशाही का विरोध लाजिमी है क्योंकि यह प्रवृत्ति एक ऐसा वर्ग उत्पन्न कर देती है जो अपने प्रशिक्षण परीक्षा के सर्टिफिकेटों और पदों के कारण आम जनता से अलग-थलग रहता है। लेकिन दूसरी तरह के प्रशासनों में सार्वजनिक धन का अपव्यय होता है अनियमितताएँ होती हैं टेकनिकल कार्य-कुशलता का अभाव होता है और इसलिए वह प्रशासन उत्तरोत्तर असम्भव और अप्रजातंत्रीय बनता जाता है। फलतः प्रजातन्त्र को वही चीज (नौकरशाही) अपनानी पड़ती है जिससे प्रजातन्त्रीय भावना घृणा करती है। उन्होंने उन अमरीकी मजदूरों का बार-बार जिक्र किया है जो विशेषज्ञ अधिकारियों के विरुद्ध थे क्योंकि वे उन अधिकारियों से घृणा करते थे और वे अधिकारी अपने पदों से हटाए नहीं जा सकते थे। ऐसा करके ये मजदूर वास्तव में नागरिक सेवाओं में सुधार का विरोध करते थे और उनकी दृष्टि में उन अधिकारियों की अपेक्षा भ्रष्ट राजनीतिज्ञ बेहतर थे क्योंकि वे उन्हें घृणा की दृष्टि से देख सकते थे और उन्हें चाहे जब अलग कर सकते थे। सैन्य-सेवा के उनके अनुभवों ने भी समाजशास्त्र और नौकरशाही के प्रति उनकी धारणाओं को प्रभावित किया था।

अध्याय २

राजनीतिक और बौद्धिक दृष्टिकोण

मैक्स वेबर एक राजनीतिक व्यक्ति तथा राजनीतिक बुद्धिजीवी थे अतः उनके विचारों को राजनीतिक सार्वजनिक घटनाओं तथा वैयक्तिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है। उनके राजनीतिक विचारों के पीछे सदैव यह सिद्धान्त रहा है कि राजनीति के बारे में परिणामों के अनुसार राय कायम की जानी चाहिए और मनुष्यों की नीयत या उद्देश्य जानने के लिए उनके कार्यों के प्रत्याशित अथवा अप्रत्याशित परिणामों को मापदण्ड मानना चाहिए।

वे एक सक्रिय राजनीतिज्ञ थे और शुरू-शुरू में उन्होंने अपने पिता के 'राष्ट्रीय उदारवाद' (National Liberalism) को अपनाया। बीस वर्ष की अवस्था से वे राष्ट्रीय उदारवादियों में शामिल हो गए थे। वे बिसमार्क के प्रशंसक थे और जर्मनी के एकीकरण तथा उसकी शक्ति बढ़ाने के पक्ष में थे पर वे बिसमार्क को एक हीरो के रूप में पूजने को तैयार न थे तथा स्वतन्त्र विचारों वाले राजनीतिज्ञों के प्रति उनकी असहिष्णुता की आलोचना करते थे। पर यह आन्दोलन बड़े-बड़े पूँजीपतियों का पिछलग्गू बनता जा रहा है। अतः २९ वर्ष की अवस्था से उनका झुकाव 'सामाजिक उदारवाद' की ओर होने लगा और वे यह महसूस करने लगे कि समाज के छोटे-से-छोटे और कमजोर-से-कमजोर वर्ग के प्रति भी राज्य का कुछ कर्तव्य होता है। वे मजदूरों की स्थिति सुधारने के पक्ष में थे और उनका कहना था कि मजदूरों के प्रति पूँजीपतियों का दायित्व पिता के दायित्वों के समान है। यही कारण है कि उन्होंने चुनावों में अनुदार दल का साथ दिया यद्यपि वे उसके सदस्य नहीं बने।

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में वेबर ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के विरुद्ध लेख लिखे। उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता में राष्ट्रीय विभिन्नता तथा अन्य तत्त्व आर्थिक नियमों और वर्गों की स्थिति की अपेक्षा ज्यादा बड़ी भूमिका अदा करते हैं। बाद में मार्क्सवाद के प्रति उनके विचारों में परिवर्तन और जटिलता आयी। जब वे १० वर्ष के थे तब उन्होंने देखा कि समस्त आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रयासों के फल मौजूदा पीढ़ी को

व मिलकर भावी पीढ़ी को मिलते हैं इसलिए भविष्य वर्तमान की अपेक्षा ज्यादा महत्वपूर्ण होता है। उन्होंने यह भी लिखा कि वास्तव में सत्ता के लिए संघर्ष ही आर्थिक विकास की प्रक्रिया होती है।

राष्ट्र का नेतृत्व

१९वीं शताब्दी के मध्य में वेबर एक साम्राज्यवादी के रूप में सामने आये और उन्होंने राष्ट्रीय राज्य की सत्ता तथा उसके हितों की रक्षा को ही जीवन का सर्वोपरि मूल्य ठहराया। उन्होंने यह चेतावनी दी कि आर्थिक सत्ता सर्वत्र राष्ट्र के राजनीतिक नेतृत्व की आवश्यकता के अनुरूप नहीं होती। उन्होंने अपने को आर्थिक राष्ट्रवादी कहा और विभिन्न वर्गों का मूल्यांकन राज्य के राजनीतिक हितों की दृष्टि से किया। उन्होंने कहा कि यदि राजनीतिक सत्ता किसी ऐसे वर्ग के हाथ में हो जो आर्थिक दृष्टि से मरणोन्मुख हो तो वह राष्ट्र के लिए अहितकर और खतरनाक होता है। पर वह उससे भी ज्यादा खतरनाक होता है कि जिस वर्ग के हाथों में आर्थिक सत्ता के साथ-साथ राजनीतिक शक्ति खिस टती जा रही हो वह राज्य के राजनीतिक नेतृत्व में अपरिपक्व हो। उनकी इस धारणा का सम्बन्ध सीधे-सीधे जर्मनी की तत्कालीन परिस्थितियों से था क्योंकि जर्मनी की रूस के साथ पुनर्संन्धि नहीं हो पाई थी और जर्मनी ग्रेटब्रिटेन के साथ भी कोई समझौता नहीं कर पाया था। इस तरह वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अकेला पड़ गया था और उसे हर तरफ से अपने शक्तिशाली पड़ौसियों से खतरा था। वेबर की दृष्टि में इसके लिए तत्कालीन अपरिपक्व राजनीतिक नेतृत्व उत्तरदायी था।

पूँजीवाद व प्रजातन्त्र

१८९७ में जब कि पूंजीपतियों द्वारा हड़ताल कराने वाले ट्रेड यूनियन नेताओं को सजाएँ देने के लिए कानूनी व्यवस्था की माँग की जा रही थी वेबर ने औद्योगिक पूंजीवाद का समर्थन किया जो उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय शक्ति के लिए अनिवार्य था। पर उन्होंने वैयक्तिक स्वतन्त्रता का भी समर्थन किया। १९०३ में उन्होंने एक तरीके से अनुदार दल (Conservative party) से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और उस पर वेतिहर पूंजीपतियों के भौतिक तथा राजनीतिक हितों के परोक्ष समर्थन का आरोप लगाया। इसके बाद वे अमरीका चले गये और १९०५ में जब वे जर्मनी वापस लौटे तो रूस में क्रान्ति शुरू हो चुकी थी। उन्होंने रूस की घटनाओं का अध्ययन करके जो लेख लिखे

जिसमें उन्होंने यह चेतावनी दी थी कि यदि ज़ार का पतन हो गया और साम्यवादी प्रशासक हो गये तो रूस के समूचे सामाजिक ढाँचे पर नौकरशाही का साम्राज्य हो जायेगा। उस समय स्वयं जर्मनी भी एक राजनीतिक संकट से गुज़र रहा था जिसके लिए सीधे-सीधे कैसर उत्तरदायी था। अपनी अदूरदर्शी नीतियों और असंयत भाषणों के कारण कैसर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मज़ाक और निन्दा का पात्र बन गया था। वेबर ने देखा कि इस स्थिति का मूल कारण यह है कि जर्मनी का राजनीतिक ढाँचा ऐसा है जिसकी वजह से शासन चलाने के लिए ज़िम्मेदार राजनीतिक नेताओं का चयन नहीं हो पाता और संवैधानिक व्यवस्थाएँ ऐसी हैं जिनके कारण योग्य और कुशल व्यक्ति राजनीति को अपना पेशा बनाने की अपेक्षा व्यापार या विज्ञान के क्षेत्र में जाना बेहतर समझते हैं। इस धारणा के कारण वेबर के विचारों में कुछ प्रजातंत्रीयता आयी। वैसे प्रजातन्त्र और प्रजातंत्रीय मूल्यों में उनकी कोई आधारभूत आस्था नहीं थी। वे प्रजातंत्रीय संस्थाओं तथा विचारों को स्वयं में मूल्यवान नहीं समझते थे बल्कि उनके प्रति उनकी धारणा तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुरूप थी। उनकी दृष्टि में प्रजातंत्रीय संस्थाओं और विचारों का महत्त्व केवल यह था कि प्रजातंत्रीय व्यवस्था में कुशल राजनीतिक नेताओं का चयन किया जा सकता है।

वे यह महसूस करते थे कि आधुनिक समाज में राजनीतिक नेता ऐसे होने चाहिए, जो विशाल जन-समूहों को नियंत्रित व अनुशासित कर सकें। उनकी दृष्टि में समान मताधिकार वोटों के लिए संघर्ष और संगठन की स्वतन्त्रता का तब तक कोई महत्त्व नहीं हो सकता जब तक उनके परिणामस्वरूप शक्तिशाली राजनीतिक नेता उत्तरदायित्व ग्रहण करने के लिए सामने न आएँ और ज़िम्मेदारियों से बचने की कोशिश न करें। उन्होंने एक ओर तो कैसर के विरुद्ध आवाज़ उठाई और दूसरी ओर सोशल डेमोक्रेटों के विरुद्ध, जो कि बुर्जुआ (पूँजीपति) दलों के साथ समझौता करके शासन का दायित्व सँभालने को तैयार न थे और इस प्रकार, संवैधानिक शासन चलाए जाने के मार्ग में बाधक बने हुए थे। उन्होंने अपना ध्यान ऐसे दल की खोज करने में लगाया जो साम्राज्यवादी प्रतिद्वन्द्विता के उस युग में राजनीतिक कार्यों के अनुरूप कुशल नेतृत्व प्रदान कर सके।

नीति-निर्धारण

यद्यपि वेबर कट्टर राष्ट्रवादी थे और वे शक्ति को ही नीति के औचित्य का निर्णायक तर्क मानते थे, तथापि उन्होंने १९११ में यह विचार प्रकट किया कि

किन्हीं भी सुनिश्चित राजनीतिक विचारों को अनैतिक कहकर उनकी आलोचना करना उचित नहीं है। उनकी मान्यता थी कि नीति-निर्धारण न तो नैतिक अच्छा है और न हो सकता है। उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ साम्राज्यवादी थीं और वे चाहते थे कि जर्मनी अपने सैनिक अड्डे कायम करे और वह लीज तथा नेमर पर २० वर्ष के लिए आधिपत्य जमा ले। फिर भी युद्ध आरम्भ होने पर उन्होंने जर्मनी द्वारा बेलजियम पर आधिपत्य किये जाने का विरोध किया। वे जर्मनी की तत्कालीन परिस्थितियों से बहुत चिन्तित थे। अक्तूबर, १९१५ में उन्होंने लिखा कि इस समय की स्थिति की विशेषता यह है कि प्रत्येक विजय हमें शान्ति से दूर हटाती जा रही है। उनकी मान्यता यह थी कि प्रथम महायुद्ध का कारण राष्ट्रों की आर्थिक और राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता थी। उन्होंने जर्मनी पर अपने मामलों को कुशलतापूर्वक न चला सकने का आरोप लगाया और युद्ध का समर्थन करने वाली पार्टियों की महात्त्वाकांक्षाओं की निन्दा करते हुए कहा कि उसके परिणामस्वरूप भयंकर बरबादी आयेगी। उन्हें भय था कि अमरीका के युद्ध में शामिल हो जाने पर जर्मनी बिलकुल अकेला पड़कर तबाह हो जायेगा। १९१६ में उन्होंने यह मत प्रकट किया चूँकि जर्मनी शक्तिशाली पड़ोसियों से घिरा हुआ है उसे दूसरे देशों पर विजय प्राप्त करने तथा अहंकारपूर्ण नीति अपनाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, बल्कि उसे समझौते की नीति अपनानी चाहिए ताकि वह अकेला न रहे। वे यह मानते थे कि युद्ध का कारण यह था कि एक औद्योगिक शक्ति के रूप में जर्मनी का विकास विलम्ब से हुआ।

३ नवम्बर १९१८ को जर्मनी में नौ-सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। दूसरे दिन यूनिख में भाषण करते हुए उन्होंने जर्मनी के पुनर्निर्माण पर जोर दिया पर क्रान्तिकारी बुद्धिवादियों ने उनके भाषण में बाधा पहुँचाई। कुछ ही समय बाद मजदूरों और नौ-सैनिकों की परिषदों द्वारा एक क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना हो गई। वेबर उन प्रोफेसरों के विरुद्ध थे जो इस समय जर्मनी पर दोषारोपण कर रहे थे। पर उन्होंने क्रान्ति का भी कड़े-से-कड़े शब्दों में विरोध किया। उनकी यह धारणा थी कि यह क्रान्तिकारी सरकार शान्ति-समझौतों के लिए जो शर्तें हासिल कर सकेगी वे उन शर्तों से बदतर होंगी जो पिछली सरकार हासिल कर सकने की स्थिति में थी।

मजदूरों का संघर्ष

वेबर की पत्नी का कहना है कि वेबर की मजदूरों के संघर्ष के प्रति बहुत सहानुभूति थी और वे कभी-कभी यह भी सोचते थे कि उनके दल में शामिल

हो जायें पर वे हमेशा नकारात्मक परिणामों पर पहुँचे। उनकी पत्नी के कथनानुसार उनका तर्क यह था कि कोई भी व्यक्ति सच्चा समाजवादी तभी हो सकता है जब वह सम्पत्तिहीन व्यक्तियों की भाँति जीवन व्यतीत करने को तैयार हो पर यह वेबर के लिए सम्भव नहीं था क्योंकि अस्वस्थता के कारण वे किराये से होने वाली आय पर निर्भर थे। दूसरी वजह यह थी कि वे एक व्यक्तिवादी थे।

संवैधानिक प्रजातन्त्र

मैक्स वेबर में प्रथम महायुद्ध के बाद की जर्मनी की स्थिति और दलगत राजनीति के कारण बड़ी निराशा पैदा हो गई थी। उन्हें उस वातावरण में घुटन महसूस होती थी। उन्होंने 'बुर्जुआ प्रजातन्त्र' की मार्क्सवादी आलोचना का अध्ययन प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरूप वे अनुदार दल और साम्राज्यवाद से विमुख हो गये। उन्होंने मार्क्सवाद को अपनाया तो नहीं पर उससे प्रभावित अवश्य हुए। वे अब भी प्रजातन्त्रीय संवैधानिक शासन को स्वयं में कोई मूल्य-वान चीज न समझकर यह मानते थे कि संवैधानिक प्रजातन्त्र से जर्मनी की तत्कालीन समस्या हल हो सकती है। अप्रैल १९१७ में उन्होंने लिखा कि वे राजशाही की रक्षा हेतु होने वाले किसी भी युद्ध का समर्थन करने को तैयार नहीं हैं। उन्होंने यह भी लिखा कि वे राष्ट्रीय युद्ध के अलावा किसी भी युद्ध के लिए एक भी गोली न चलायेंगे या एक भी पैसा न देंगे। उनका सबसे अधिक जोर इस बात पर था कि शासन राजनीतिज्ञों द्वारा चलाया जाना चाहिए, भले ही राज्य का स्वरूप कुछ भी क्यों न हो। राजा को वे शासन चलाने का हकदार तभी मानते थे जब वह राजनीतिज्ञ हो अथवा राजनीतिज्ञ बन सकने के योग्य हो। वे संविधान को भी मशीनों की भाँति एक माध्यम मात्र मानते थे। उन्हें संवैधानिक प्रजातन्त्र में सबसे बड़ा लाभ यह दिखाई पड़ता था कि राजनीतिक दलों की दलीय प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप महत्त्वाकांक्षी और योग्य राजनीतिक नेता शासन सँभालने के लिए सामने आयेंगे। वे दूसरा लाभ यह देखते थे कि नेता नौकरशाही को दबा सकेंगे और उससे अपनी इच्छानुसार कार्य ले सकेंगे क्योंकि वे नौकरशाही को कोई नीति-निर्धारक तथा उत्तरदायी राजनीतिक एजेन्सी न मानकर केवल एक माध्यम मानते थे जिसका उपयोग राजनीतिक नेताओं द्वारा किया जाना चाहिए। अतः उन्होंने संवैधानिक प्रजातन्त्र के लिए प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया।

मैक्स वेबर के जीवन-काल में जर्मनी की बौद्धिक स्थिति समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त अनुपयुक्त थी। हीगल के दार्शनिक विचारों का विशेष प्रभाव था और अनुदार विचारों का बोलबाला था। पर

बुद्धिजीवी वर्ग में उदारवाद का प्रभाव बढ़ चला था। ये उदारवादी उन लोगों के विरुद्ध थे जिन्हें खेतिहर पूँजीपति कहा जा सकता है यानी जिनके पास बड़े-बड़े कृषि फार्म थे और जो अनाज का व्यापार करते थे। ये लोग यह आन्दोलन कर रहे थे कि स्वतन्त्र व्यापार की छूट होनी चाहिए यानी उन्हें यह छूट होनी चाहिए कि वे जर्मनी के नवोत्पन्न औद्योगिक शहरों को अनाज न बेचकर उसका इंगलैंड निर्यात कर सकें। १८४८ में समाजवादी पार्टी का निर्माण हुआ लेकिन यह पार्टी जल्दी मार्क्सवादी बन गई और उसने कितने ही कुशाग्र बुद्धि वाले लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया। इस तरीके से जर्मनी के बुद्धिजीवी तीन विचार धाराओं में विभक्त थे—

१ अनुदारवाद,
२ उदारवाद और
३ मार्क्सवाद।

बौद्धिक दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि

उन दिनों राजनीतिक पार्टियाँ अपनी अधिकांश शक्ति सैद्धान्तिक चर्चाओं में ही लगाती थीं क्योंकि संवैधानिक प्रजातन्त्र न होने के कारण वे सत्ता हासिल कर सकने की स्थिति में नहीं थीं। ये दल अलग-अलग वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे। जमींदार और खेतिहर पूँजीपति अनुदार दल के साथ थे। शहरों के व्यापारी और लेन-देन का धन्धा करने वाले लोग उदार दल के साथ थे। समाजवादी पार्टी में मजदूर वर्ग के लोग और बुद्धिजीवी थे। औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था होने के कारण एक ऐसा वातावरण बन गया था जिसमें हर व्यक्ति शीघ्र-से-शीघ्र अमीर बनने की कोशिश कर रहा था। इन समस्त और संघर्षरत समूहों के बीच मैक्स वेबर ने अपना बौद्धिक दृष्टिकोण स्थिर किया। उन्होंने तत्कालीन तीनों ही विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करने और संघर्षरत वर्गों के समान हित ढूँढ़ निकालने की कोशिश की। वे मुख्यतः उदारवादी थे लेकिन उन पर अनुदारवाद और मार्क्सवाद दोनों ही का प्रभाव पड़ा था।

वेबर और मार्क्स

मैक्स वेबर ने मार्क्स की ऐतिहासिक पद्धति को तो अपनाया था और वे ऐतिहासिक भौतिकवाद के भी सर्वथा विरुद्ध नहीं थे लेकिन उन्होंने मार्क्स के आर्थिक भौतिकवाद को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने उसके स्थान पर

राजनीतिक और सैनिक भौतिकवाद को अपनाया। मार्क्स ने मानव-इतिहास को आर्थिक आधार पर कालों (अवस्थाओं) में विभाजित किया है। उनका कहना है कि उत्पादन के साधन बदलने के साथ-साथ मानव-इतिहास में युग-परिवर्तन होता रहा है। दूसरे, उनका कहना है कि मानव इतिहास का विकास वर्ग-संघर्ष द्वारा हुआ है। वेबर मानव इतिहास पर आर्थिक प्रभाव को तो स्वीकार करते थे लेकिन उनकी दृष्टि में आर्थिक ढांचे को आधार बनाकर मानव इतिहास का काल-विभाजन करना गलत है। यद्यपि उन्होंने मानव इतिहास को जिन कालों में बाँटा है वे मार्क्स द्वारा निर्धारित कालों से प्रायः मिलते जुलते हैं तथापि उनके काल-विभाजन का आधार आर्थिक न होकर राजनीतिक और सैनिक है।

आर्थिक व राजनीतिक सत्ता

मैक्स वेबर की दृष्टि में आर्थिक और राजनीतिक सत्ता दो बिलकुल भिन्न चीजें हैं और राजनीतिक सत्ता आर्थिक सत्ता पर आश्रित नहीं। वे मार्क्स के इस सिद्धान्त को नहीं मानते थे कि जिन लोगों के पास उत्पादन के साधन रहे हैं यानी जिन लोगों के पास आर्थिक सत्ता रही है उन्हीं के पास राजनीतिक सत्ता भी चली गई है। वेबर का कहना है कि राजनीतिक सत्ता उन लोगों के हाथ में रही है जिनके पास हथियार और प्रशासन के साधन रहे हैं। उदाहरण के लिए सामन्तवाद को लें। उस समय शासन का युद्ध-सामग्री और प्रशासन के साधनों पर एकाधिकार नहीं था। सामन्त व सरदारों को वैयक्तिक सम्पत्ति की ही भाँति सुसज्जित सेनाएँ रखने का अधिकार था। बाद में ये सरदार खुद ही राजा बन बैठे क्योंकि इनके पास राजनीतिक सत्ता का माध्यम (अर्थात् सेना) और प्रशासन के अन्य साधन मौजूद थे।

मानव-इतिहास

मानव इतिहास के प्रति उनका दृष्टिकोण बुनियादी रूप से आर्थिक न होकर राजनीतिक था। वे दरअसल यह मानते थे कि किसी भौगोलिक क्षेत्र-विशेष में शक्ति-प्रयोग के एकाधिकार को ही 'राज्य' कहा जाता है। वे भौगोलिक स्थिति को भी विशेष महत्त्व देते थे। उनका कहना था कि समुद्र तटों और द्वीपों के राज्य प्रजातन्त्रों के रूप में विकसित होते तथा मैदानी क्षेत्रों के राज्य साम्राज्यों की स्थापना के लिए ज्यादा उपयुक्त होते हैं। मार्क्स की तरह वेबर ने भी सैद्धान्तिक कालों को अर्थतन्त्र और राजतन्त्र की सीमाओं के भीतर तथा उनसे

...त करके देखा है। पर मार्क्स की तरह वेबर का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय ...ा। वे कट्टर राष्ट्रवादी थे और राष्ट्रीय इकाइयों को अन्तिम ऐतिहासिक ...ीं मानते थे। उनका कहना था कि इन इकाइयों को मिलाकर ज्यादा बड़ी ...यी बनाना असम्भव है। अपने इस दृष्टिकोण के कारण वे राष्ट्रीय हितों ...र्वोपरि मानते थे।

सामाजिक ढांचा

सामाजिक ढांचे को समझने के लिए वेबर ने भी आर्थिक राजनीतिक ...ाजिक और धार्मिक संस्थाओं के परस्पर सम्बन्धों पर विशेष जोर दिया ...र्स की तरह वे भी यह मानते थे कि राजनीतिक न्यायिक सैनिक भी ...मिक व्यवस्थाएं आर्थिक व्यवस्था से सम्बद्ध होती हैं। लेकिन वे जिन रा... ...तिक निष्कर्षों पर पहुंचे वे मार्क्स के निष्कर्षों से बिलकुल भिन्न थे। मा... ...ा कहना है कि पूंजीवाद में विरोधाभास निहित है। उन्होंने पूंजीवादी उत्पादन ...ी अराजकता की संज्ञा दी और उनकी दृष्टि में पूंजीवादी बुद्धिसंगत ...(Rational) नहीं कहा जा सकता। लेकिन वेबर आधुनिक पूंजीवाद को पूर्णत: बुद्धिसंगत मानते थे। वे वर्ग-संघर्ष के अस्तित्व को तो मानते थे और यह भी मानते थे कि यह ऐतिहासिक भूमिका अदा करता है पर वे उसे मुख्य चीज नहीं मानते थे। उनका कहना था कि केवल मजदूरों का ही एक ऐसा वर्ग नहीं है जिसका उत्पादन के साधनों पर कोई अधिकार नहीं है। उन्हीं की भांति न तो सैनिक की हथियारों पर मिल्कियत होती है और न राज्य-कर्मचारी प्रशासन के साधनों का मालिक होता है। इसी तरह वैज्ञानिक भी अन्वेषण के लिए प्रयुक्त होने वाली सामग्री का स्वयं मालिक नहीं होता।

बुद्धिसंगतता का सिद्धान्त

वेबर के इतिहास-सम्बन्धी दृष्टिकोण में बुद्धिसंगतता के सिद्धान्त को विशेष स्थान प्राप्त है। इस दृष्टिकोण के अनुसार मानव इतिहास के बुद्धिसंगत विकास में बुद्धिजीवी धार्मिक नेता और उपदेशक, संत और दार्शनिक विधि-पंडित कलाकार और वैज्ञानिक योग देते हैं। लेकिन वेबर ने यह भी स्वीकार किया है कि मानव-इतिहास का विकास सदैव बुद्धिसंगत रूप से नहीं हुआ है। उनका कहना है कि ऐसे अवसरों पर चमत्कारी (Charismatic) व्यक्तियों ने भूमिका अदा की है। जब ऐसे मौके आते हैं कि परम्परागत संस्थाएं छिन्न भिन्न होने लगती हैं और जीवन का तौर-तरीका समय की आवश्यकता के अनुकूल नहीं

रह जाता तो ये चमत्कारी व्यक्ति स्व-नियुक्त नेता के रूप में सामने आते हैं। उनकी असाधारण योग्यताओं के कारण मुसीबतवश लोग उनके पीछे हो लेते हैं। धर्मों के संस्थापक और कितने ही सैनिक व राजनीतिक नेता इसी प्रकार के व्यक्ति थे। चमत्कारिक कार्यों साहसी कारनामों और आश्चर्यजनक सफलताओं से उनकी साख बनती है, वे पूजे जाते हैं और असफलता मिलने पर नष्ट हो जाते हैं। यद्यपि वेबर इस बात से अवगत थे कि सामाजिक एकता बहुत सी सामाजिक शक्तियों का परिणाम होती है फिर भी उन्होंने इन चमत्कारिक नेताओं की भूमिका को महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि ये लोग साधारणतः परम्पराओं और परम्परागत नियमों के विरुद्ध होते हैं। उनके द्वारा चलाये गए अभियान कभी-कभी इतना उत्साह और उत्तेजना पैदा कर देते हैं कि अपने वर्तमान बन्धनों को त्यागकर विभिन्न वर्गों के लोग उसमें शामिल हो जाते हैं और सामुदायिक भावना जोर पकड़ती है। इस तरह वे मानव-इतिहास में सचमुच क्रान्तिकारी शक्ति साबित होते हैं।

विचार और समाज

समाजशास्त्रीय विश्लेषण में मैक्स वेबर ने क्रान्ति पर सबसे अधिक जोर दिया है। चूंकि समाजशास्त्र में 'राज्य' और 'संघ' से मानव-समुदायों के विशेष कार्यकलापों का बोध होता है उन्हें ठीक-ठीक तभी समझा जा सकता है जब उनमें शामिल होने वाले व्यक्तियों के कार्यकलापों का विश्लेषण किया जाए। मार्क्स और नीत्शे की भाँति वे यह नहीं मानते थे कि विचारक मनोवैज्ञानिक या सामाजिक हितों का प्रतिबिम्ब मात्र होता है। मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया कि किसी भी विचार पर राय कायम करने के लिए यह देखना चाहिए कि विचारक किस वर्ग का है। नीत्शे का विचारों के प्रति यह दृष्टिकोण रहा है कि उससे होने वाले मनोवैज्ञानिक लाभ को देखना चाहिए। इस तरह नीत्शे और मार्क्स ने विचार को मनोवैज्ञानिक और सामाजिक हितों के साथ जोड़कर देखा है। पर वेबर उनसे सहमत नहीं। उनका कहना है कि बौद्धिक मनोवैज्ञानिक राजनीतिक आर्थिक और धार्मिक क्षेत्रों में विचारों का स्वतन्त्र विकास भी होता है। वैसे तो विचारों और हितों का परस्पर सम्बन्ध भी होता है लेकिन ऐसा नहीं होता कि विचार की विषय-वस्तु और उस विचार के अनुयायियों के हितों में कोई पूर्व-निश्चित सम्बन्ध हो। विचारों और हितों में संघर्ष भी होता है लेकिन यदि कालान्तर में विचार द्वारा किसी-न-किसी हित का समर्थन या पोषण नहीं होता तो वह विचार काल-कवलित हो जाता है।

पूँजीवाद के विभेद

चूँकि मैक्स वेबर राजनीति और अर्थशास्त्र को पृथक मानते थे, इसलिए पूँजीवाद का विश्लेषण करते समय भी उन्होंने उसे दो बुनियादी किस्मों में बाँटा है। उनकी दृष्टि में एक तो है राजनीतिक पूँजीवाद, जिसके अन्तर्गत साम्राज्य वादी पूँजीवाद और वित्तीय पूँजीवाद भी आ जाता है और दूसरी ओर है आधुनिक औद्योगिक पूँजीवाद। राजनीतिक पूँजीवाद में लाभ कमाने के लिए युद्ध के साधनों को इस्तेमाल किया जाता है, दूसरों पर विजय हासिल की जाती है और राजनीतिक प्रशासन पर सर्वोच्च अधिकार स्थापित किया जाता है। राजनीतिक सत्ता हासिल करके उसके माध्यम से लाभ कमाने को राजनीतिक पूँजीवाद की संज्ञा दी गई है। साम्राज्यवादी पूँजीवाद का सीधा-सादा सम्बन्ध राजनीतिक साम्राज्यवाद से है जिसके द्वारा उपनिवेशों का शोषण किया जाता है। इस तरह के पूँजीवाद में राजनीतिक सत्ता प्राप्त वर्गों को व्यापार के एकाधिकार जहाजरानी की विशेष सुविधाएँ और दूसरी राजनीतिक सुविधाएँ प्रदान की जाती है। ऐतिहासिक पूँजीवाद राजनीतिक पूँजीवाद के अन्तर्गत ही आता है और उससे तात्पर्य है दूसरे देशों पर आक्रमण करके उनके धन व अपन को सम्पन्न करना। वित्तीय पूँजीवाद से तात्पर्य है धनोपार्जन की वे सुविधाएँ जो राजनीतिक अधिकारों द्वारा प्रदान की जाती हैं जैसे करों द्वारा वसूल की गई रकमों को व्यक्तिगत लाभ कमाने के लिए विशेष सुविधा प्राप्त लोगों को दिया जाना। यह प्रथा प्राचीन रोम और फ्रांस में रह चुकी है।

आधुनिक औद्योगिक पूँजीवाद

आधुनिक औद्योगिक पूँजीवाद से वेबर का तात्पर्य उस अवस्था से है जिसके अन्तर्गत अलग अलग चीजों के उत्पादन के लिए अलग-अलग उत्पादक इकाइयाँ स्थापित की जाती हैं और जो कि पूँजीवादी युग से पूर्व की उत्पादक इकाइयों को प्रतिद्वन्द्विता में पराजित करके उनकी कीमत पर अपना विस्तार करती हैं। यह व्यवस्था वहीं कायम हो पाती है जहाँ इसके लिए आवश्यक राजनीतिक, सैद्धान्तिक और कानूनी सुविधाएँ पैदा हो चुकी हों। पूँजीवादी इकाई के लिए किसी निश्चित स्थान में कारखानों का होना और स्वतन्त्र मजदूरों का होना आवश्यक होता है। कारखाने का मालिक अपनी जोखिम पर कारखाने को चलाता है और बाजारों में प्रतिद्वन्द्विता करके बिक्री करने हेतु चीजों का उत्पादन करता है। यह प्रक्रिया बुद्धिसंगत होती है क्योंकि उसमें लागत और आमद में निरंतर सन्तुलन कायम करना रहने की जरूरत पड़ती रहती है। मार्क्स

की भाँति वेबर ने भी व्यापार अथवा वित्त को आधार न मानकर उत्पादन की इकाइयों को ही आधुनिक औद्योगिक पूँजीवाद का आधार माना है। इन उत्पादक इकाइयों के आधार पर पूँजीवादी व्यवस्था कायम होती है और यह व्यवस्था एक स्तर से होकर दूसरे स्तर में पहुँचती है। उसका सबसे ऊँचा स्तर वह होता है जबकि उत्पादक इकाई की मिल्कियत और उसका प्रबन्ध अलग अलग लोगों के हाथों में होता है। बड़े-बड़े कारपोरेशनों की स्थापना की जाती है जिनके हिस्से जनता को बेचे जाते हैं, लेकिन प्रबन्ध दूसरे लोगों के हाथों में ही होता है। मैक्स वेबर पूँजीवादी व्यवस्था को बुद्धिसंगत मानते हैं लेकिन उन्होंने न तो इस व्यवस्था में होने वाली उत्पादन की अराजकता की ओर कोई ध्यान दिया है और न उसके लिए कोई स्पष्टीकरण ही दिया है।

वर्ग निर्धारण

जहाँ तक वर्गों (Classes) का सम्बन्ध है मैक्स वेबर ने यह भी माना है कि जो व्यक्ति जिस प्रकार धनोपार्जन करता है उसी से उसका वर्ग निर्धारित होता है, न कि उसके विचारों से। उदाहरण के लिए कारखाने का मालिक पूँजीपति वर्ग का माना जायगा और मजदूर श्रमिक वर्ग (prolitariat class) का चाहे ही उनके विचार कुछ भी क्यों न हों। वे यह भी मानते थे कि लोग मोटे-मोटे रूप में दो वर्गों में विभाजित हैं—सम्पत्तिशाली वर्ग और सम्पत्तिहीन वर्ग। मनुष्य के विचारों और उसकी इच्छाओं से उसका वर्ग नहीं बदल जाता। वर्गों के परस्पर सम्बन्ध उनके विचारों द्वारा निर्धारित न होकर आधार से निर्धारित होते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने को सर्वहारा मानने लग जाय तो वह सर्वहारा वर्ग का नहीं हो जायगा।

आधुनिक राजनीतिक बुद्धिजीवी अपने-अपने दलों की महत्त्वाकांक्षाओं को ऐतिहासिक आवश्यकताओं की संज्ञा देते हैं लेकिन मैक्स वेबर ने उदारवादी होने के कारण इस प्रकार का निश्चयात्मक दृष्टिकोण कभी नहीं अपनाया। उनकी दृष्टि में स्वतन्त्रता का अर्थ तथाकथित ऐतिहासिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना न होकर प्रस्तुत विकल्पों में से किसी एक का चुनाव करना होता है। उनकी दृष्टि में सामाजिक जीवन एवं मूल्यों का समन्वय होता है जिनमें परस्पर संघर्ष होता रहता है और केवल उन्हीं मूल्यों में से किसी एक का चुनाव करना सम्भव होता है।

अध्याय ३

राजनीतिक और अर्थशास्त्रीय विचार

राजनीतिक सत्ता

मैक्स वेबर के दृष्टिकोण की एक बुनियादी बात यह है कि वे राजनीतिक सत्ता को आर्थिक सत्ता पर आश्रित नहीं मानते। उनकी दृष्टि में राजनीतिक सत्ता हासिल करने के लिए आर्थिक सत्ता हासिल करना आवश्यक नहीं बल्कि कुछ परिस्थितियों में राजनीतिक सत्ता द्वारा आर्थिक सत्ता भी प्राप्त की जा सकती है। फिर भी उन्होंने यह स्वीकार किया है कि आर्थिक हितों का राजनीतिक सत्ता तथा राजनीतिक ढाँचे पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

मैक्स वेबर यह मानते हैं कि समस्त राजनीतिक सत्ताओं (Political powers) द्वारा शक्ति प्रयोग किया जाता है। अन्तर केवल मात्रा और स्वरूप का होता है, यानी कौनसी राजनीतिक सत्ता किस हद तक और किस रूप में दूसरे राजनीतिक संगठनों के विरुद्ध शक्ति प्रयोग करती है अथवा करने की धमकी देती है। यह बात कि कौनसी राजनीतिक सत्ता किस हद तक और किस रूप में शक्ति प्रयोग करती है राजनीतिक समुदायों के स्वरूप तथा भाग्य-निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। पर सभी राजनीतिक सत्ताएँ समान रूप से विस्तारवादी (expansionist) नहीं होतीं। वे सब-की-सब बाहरी क्षेत्रों में अपनी सत्ता को फैलाने अथवा दूसरे क्षेत्रों व समुदायों को जीतने अथवा उन्हें अपने आश्रित बनाने के लिए सेना तैयार नहीं रखतीं। फलतः सत्ता के ढाँचे और राजनीतिक संगठनों में इसी आधार पर भिन्नताएँ होती हैं।

राजनीतिक सत्ताओं का रुख दूसरे क्षेत्रों या देशों के प्रति दो प्रकार का होता है। वह या तो मुख्यतया विस्तारवादी होता है या अपने तक सीमित रहने का। ये रुख परिवर्तनशील होते हैं क्योंकि राजनीतिक ढाँचों की शक्ति गतिशील होती है। इसी शक्ति के आधार पर राजनीतिक समुदाय के लोगों में यह भावना आती है कि वे विशेष प्रतिष्ठा के हकदार हैं और इस प्रतिष्ठा के लिए उनका दिखावा राजनीतिक सत्ता के बाह्य आचरण (अर्थात् दूसरे राजनीतिक समुदायों

के प्रति उसके आचरण) को प्रभावित करता है। अनुभव ने यह दिखाया है कि प्रतिष्ठा की खातिर कितने ही युद्ध हुए हैं।

राजनीतिक समुदाय की सत्ता के विस्तार का अर्थ होता है शासकों के लिए स्वयं अपनी सत्ता की तथा उस पर आधारित मान-प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि करना। सत्ता के विस्तार से सत्तारूढ़ व्यक्तियों को ही अधिक लाभ भी पहुँचता है। उन्हें शोषण और हुकूमत के लिए नये क्षेत्र मिलते हैं। नौकरशाही के लिए सत्ता के विस्तार का अर्थ होता है, ज्यादा पद, पदोन्नति के लिए ज्यादा अवसर इत्यादि। इन प्रत्यक्ष राजनीतिक हितों के अलावा जो कि राजनीतिक सत्ता के बल पर जीवन निर्वाह करने वाले लोगों में सभी जगह स्वाभाविक रूप से मौजूद रहते हैं, प्रतिष्ठा-अभिवृद्धि की भावना भी सभी राजनीतिक समुदायों में मौजूद रहती है। पर यह भावना राष्ट्रीय गौरव की भावना जैसी नहीं होती। वह अपने राजनीतिक समुदाय के किन्हीं विशेष गुणों अथवा अपने राजतन्त्र के प्रति किसी काल्पनिक अथवा वास्तविक गौरव भावना जैसी भी नहीं होती। प्रतिष्ठा का व्यावहारिक अर्थ होता है दूसरे समुदायों पर अपनी सत्ता जमाने में शान महसूस करना। उसका अर्थ होता है सत्ता का विस्तार करना। पर यह जरूरी नहीं है कि प्रतिष्ठा-अभिवृद्धि के लिए दूसरे क्षेत्रों को हड़पा ही जाय अथवा उन पर गुलामी लादी जाय। सभी राजनीतिक सत्ताएं यही चाहती हैं कि उनके पड़ोसी ताकतवर होने की अपेक्षा कमजोर हों। बड़ी शक्तियाँ साधारणतः विस्तारवादी होती हैं। वे बल प्रयोग द्वारा अथवा बल-प्रयोग की धमकी द्वारा अथवा इन दोनों ही उपायों द्वारा अपने राजनीतिक समुदायों के क्षेत्रों को विस्तृत करने की कोशिश करती हैं। लेकिन बड़ी शक्तियों के लिए विस्तारवादी होना अथवा सदैव विस्तार के लिए प्रयत्नशील रहना अनिवार्य नहीं। उनके रुख अक्सर बदलते रहते हैं और इन रुख-परिवर्तनों में आर्थिक मुद्दे वजनदार भूमिकाएं अदा करते हैं। यही कारण है कि एक समय ऐसा भी आया जब कि ब्रिटेन ने भी राजनीतिक विस्तार की नीति का परित्याग किया और उसने यह नीति अपनायी कि उपनिवेशों पर बल प्रयोग द्वारा शासन कायम न रखा जाय। इसके पीछे आर्थिक कारण थे और ऐसे कितने ही दूसरे दृष्टान्त इतिहास में मौजूद हैं। स्पार्टन भी अपने राजनीतिक विस्तार को सीमित रखते थे और जिन राजनीतिक सत्ताओं से उन्हें खतरा होता था उनको केवल निष्प्रभ करके वे सन्तुष्ट हो जाते थे। उनको गुलाम नहीं बनाते थे। राजनीतिक विस्तार को सीमित रखने की इस नीति के पीछे यह भय भी काम करता था कि चूँकि सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के कारण साम्राज्यवादी देशों में निरन्तर युद्ध करते रहना लाजिमी हो जाता है अत

कहीं ऐसा न हो कि राजनीतिक समुदाय में असाधारण योग्यता वाला कोई ऐसा हीरो (चमत्कारी व्यक्ति) पैदा हो जाय जो कि शासक-वर्ग पर हावी हो जाय अथवा उसे राजनीतिक सत्ता से वंचित करके खुद शासक बन बैठे।

साम्राज्यवाद और अर्थतन्त्र

मैक्स वेबर राजनीतिक सत्ता के विस्तार में व्यापार को स्वयं में कोई निर्णायक चीज नहीं मानते लेकिन उनका कहना है कि सामान्यतः आर्थिक ढाँचा अन्य निर्णायक तत्वों के सहयोग से राजनीतिक विस्तार की मात्रा और उसके स्वरूप का निर्धारण करता है। वे यह नहीं मानते कि साम्राज्य-विस्तार की आवश्यकता आर्थिक कारणों से होती है। यद्यपि कुछ दृष्टान्त ऐसे मौजूद हैं जब कि व्यापार बढ़ाने की खातिर राजनीतिक एकीकरण हुआ है तथापि वे अपवाद-स्वरूप हैं। साधारणतः ऐसा नहीं हुआ है कि यदि किसी क्षेत्र में व्यापार बढ़ा-चढ़ा हुआ हो तो उस व्यापारिक आधार पर उस क्षेत्र का राजनीतिक एकीकरण हो जाय। उन्होंने जर्मनी का उदाहरण देते हुए यह बताया है कि उसका एकीकरण विशुद्धतः राजनीतिक रूप से हुआ था। यदि इस राजनीतिक एकीकरण के फलस्वरूप सीमाओं पर चुंगी की दीवारें खड़ी न की जातीं तो पूर्वी जर्मनी के लोग अपना अतिरिक्त अनाज पश्चिमी जर्मनी में न बेचकर इंग्लैंड भेजना ज्यादा पसन्द करते। इसी तरह पश्चिमी जर्मनी में उत्पादित होने वाले लोहे के सामान तथा मशीनों को पूर्वी जर्मनी में बेचकर अन्यत्र भेजा जाता। यह प्रकट करता है कि जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से एकीकृत क्षेत्र नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि ऐसा होता तो वहाँ के लोग उत्पादनों को उसी क्षेत्र में बेचने की कोशिश करते। बल्कि सच तो यह है कि जर्मनी का राजनीतिक एकीकरण आर्थिक कारणों को नजरन्दाज करके किया गया था। दूसरी ओर ऐसे दृष्टान्त भी मौजूद हैं जब कि व्यापारिक सम्बन्ध राजनीतिक एकीकरण के लिए आधार बने जैसा कि रूसी पोलैंड के मामले में हुआ।

मैक्स वेबर का कहना है कि साम्राज्य का विस्तार अथवा बड़े राज्य का निर्माण सर्वत्र निर्यात-व्यापार पर ही निर्भर नहीं करता। फिर भी कई मामलों में निर्यात-व्यापार ने समुद्र पार देशों में साम्राज्यों की स्थापना करने में निर्णायक भूमिका अदा की है। एथेन्स और रोम के साम्राज्य इसके उदाहरण स्वरूप हैं। लेकिन इन मामलों में भी व्यापारिक लाभ की अपेक्षा अन्य आर्थिक हितों ने ज्यादा बड़ी भूमिका अदा की है। उदाहरण के लिए, भूमि से प्राप्त होने वाले लगान तथा दूसरे लाभ भी साम्राज्य-विस्तार के कारण रहे हैं। साम्राज्य-

विस्तार के पीछे पूंजीवादी देशों का उद्देश्य विदेशों में सामान बेचना होता है लेकिन दूसरे क्षेत्रों पर आधिपत्य जमाने में प्राचीन राज्यों का हित उन क्षेत्रों में सामान बचना न होकर वहाँ से कच्चा माल प्राप्त करना होता था। मैदानी क्षेत्रों में जो बड़े-बड़े राज्य बने, उनके निर्माण में विस्तों के विनिमय ने कोई निर्णायक भूमिका अदा नहीं की क्योंकि मैदानी क्षेत्रों में तो विभिन्न राज्यों के बीच विनिमय हमेशा से होता रहा है। साम्राज्य के विस्तार के लिए पूंजीवादी हितों का होना भी आवश्यक नहीं। उदाहरण के लिए जब फारस ने अपने राजनीतिक भाग का विस्तार किया था तब पूंजीवादी हितों के मौजूद होने का प्रश्न ही नहीं था। चीनी साम्राज्य के पीछे भी कोई पूंजीवादी हित नहीं थे यद्यपि कुछ-न-कुछ व्यापारिक व आर्थिक हित किसी-न-किसी रूप में मौजूद थे। साम्राज्य-विस्तार के पीछे जो दूसरे आर्थिक हित होते हैं वे हैं बड़े-बड़े ओहदे और पदोन्नति प्राप्त करने के सुअवसर।

यातायात और वार्त्तावहन का विकास

यातायात (Transport) और वार्तावहन (Communication) के विकास में भी आर्थिक कारण ही सर्वत्र निर्णायक नहीं रहे हैं, बल्कि राजनीतिक कारणों ने भी निर्णायक भूमिकाएँ अदा की हैं। रूस में रेल यातायात की व्यवस्था मुख्यतया आर्थिक कारणों से न की जाकर राजनीतिक कारणों से की गई थी। आस्ट्रिया के रेल यातायात के बारे में भी यही बात लागू होती है। रोमन साम्राज्य में जो मुख्य-मुख्य सड़कें बनाई गई थीं उनके पीछे भी व्यापारिक उद्देश्य न होकर सैनिक और राजनीतिक उद्देश्य थे। फारस और रोम साम्राज्य में डाक-तार की व्यवस्था के पीछे भी मुख्यतया राजनीतिक उद्देश्य था। पर राजनीतिक एकीकरण के फलस्वरूप व्यापार का भी विकास हुआ। राजनीतिक एकीकरण ने व्यापार को सुनिश्चित और कानूनी आधार प्रदान किया। दूसरी ओर यह भी सही है कि यातायात आदि का विकास आर्थिक लाभ को भी दृष्टिगत रखकर होता है। साम्राज्यों के विस्तार में स्त्रियाँ, पशु, गुलाम और भूमि हासिल करने की महत्त्वाकांक्षाएँ भी रही हैं।

उद्योगों का वर्गीकरण

मैक्स वेबर ने उद्योगों को दो वर्गों में रखा है—युद्धकालीन उद्योग और शान्तिकालीन उद्योग। शान्तिकालीन उद्योग को साम्राज्यवादी विस्तार में केवल यह दिलचस्पी होती है कि वह अविकसित क्षेत्रों में अपना माल बेच सके और वहाँ

अपना एकाधिकार कायम कर सके। पर युद्धकालीन उद्योग ज्यादा बड़े मुनाफे के लिए अवसर प्रदान करते हैं। युद्ध की तैयारी तथा युद्ध-संचालन के लिए राज्य को कर्ज लेना पड़ता है। और इस तरह राज्य को कर्ज देने वाले लोगों को बहुत लाभ पहुँचता है। यदि बॉण्ड्स के द्वारा कर्ज आम जनता से लिये जाते हैं तो भी इन बॉण्डों को जारी करने वाले अथवा उन्हें बेचने वाले बैंकों को बहुत मुनाफ़ा होता है। इसी तरह उन लोगों को भी बहुत लाभ पहुँचता है जो युद्ध-सामग्री की सप्लाई करते हैं। आजकल पुराने जमाने की तरह सेनाओं को स्वयं अपने लिए शस्त्रों की व्यवस्था नहीं करनी पड़ती बल्कि यह व्यवस्था राजनीतिक समुदाय (समाज या सरकार) करते हैं। अतः युद्ध के लिए कर्ज देने वाले बैंकों और बड़े-बड़े उद्योगों को युद्ध में आर्थिक दिलचस्पी हो जाती है। युद्ध में चाहे हार हो और चाहे जीत उन्हें तो मुनाफ़ा होता ही है।

जिन लोगों को युद्ध-सामग्री के उत्पादन से लाभ होता है वे लोग यह चाहते हैं कि उनके राज्य में युद्ध-सामग्री उत्पादन करने के लिए बड़े-बड़े कारखाने हों। उनका औद्योगिक हित उन्हें इस बात के लिए भी विवश कर देता है कि वे ऐसे अवसरों पर अपनी युद्ध सामग्री हर किसी के हाथ बेचें और इसलिए वे अपने राजनीतिक विरोधियों को भी युद्ध-सामग्री देने से नहीं चूकते। शान्ति-कालीन उद्योगों और युद्धकालीन उद्योगों के मुनाफे में जो अन्तर होता है, वह साम्राज्यवाद के स्वरूप-निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। आमतौर से सभी कालों में साम्राज्यवादी पूँजीवाद ने बल प्रयोग द्वारा अथवा बेगार के रूप में उपनिवेशों की लूट की है। निर्यात तथा शान्तिपूर्ण व्यापार द्वारा जितना मुनाफ़ा उद्योगपतियों को साधारणतः होता है उससे कहीं उपनिवेशों में बल प्रयोग द्वारा लूट-मार करने अथवा औपनिवेशिक जनता से बेगार कराने से होता है। अतः जहाँ-कहीं भी सार्वजनिक सामूहिक अर्थतन्त्र रहा है वहाँ साम्राज्यवादी पूँजीवाद भी मौजूद रहा है। यह सामूहिक अर्थतन्त्र जितना बलशाली होता है, साम्राज्यवादी पूँजीवाद भी उतना ही बलशाली होता है।

पूँजीवादी हितों का राजनीति पर प्रभाव

लाभ कमाने की सुविधाएँ उन क्षेत्रों में भी होती हैं जहाँ सार्वजनिक और वैयक्तिक उद्योगों के आधुनिक रूप अपनाये गए हों यानी जो क्षेत्र राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से दूसरों के लिए खुले हुए हों। इन क्षेत्रों को हथियार देकर कर और वहाँ के रेल-निर्माण आदि के ठेके लेकर मुनाफ़ा कमाने की गुंजाइश रहती है। लेकिन मुनाफ़ा कमाने के अवसरों से ही पूँजीवाद को संतोष नहीं

होता और वह अपना एकाधिकार कायम करने की कोशिश करता है। मुनाफा कमाने के लिए एकाधिकार कायम करने का सबसे अच्छा तरीका यह होता है कि उस क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमा लिया जाय अथवा उसे अपना संरक्षित प्रदेश बनाकर या ऐसी ही कोई अन्य व्यवस्था करके उस पर अपनी राजनीतिक सत्ता कायम कर ली जाय। अतः साम्राज्यवादी प्रवृत्ति महज व्यापारिक स्वतन्त्रता चाहने वाली शान्तिकालीन औद्योगिक प्रवृत्ति को दबा देती है। इससे यही निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि साम्राज्यवादी पूँजीवाद के पुनर्जीवन और विस्तार के लिए किये गए राजनीतिक अभियान आकस्मिक घटनाएँ नहीं रही हैं और साधारणतः इसी रूप में पूँजीवादी हित राजनीति को प्रभावित करते रहे हैं।

समाजवाद और शोषण

मैक्स वेबर का कहना है कि समाजवाद की स्थापना से भी इस स्थिति मे कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं होता। यदि थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि वैयक्तिक उद्योग राष्ट्रीय उद्योग (समाजवादी समुदायों के उद्योग) बन जाते हैं और सामूहिक अर्थतन्त्र द्वारा समुदाय की आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति करने की कोशिश की जाती है तो उस हालत में भी वे राजनीतिक समुदाय,उन समुदायों से सस्ती-से-सस्ती क़ीमत में माल ख़रीदने की कोशिश करेंगे,जिन पर उनका एकाधिकार होगा। सम्भव है कि उन चीजों को सस्ती दरों पर हासिल करने के लिए बल-प्रयोग भी किया जाय और कमजोर समुदायों को दबाया जाय। यह कैसे माना जा सकता है कि समाजवाद की स्थापना हो जाने पर पहले की ही भाँति शक्तिशाली राजनीतिक समुदाय कमजोर समुदायों का शोषण करने की कोशिश नहीं करेंगे?

मैक्स वेबर अपने अनुभवों के आधार पर इस नतीजे पर भी पहुँचे कि अक्सर विस्तारवादी नीति के लिए मध्यम वर्ग और सर्वहारा (Prolitariat) वर्ग का समर्थन हासिल करना भी आसान होता है। इसकी वजह एक तो यह होती है कि विस्तारवादी नीति का सभी असंगठित जन-समूहों पर भावनात्मक प्रभाव पड़ता है, और दूसरी वजह यह होती है कि वे युद्ध के फलस्वरूप अप्रत्याशित अवसरों की प्राप्ति की आशा करते हैं। घनी आबादी वाले देशों में लोग यह उम्मीद भी करते हैं कि साम्राज्यवादी विस्तार के फलस्वरूप उस देश के कुछ लोगों को अधिकृत क्षेत्रों में जाकर बसने का मौका मिलेगा। इसके अलावा विस्तारवादी नीति के लिए जन-समर्थन हासिल करने में यह तथ्य भी मदद पहुँचाता है कि निहित स्वार्थ वाले लोगों की अपेक्षा साधारण लोगों को

युद्ध में कम जोखिम उठानी पड़ती है। युद्ध में पराजय हो जाने पर राजा को अपनी गद्दी से वंचित होना पड़ सकता है और शासक वर्ग के लोगों को अपने हाथों से सत्ता छिन जाने का भय रहता है तथा सम्पत्तिशाली व पूँजीपति वर्ग को यह भय रहता है कि सामान्य व्यापार में बाधाएँ उपस्थित हो जाने से उन्हें आर्थिक नुकसान उठाना पड़ेगा, पर साधारण लोगों के लिए अधिक-से अधिक यह जोखिम उठानी पड़ती है कि उन्हें अपने प्राण दने पड़ सकते हैं। लेकिन उनके दिमाग म इस भय का मूल्यांकन तथा प्रभाव सदव एक जैसा नहीं रहता यह घटता-बढ़ता रहता है। भावनात्मक प्रभाव द्वारा (यानी भावनाओं को उभारकर) इस भय को आसानी से दूर भी किया जा सकता है।

राष्ट्र और उसका आधार

आमतौर से उपर्युक्त भावनात्मक प्रभाव का कोई आर्थिक उद्गम नहीं होता। उसका आधार मद तथा प्रतिष्ठा की भावना होती है जो कि ऐतिहासिक उपलब्धियों वाले देशों के मध्यम वर्ग में बहुत गहरी होती है। कभी-कभी भावी पीढ़ियों के प्रति अपनी जिम्मेदारी-सम्बन्धी मान्यताएं भी इस भावना क साथ घुल-मिल जाती हैं। ऊपर उल्लिखित प्रत्यक्ष और भौतिक साम्राज्यवादी हितों के अलावा बुद्धिजीवियों के कुछ अप्रत्यक्ष भौतिक तथा सैद्धान्तिक हित भी होते हैं। ये बुद्धिजीवी अपने को किसी-न-किसी विशिष्ट संस्कृति का अंग मानते हैं और उनके प्रभाव स साम्राज्यवादी अभियान राष्ट्रीयता का रूप या अन्य रूप धारण कर लेता है।

राष्ट्र की परिभाषा

यदि 'राष्ट्र' सम्बन्धी धारणा की कोई स्पष्ट परिभाषा की जा सकती हो तो वह राष्ट्र क सदस्यों के बाह्य सामान्य गुणों के आधार पर नहीं की जा सकती। राष्ट्र-सम्बन्धी इस धारणा का अर्थ यह होता है कि दूसरे समुदायों के मुकाबल किसी समुदाय-विशेष के लोगों से एकता की भावना की अपेक्षा की जा सकती है। साधारणत राष्ट्र से किसी एक राज्य अथवा एक राजनीतिक समुदाय क लोगों का बोध भी नहीं होता। अक्सर एक ही राज्य में रहने वाले विभिन्न समुदाय अपने को अलग-अलग राष्ट्र मानते हैं। दूसरे, कई राज्यों में बंटे हुए लोग भी अपने को एक राष्ट्र का मान सकते हैं। राष्ट्र का आधार भाषा भी नहीं होती यानी एक ही भाषा के बोलने वाले लोगों का एक राष्ट्र होना आवश्यक नहीं। किन्तु किसी भी एक समूह राष्ट्र की एक ही भाषा हो सकती

है। दूसरी ओर, एक ही राष्ट्र में कई भाषाओं के बोलने वाले लोग हो सकते हैं। राष्ट्र-सम्बन्धी धारणा अथवा राष्ट्रीय भावना का आधार रक्त-सम्बन्ध भी नहीं होता। फिर भी 'राष्ट्र'-सम्बन्धी धारणा में समान वंशज होने की भावना निहित होती है।

विभिन्न सामाजिक वर्गों में भले ही उनकी भाषा एक ही क्यों न हो राष्ट्र सम्बन्धी धारणाएं बदलती भी रहती हैं। कुछ वर्गों में राष्ट्रीयता के प्रति उदासीनता भी दिखाई पड़ती है, जैसे कि आधुनिक सर्वहारा वर्ग राष्ट्रीयता के प्रति उदासीन ही नहीं है बल्कि वह राष्ट्रीयता की दीवारों को समाप्त कर देना चाहता है। यह एक सर्वविदित ऐतिहासिक तथ्य है कि प्रत्येक राष्ट्र में एकता की भावना की मात्रा बराबर बढ़ती रही है। यह भावना उन राष्ट्रों में भी बढ़ी है जिनमें अलग-अलग हितों को लेकर होने वाले आंतरिक संघर्ष घटने के बजाय बढ़ते रहे हैं।

मैक्स वेबर का कहना है कि यदि इस शब्द 'राष्ट्र' के पीछे कोई समान उद्देश्य है तो वह राजनीतिक है। अतः राष्ट्र-सम्बन्धी धारणा की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—राष्ट्र भावना पर आधारित एक ऐसा समुदाय होता है जो एक राज्य के रूप में अपने को भली प्रकार व्यक्त कर पाता है। यह एक ऐसा समुदाय होता है जिसमें राज्य का रूप ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है।

अध्याय ८

सामाजिक व्यवस्था और वर्ग-विभाजन

कानून और समाज

मैक्स वेबर का कहना है कि कानून का अस्तित्व केवल वहीं होता है जहाँ यह सम्भव न हो कि राज्य के कर्मचारियों द्वारा व्यवस्था कायम रखने के लिए, लोगों को शारीरिक और मनोवैज्ञानिक तौर पर मजबूर किया जा सके और कानून का उल्लंघन करने वालों को सजा दी जा सके। प्रत्येक कानूनी व्यवस्था सत्ता के विभाजन को चाहे वह आर्थिक सत्ता हो और चाहे कोई अन्य धीमे-धीमे प्रभावित करती है। यह बात सभी कानूनी व्यवस्थाओं पर लागू होती है केवल राज्य की कानूनी व्यवस्था पर नहीं। आमतौर से सत्ता का अर्थ यह होता है कि कोई एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्ति सामुदायिक कार्यकलापों को अपनी इच्छानुसार चला सकें भले ही उन सामुदायिक कार्यकलापों में शामिल होने वाले लोगों द्वारा उसका विरोध ही क्यों न किया जा रहा हो।

वेबर ने कहा है कि आर्थिक शक्ति द्वारा प्रदत्त सत्ता और सामान्य सत्ता एक ही चीज नहीं होती बल्कि इसके विपरीत आर्थिक सत्ता अन्य कारणों पर आधारित सत्ता का परिणाम हो सकती है। मनुष्य अपने को महज आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने हेतु सत्ता हासिल करने की कोशिश नहीं करता। सत्ता जिसमें आर्थिक सत्ता भी शामिल है स्वयं अपनी खातिर भी हासिल की जाती है। अक्सर सत्ता हासिल करने के पीछे सामाजिक सम्मान प्राप्त करने का उद्देश्य होता है। पर सभी सत्ताओं द्वारा सामाजिक सम्मान प्राप्त नहीं होता। विशुद्ध आर्थिक सत्ता और धन की सत्ता को सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार नहीं माना जाता। इसके अलावा केवल सत्ता ही सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार नहीं होती बल्कि सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान स्वयं भी राजनीतिक या आर्थिक सत्ता का स्रोत हो सकता है और अक्सर ऐसा हुआ भी है। सत्ता और प्रतिष्ठा को कानूनी व्यवस्था द्वारा आश्वासित किया जा सकता है लेकिन कानूनी व्यवस्था सत्ता का प्राथमिक स्रोत नहीं होती। कानूनी व्यवस्था सामाजिक सम्मान और सत्ता को कायम रखने में मदद करती है लेकिन वह उसे प्राप्त करने का माध्यम नहीं होती।

सामाजिक व्यवस्था

किसी भी समुदाय में सामाजिक प्रतिष्ठा का विभिन्न समूहों के बीच जिस रूप में विभाजन होता है, उसे सामाजिक व्यवस्था कहते हैं। सामाजिक व्यवस्था और आर्थिक व्यवस्था दोनों ही कानूनी व्यवस्था से सम्बन्धित होती हैं। पर सामाजिक व्यवस्था और आर्थिक व्यवस्था एक ही चीज नहीं होती। जिस रूप में आर्थिक सुविधाओं तथा सेवाओं का विभाजन और उपभोग होता है उसे आर्थिक व्यवस्था कहते हैं। आर्थिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्थाको एक बहुत बड़ी हद तक प्रभावित करती है और सामाजिक व्यवस्था का भी प्रभाव आर्थिक व्यवस्था पर पड़ता है। प्रत्येक समुदाय में सत्ता के विभाजन की प्रक्रिया के ही फलस्वरूप वर्गों अलग अलग सामाजिक स्तर के समूहों और वर्गों का निर्माण होता है।

वर्गों का निर्माण

मैक्स वेबर का कहना है कि वर्ग समुदाय नहीं होते यद्यपि वे सामुदायिक कार्यकलापों के लिए आधार प्रदान करते हैं। वर्ग से तात्पर्य होता है लोगों का वह समूह जिसकी आर्थिक सम्भावनाएँ और जिसके आर्थिक हित समान हों। वर्गों का निर्धारण जिन्सों द्वारा अथवा श्रम के बाजार में होता है। जो समूह जिस वर्ग की स्थिति में होता है वह उसी वर्ग का माना जाता है। अतः सम्पत्ति-हीनता के आधार पर वर्गगत स्थितियों का बुनियादी रूप से निर्धारण होता है। फिर वर्गों के विभेद इस आधार पर होते हैं कि किन समूहों के पास किस प्रकार की सम्पत्ति है अथवा सम्पत्तिहीन लोगों के किन समूहों द्वारा बाजार में किस प्रकार की सेवाएँ अर्पित की जाती हैं। अतः वास्तव में वर्गगत स्थिति अन्ततोगत्वा बाजार की स्थिति ही होती है।

वर्गगत हित

स्पष्ट है कि वर्गों का निर्माण आर्थिक हितों (Economic interests) द्वारा होता है और विशेषतः उन हितों द्वारा जिनका सम्बन्ध बाजार से हो। लेकिन वर्गीय हित की धारणा अस्पष्ट चीज होती है। वर्गीय स्थिति के फलस्वरूप किस वर्ग के क्या हित हैं, इस सम्बन्ध में एक ही वर्ग के लोगों की धारणाएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। किसी भी वर्ग के लोग उस वर्ग में रहते हुए भी अपने-अपने हितों की पूर्ति के लिए अलग अलग रास्ता अपना सकते हैं। वर्गों के सामूहिक कार्य अन्य चीजों से भी प्रभावित होते हैं और यह जरूरी नहीं कि वर्गगत कार्य वर्गगत स्थितियों के अनुरूप हों।

किसी भी वर्ग के सर्वसम्मत कार्यकलापों के असंख्य रूप हो सकते हैं लेकिन ऐसा होना अनिवार्य नहीं। वर्ग स्वयं में कोई समुदाय नहीं होता। कोई भी समुदाय केवल वर्गों में विभाजित न होकर सामाजिक स्तर के आधार पर भी विभिन्न गुटों (समूहों) में विभाजित होता है, और इन समूहों को 'स्तरीय समूह' (Status group) कह सकते हैं। वर्गों और इन स्तरीय समूहों में एक बहुत बड़ा अन्तर यह होता है कि वर्ग समुदाय नहीं होते लेकिन स्तरीय समूह आम तौर से समुदाय होते हैं। स्तरीय समूहों का निर्माण सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर होता है। सम्पत्ति को सामाजिक स्तर के निर्धारण का आधार सर्वथा नहीं माना जाता फिर भी अन्ततोगत्वा यही उसका आधार बनता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सम्पत्तिशाली और सम्पत्तिहीन लोग भी समान सामाजिक स्तर के माने जायें। आमतौर से सामाजिक स्तर की अभिव्यक्ति इस रूप में होती है कि प्रत्येक स्तर के लोगों के रहन-सहन का अपना-अपना खास तरीका होता है। इसके अलावा सामाजिक बन्धन भी हो सकते हैं जैसे कि एक स्तर के लोग अपने ही स्तर के लोगों में विवाह करते हों। इससे सामाजिक स्तर के आधार पर विभिन्न समूहों का एक-दूसरे से पूर्ण रूप से अलगाव हो जाता है।

जातियाँ

सामाजिक स्तर और प्रतिष्ठा के आधार पर समूहों के निर्माण और एक-दूसरे से उनके अलगाव के फलस्वरूप जातियाँ बन जाती हैं यानी सामाजिक स्तर पर आधारित ये समूह आगे चलकर अलग अलग जातियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस हालत में सामाजिक स्तर का आधार केवल परम्पराएँ और कानून नहीं होते बल्कि रीति-रिवाजों के कारण भी अलग-अलग समूहों के बीच भेदभाव कायम हो जाता है। यह भेदभाव इस हद तक बढ़ सकता है कि उच्च जाति के लोग यह मानने लगें कि निचली जाति के लोगों से छू जाने मात्र से उनकी पवित्रता नष्ट हो जाती है और फिर उन्हें शुद्धि के लिए धार्मिक उपाय करने पड़ते हैं। अलग अलग जातियों के अलग-अलग धार्मिक विश्वास और अलग-अलग देवी-देवता भी बन जाते हैं। ये जातियाँ रक्त-सम्बन्ध में यकीन करती हैं और दूसरी जातियों से विवाह न करने तथा उनके साथ सामाजिक सम्बन्ध न रखने का अपने ऊपर प्रतिबन्ध लगा लेती हैं। अलग-अलग जातियों का अलग-अलग परम्परागत धन्धा भी बन जाता है और इस तरह वे एक-दूसरे से बिल्कुल अलग अलग हो जाती हैं।

सामाजिक स्तर के आधार पर समूहों के निर्माण और भौतिक पदार्थों के

सुविधाओं पर एकाधिकार जमाने की प्रक्रियाएँ एक साथ चलती हैं। अतः प्रत्येक समूह की मान प्रतिष्ठा का ही कोई-न-कोई विशिष्ट स्तर नहीं होता बल्कि उनके कुछ-न-कुछ विशिष्ट भौतिक एकाधिकार भी होते हैं। इस सबके फल स्वरूप अलग-अलग जातियों या समूहों के अलग विशेषाधिकार बन जाते हैं और उन्हें अलग-अलग तरह की रियायतें-सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए, इस तरह के प्रचलन हो जाते हैं कि अमुक जाति अथवा अमुक सामाजिक स्तर के लोग ही अमुक पोशाक पहन सकते हैं अमुक तरह का खाना खा सकते हैं या अमुक तरह का हथियार लेकर चल सकते हैं। अलग-अलग जातियाँ अलग अलग कला कौशल में अथवा अलग-अलग तरह के वाद्य-यन्त्र बजाने में निपुणता हासिल कर लेती हैं और वह उनका परम्परागत (पुश्तैनी) गुण बन जाता है। जाति के भीतर ही शादी-ब्याह होने के कारण लड़कों और लड़कियों पर जाति का एकाधिकार हो जाता है, जिसे कानूनी मान्यता भी मिल जाती है। इसी तरह पदों पर भी स्तरीय समूहों का एकाधिकार हो जाता है। अलग-अलग स्तरीय समूहों द्वारा अलग-अलग व्यापार-धन्धा अपनाने के फलस्वरूप उन पर भी अलग-अलग समूहों का एकाधिकार कायम हो जाता है। फलतः अलग-अलग सामाजिक स्तर के समूहों व अलग अलग जातियों के रीति रिवाज व उनकी परम्पराएँ अलग-अलग होती हैं। आमतौर से विशेष सुविधा प्राप्त समूह या जातियाँ शारीरिक श्रम को अपने लिए अपमानजनक समझने लगती हैं और शारीरिक श्रम को अपनाने वाला व्यक्ति समूह-विशेष का सदस्य रहने का हक़दार नहीं रह जाता।

सामाजिक स्तर के आधार पर इस तरह के भेद भाव और एकाधिकार के फलस्वरूप कई तरह की बाधाएँ और रुकावटें पैदा हो जाती हैं। सबसे बड़ी बाधा यह होती है कि बाजार का स्वतन्त्र रूप से विकास नहीं हो पाता। जिन समूहों का जिन वस्तुओं पर एकाधिकार होता है वे अपनी इस विशेष स्थिति से लाभ उठाकर उन वस्तुओं को स्वतन्त्र विनिमय के लिए बाजार में नहीं लाते। दूसरे, उनकी मोल-तोल कर सकने की क्षमता भी बहुत बढ़ जाती है।

यदि सरलतम व्याख्या की जाय तो कहा जा सकता है कि उत्पादन की प्रक्रिया तथा जिन्सों को हासिल करने की प्रक्रिया के फलस्वरूप जो परस्पर सम्बन्ध कायम होता है, उसके आधार पर वर्ग बनते हैं और जिन्सों के उपयोग के आधार पर (जो कि अलग अलग तरह के रहन-सहन से प्रगट होता है) स्तरीय समूहों का निर्माण होता है। किसी भी एक तरह का पेशा करने वाले लोगों का समूह ही स्तरीय समूह होता है क्योंकि इस पेशे के कारण उनके रहन-सहन का

जो खास तरीका बनता है उसी के आधार पर तथा उसी के अनुरूप उन्हें सामाजिक सम्मान मिलता है। कभी-कभी वर्गों के बीच के अन्तर और स्तरीय समूहों के बीच के अन्तर समान होते हैं यानी एक वर्ग एक स्तरीय समूह बन जाता है। ऐसा तभी सम्भव हो पाता है जबकि उस स्तरीय समूह के लोग इस बात की परवाह किये बगैर कि उन्हें अपने जातीय पेशे से कितनी आमदनी होती है, उसी में लगे रहें और अपना पेशा न बदलें।

पार्टियाँ

जिस तरह आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत वर्ग होते हैं, उसी तरह सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत स्तरीय समूह होते हैं जिनका आधार सामाजिक मान प्रतिष्ठा होती है। ये वर्ग और स्तरीय समूह एक-दूसरे को प्रभावित करने के साथ-साथ न्याय-व्यवस्था को भी प्रभावित करते हैं और न्याय-व्यवस्था का प्रभाव उन पर पड़ता है। लेकिन पार्टियों या दलों का क्षेत्र सत्ता है। उनका उद्देश्य सामाजिक सत्ता हासिल करना यानी समुदाय के कार्य-कलापों को प्रभावित करना होता है। पार्टियाँ क्लबों में भी हो सकती हैं और राज्य में भी। वर्गों और स्तरीय समूहों की बनिस्बत दलों का कोई-न-कोई निश्चित लक्ष्य होता है और वे उसे हासिल करने के लिए योजनाबद्ध रूप से प्रयत्न करते हैं। यह लक्ष्य किसी आदर्श की प्राप्ति भी हो सकता है और किसी वैयक्तिक स्वार्थ की पूर्ति भी जैसे कि दल के नेता अथवा सदस्यों के लिए कोई खास पद हासिल करना इत्यादि। आमतौर से दलों द्वारा इन सभी चीजों को हासिल करने की कोशिश की जाती है। अतः पार्टियाँ केवल वहीं सम्भव होती हैं जहाँ कोई बुद्धिसंगत व्यवस्था हो और उस व्यवस्था को चलाने के लिए कर्मचारीगण हों। दलों द्वारा इन कर्मचारियों को प्रभावित करने की कोशिश भी की जाती है और यह कोशिश भी की जाती है कि उनकी भरती उनके सदस्यों में से हो। वर्गगत और समूहगत हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए भी पार्टियाँ बनायी जा सकती हैं और उस हालत में उसी वर्ग या समूह के लोग उनमें शामिल होते हैं। लेकिन पार्टियों के लिए विशुद्ध वर्गगत अथवा विशुद्ध समूहगत होना आवश्यक नहीं है। अधिकतर वे अंशतः वर्गगत और अंशतः समूहगत होती हैं लेकिन कभी-कभी इन दोनों में से कोई भी बात उनमें नहीं होती।

दलों का उद्देश्य जिस तरह के सामुदायिक कार्य-कलापों को प्रभावित करना होता है उसी के अनुरूप उनका सामाजिक ढाँचा होता है। अलग-अलग दलों के बीच बुनियादी अन्तर यही होता है। दलों के बीच दूसरा अन्तर इस आधार

पर होता है कि समुदाय में वर्गीकरण सामाजिक स्तरों के अनुरूप है अथवा नहीं। इन सबके अलावा उनमें इस आधार पर भी अन्तर होता है कि समुदाय के शासन का ढांचा क्या है? पार्टियों के नेताओं का उद्देश्य आमतौर से समुदाय को अपने हाथ में करना होता है। अतः पार्टियाँ सदैव ही सत्ता के लिए संघर्ष करती रहती हैं और इसलिए वे अक्सर निरंकुशता के आधार पर संगठित की जाती हैं।

अध्याय ५

नौकरशाही-सम्बन्धी धारणाएँ

१९वीं शताब्दी में कई विचारकों ने नौकरशाही (Bureaucracy) का विश्लेषण प्रस्तुत किया था क्योंकि उस समय नौकरशाही का इतना विकास हो चुका था कि उसे स्वयं में एक शक्ति माना जाने लगा था। केवल यही नहीं नौकरशाही सामाजिक ढाँचे, अर्थतन्त्र और संस्कृति को भी प्रभावित करने लगी थी। राजनीतिक सत्ता हासिल करने और उसे कायम रखने के माध्यम के रूप में उसका विशेष महत्त्व था। अतः मैक्स वेबर ने भी नौकरशाही के विभिन्न पक्षों की ओर ध्यान दिया। उन्होंने नौकरशाही की उत्पत्ति के कारणों, उसकी विशेषताओं तथा उसके स्थायी स्वरूपों की खोज की। उनकी यह खोज उनके समाजशास्त्रीय विचारों में विशेष महत्त्व रखती है।

नौकरशाही की विशेषताएँ



मैक्स वेबर की दृष्टि में आधुनिक नौकरशाही की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं —

(१) नौकरशाही का पहला सिद्धान्त यह होता है कि कर्मचारियों तथा अधिकारियों के कार्य-क्षेत्र बँटे हुए होते हैं और साधारणतः यह विभाजन नियमों और कानूनों के माध्यम से होता है।

(क) नौकरशाही द्वारा प्रशासित शासन-तन्त्र में नियमित कार्य-कलाप नियमानुसार (पारिभाषिक ड्यूटी के रूप में) बँटे हुए होते हैं।

(ख) इन ड्यूटी को पूरा करने हेतु आदेश जारी करने के अधिकार *सुनिश्चित आधार पर बँटे हुए होते हैं और वे दमन-प्रयोग-सम्बन्धी कानूनों व नियमों द्वारा परिसीमित होते हैं।*

(ग) ड्यूटी के नियमित और निरन्तर पालन के लिए समुचित व्यवस्था होती है।

शासन में 'नौकरशाही सत्ता' के ये ही तीन तत्त्व होते हैं। आर्थिक क्षेत्र में इन्हीं तत्त्वों से मिलकर 'नौकरशाही प्रबन्ध' स्थापित होता है।

इस तरह की नौकरशाही केवल आधुनिक राज्यों में पूर्णत: विकसित अवस्था में होती है। अर्थतन्त्र में भी यह केवल अत्यधिक विकसित पूँजीवादी संस्थाओं में होती है।

(२) नौकरशाही का दूसरा सिद्धान्त होता है सुनिश्चित आधार पर ओहदे के अनुसार सत्ता का विभाजन। इससे तात्पर्य है एक ऐसी सुदृढ़ और व्यवस्थित पद्धति जिसमें निम्न श्रेणी के कर्मचारियों के कार्यों की देख-रेख उच्च श्रेणी के कर्मचारियों द्वारा की जाती है और निम्न श्रेणी के कर्मचारियों के फैसलों के विरुद्ध उच्च श्रेणी के कर्मचारियों के पास अपील की जा सकती है।

(३) आधुनिक कार्यालयों का कार्य-संचालन लिखित दस्तावेजों (यानी फाइलों) के माध्यम से होता है जो कि सुरक्षित रखी जाती हैं।

(४) दफ्तर के काम-काज के लिए प्रशिक्षण आवश्यक होता है। यह बात जिस तरह सरकारी कार्यालयों पर लागू होती है उसी तरह वैयक्तिक संस्थानों पर भी।

(५) पूर्णत: विकसित कार्यालयों में काम-काज को पूरा करने के लिए अफसर को अपनी पूरी क्षमता लगानी पड़ती है भले ही उसके कार्यालय का समय निश्चित क्यों न हो।

(६) दफ्तर का प्रबन्ध सामान्य नियमों के अनुसार होता है जो कि किसी-न किसी हद तक टिकाऊ और विस्तृत होते हैं तथा जो कि सीखे जा सकते हैं। इन नियमों को सीखने के लिए विशेष टेकनिकल प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है और अधिकारीगण यह प्रशिक्षण हासिल किये हुए होते हैं।

अधिकारियों की स्थिति

उपर्युक्त बातों के फलस्वरूप अधिकारियों की स्थिति यह होती कि—

(१) दफ्तर का काम पेशा बन जाता है। इसका प्रमाण यह है कि दफ्तरों में काम करने के लिए निर्धारित प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है और नौकरी पाने के लिए निर्धारित व विशेष परीक्षाएँ पास करनी पड़ती हैं। दूसरे अधिकारियों की स्थिति उनकी ड्यूटी के अनुरूप होती है। कानूनी तौर पर और वास्तविकता में भी किसी भी पद पर काम करना आर्थिक लाभ का स्रोत नहीं माना जाता। उसे मुआवजे के साथ सेवाओं का विनिमय भी नहीं माना जाता जैसा कि मजदूर करते हैं। किसी भी

कार्यालय में नौकरी करने का अर्थ ही वह कोई वैयक्तिक कारोबार ही क्यों न हो अर्थ होता है सुरक्षित जीवन की एवज में ईमानदारी के साथ प्रबन्ध करने की विशिष्ट जिम्मेदारी को ग्रहण करना। इसके लिए किसी व्यक्ति के प्रति ईमानदार होने की जरूरत नहीं होती बल्कि काम के प्रति ईमानदार होने की जरूरत होती है। पूर्णतः विकसित आधुनिक राज्यों में राजनीतिक अधिकारी शासक के व्यक्तिगत नौकर नहीं होते।

(२) जहाँ तक अधिकारियों की वैयक्तिक स्थिति का सम्बन्ध है वह निम्न प्रकार होती है —

(क) आधुनिक अधिकारी चाहे किसी सार्वजनिक दफ्तर में काम करता हो और चाहे किसी वैयक्तिक संस्थान में उसे प्रशासितों (जन-साधारण) की अपेक्षा अधिक सामाजिक मान-सम्मान प्राप्त होता है।

(ख) नौकरशाही में निम्नश्रेणी के पदाधिकारियों की नियुक्ति उच्च श्रेणी के पदाधिकारियों द्वारा होती है। जो पदाधिकारी प्रशासितों द्वारा निर्वाचित होता है वह विशुद्ध नौकरशाही पदाधिकारी नहीं होता। निर्वाचित पदाधिकारी को उसका पद ऊपर से न मिलकर नीचे से मिलता है। उसे वह पद किसी उच्चाधिकारी द्वारा न मिलकर दलीय नेताओं के कारण मिलता है। निर्वाचित पदाधिकारी का 'कैरियर' प्रशासनिक प्रधान पर निर्भर नहीं करता। जो अधिकारी निर्वाचित न होकर किसी प्रधान द्वारा नियुक्त होता है वह टेकनिकल दृष्टिकोण से अपना काम करता है क्योंकि इस बात की ही सम्भावना ज्यादा रहती है कि उसके काम और गुणों द्वारा ही उसका कैरियर बनेगा। जहाँ तक इन पदाधिकारियों की योग्यता का सम्बन्ध है जन-साधारण को केवल उनके अनुभव के बारे में जानकारी हो सकती है। वे उसकी नियुक्ति के बाद ही उसकी योग्यता को परख सकते हैं। पर निर्वाचित पदाधिकारियों का चयन उनकी विशेष योग्यताओं के आधार पर न होकर उनकी पूर्व सेवाओं के आधार पर होता है।

(ग) साधारणतः और कम-से कम सार्वजनिक कार्यालयों में अफसरों की नियुक्तियाँ पूरे जीवन-काल के लिए होती हैं। जो नियुक्तियाँ थोड़े-थोड़े समय के लिए होती हैं और जिनमें नोटिस द्वारा अलग किए जा सकने की व्यवस्था होती है, उनमें भी यह मानकर चला जाता है कि नौकरी पूरे जीवन-काल के लिए होगी। पर इसे कोई कानूनी अधिकार नहीं माना जाता। जहाँ मनमानी बरखास्तगी या तबादले के विरुद्ध

कानूनी व्यवस्थाएँ होती हैं, वहाँ उसके द्वारा यह भी आश्वासित होता है कि जो भी कार्यवाही की जायेगी वह वस्तुगत होगी और उसके पीछे वैयक्तिक कारण नहीं होंगे।

(घ) कर्मचारियों को बँधे हुए वेतन के रूप में नियमित आर्थिक मुआवज़ा मिलता है और बुढ़ापे में पेन्शन मिलती है। यह वेतन मज़दूरी की भाँति काम की मात्रा के अनुसार न होकर स्तर या ओहदे के अनुरूप होता है यानी जिस तरह का काम करना पड़ता है या जिस ओहदे पर काम करना पड़ता है उसके अनुरूप तथा पिछली सेवाओं की अवधि को ध्यान में रखकर वेतन दिया जाता है। कर्मचारियों की आमदनी सुरक्षित होती है और उसके साथ-साथ सामाजिक मान प्रतिष्ठा भी सुरक्षित होने के फलस्वरूप लोग कार्यालयों में पद प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। उन देशों में जिनके पास उपनिवेशों द्वारा लाभ कमाने के अवसर नहीं होते कर्मचारियों के वेतन अपेक्षाकृत कम होते हैं।

(ङ) प्रत्येक कर्मचारी या अफ़सर एक ऐसी सार्वजनिक व्यवस्था का अंग होता है जो सीढ़ी की भाँति होती है। वह निचले और कम महत्त्वपूर्ण पद तथा कम वेतन से शुरुआत करके ऊँचे-से-ऊँचा पद हासिल कर सकता है। अतः कर्मचारी व अफ़सर स्वभावतः यही चाहते हैं कि तरक्कियाँ मिलने का तरीका यंत्रवत् हो, और यदि यह पद्धति पदों के बारे में न हो तो कम-से-कम वेतन-क्रम के बारे में तो हो ही। वे चाहते हैं कि वे तरक्कियाँ वरिष्ठता के आधार पर हुआ करें या वेतन-क्रम के अनुसार।

नौकरशाही के लिए पूर्व शर्तें

आधुनिक नौकरशाही के लिए निम्नलिखित सामाजिक और आर्थिक शर्तों की पहले से पूर्ति अनिवार्य होती है—

मुद्रा अर्थतन्त्र का विकास हो चुका होना चाहिए ताकि कर्मचारियों को मुद्राओं के रूप में आर्थिक मुआवज़ा दिया जा सके। आजकल इसका प्रचलन ही नहीं है बल्कि वेतन चुकाने का यही मुख्य तरीका है। नौकरशाही के अस्तित्व के लिए यह तथ्य निर्णायक तो नहीं होता लेकिन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अवश्य होता है। अब तक का अनुभव यह रहा है कि मुद्रा-अर्थतन्त्र के कायम हो जाने पर नौकरशाही ढाँचा बुनियादी आन्तरिक परिवर्तनों से नहीं बच पाता और वह एक भिन्न प्रकार का ढाँचा बन जाता है। यद्यपि मुद्रा अर्थतन्त्र का पूर्ण विकास

नौकरशाही के अस्तित्व के लिए नितान्त अनिवार्य शर्त नहीं है लेकिन नौकरशाही टिकाऊ तभी हो सकती है जब उसे कायम रखने के लिए निरन्तर आय होती रहे। जहाँ पर यह आय वैयक्तिक लाभ के रूप में हासिल नहीं की जा सकती (जैसे कि बड़े-बड़े आधुनिक कारोबार के नौकरशाही संगठन में यह सम्भव नहीं होता) अथवा जहाँ यह आय निश्चित लगान के रूप में नहीं होती वहाँ यह आवश्यक हो जाता है कि नौकरशाही प्रशासन को स्थायी रूप से कायम रखने के लिए कोई सुदृढ़ कर-व्यवस्था हो। यह कर-व्यवस्था केवल विकसित मुद्रा अर्थतन्त्र में ही सम्भव होती है।

प्रशासनिक विकास

किसी भी शासन-तन्त्र म नौकरशाही पनपने के लिए प्रशासनिक विकास आवश्यक होता है। बड़े-बड़े राज्यों का अस्तित्व और सार्वजनिक बल नौकरशाही के लिए उर्वरा भूमि प्रदान करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक बड़े राज्य के निर्माण के फलस्वरूप नौकरशाही प्रशासन का जन्म हुआ है। किसी भी बड़े राज्य के स्थायित्व अथवा उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली सांस्कृतिक एकता के कारण ही नौकरशाही की स्थापना नहीं हो जाती। फिर भी इन दोनों ही तथ्यों ने नौकरशाही की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। दूसरी ओर विकासमय नौकरशाही के बावजूद साम्राज्यों का आन्तरिक विघटन हुआ है जैसा कि रोम साम्राज्य के साथ हुआ और उसका कारण था करों का बोझ। रोम साम्राज्य के विघटन का एक कारण उसकी सेना का नौकरशाही स्वरूप भी था। पर बड़े-बड़े आधुनिक राज्य टेकनिकल दृष्टि से पूर्णतः नौकरशाही व्यवस्था पर आधारित होते हैं।

जो राज्य जितना बड़ा होता है और जितना शक्तिशाली होता है उसके लिए यह बात उतनी ही अधिक लागू होती है।

संयुक्त राज्य एक ऐसा राज्य है जिसकी प्रशासनिक व्यवस्था कम-से-कम टेकनिकल दृष्टि से पूर्णतः नौकरशाही नहीं है। पर बाह्य क्षेत्रों म उसका संघर्ष जितना अधिक बढ़ता जाता है और घरेलू मामलों म प्रशासनिक एकता की आवश्यकता जितनी अधिक बढ़ती जाती है वहाँ की व्यवस्था भी धीरे धीरे उतनी ही अधिक नौकरशाही बनती जाती है। दूसरे, संयुक्तराज्य क प्रशासनिक ढाँचे म नौकरशाही की जो कोर-कसर रह गई है उसकी पूर्ति उन राजनीतिक संगठनों के नौकरशाही ढाँच स हो जाती है जिनके हाथ में वहाँ की राजनीतिक सत्ता रहती है। इन राजनीतिक पार्टियों का नेतृत्व पेशेवर लोगों अथवा संगठन

सम्बन्धी मामलों और चुनाव की तिकड़मों के विशेषज्ञों के हाथों में होता है। सभी जन-पार्टियों का ढांचा उत्तरोत्तर नौकरशाही बनता जा रहा है। यह इस बात का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है कि जैसे-जैसे संगठन बड़े होते जाते हैं वैसे-वैसे उनका स्वरूप नौकरशाही बनता जाता है। प्रशासनिक कार्यों की मात्रा बढ़ते जाने और प्रशासन के गुणात्मक विकास के फलस्वरूप प्रशासन का ढांचा उत्तरोत्तर नौकरशाही बनता है।

आजकल की सरकारें उत्तरोत्तर समाज-कल्याण की नीति अपना रही हैं और समाज-कल्याण-कार्यों की दिनों-दिन बढ़ती हुई आवश्यकता समाज को नौकरशाही प्रशासन की ओर ले जाती है। यातायात के साधनों के विकास से भी नौकरशाही प्रशासन की स्थापना में मदद पहुँचती है।

नौकरशाही प्रशासन से टेकनिकल लाभ

नौकरशाही प्रशासन के विकास का निर्णायक कारण सदैव ही यह रहा है कि यह अन्य प्रकार के प्रशासनों की अपेक्षा विशुद्धतः टेकनिकल दृष्टि से बेहतर साबित होता है। जिस तरह बिना मशीन के उत्पादन करने के तरीके की अपेक्षा मशीन की सहायता से उत्पादन करने का तरीका बेहतर होता है, उसी तरह अन्य प्रकार के प्रशासनों की अपेक्षा विकसित नौकरशाही का तन्त्रवत् प्रशासन बेहतर होता है।

नौकरशाही प्रशासन को और विशेषतः उसके वर्तमान स्वरूप को इसलिए श्रेष्ठ माना गया है कि उसके द्वारा काम ठीक तरीके से होता है जल्दी होता है उसमें स्पष्टता होती है काम करने के लिए फाइलों के ज्ञान की आवश्यकता होती है जिससे झगड़े-टण्टों और तरह-तरह के नुकसानों में कमी होती है और इस प्रशासन में सुसबद्धता तथा एकता के गुण होते हैं।

पूंजीवाद और नौकरशाही

पूंजीवादी अर्थतन्त्र को इस बात की जरूरत होती है कि प्रशासन इस ढंग का हो कि उसमें अस्पष्टता न हो वह सुचारु रूप से हो सके उसमें निरन्तरता और सुसबद्धता हो। आमतौर से बड़े-बड़े आधुनिक पूंजीवादी कारोबार स्वयं ही नौकरशाही संगठन के बेमिसाल नमूने होते हैं। कारोबार की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें कार्य-कुशलता हो और कार्य शीघ्रता से सम्पन्न हो सके। इसके लिए वार्तावहन तथा यातायात के आधुनिक साधनों के अलावा प्रेस की न्यूज सर्विस की भी आवश्यकता पड़ती है। जिस

जनसाधारण मति व सार्वजनिक घोषणाएँ और आर्थिक व राजनीतिक समाचार एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाये जाते हैं उतनी ही शीघ्रता व विभिन्न मामलों में प्रशासनिक प्रतिक्रिया को प्रकट करने की आवश्यकता होती है। यह सब साधारणतः नौकरशाही प्रशासन में ही सम्भव होता है।

नौकरशाही प्रशासन में ही इस बात की अधिकतम सम्भावना रहती है कि कर्मचारी विभिन्न प्रशासनिक कार्यों में विशेष योग्यता हासिल कर सकें। अलग-अलग कार्य ऐसे अलग-अलग व्यक्तियों के सुपुर्द किये जाते हैं जिन्होंने उस कार्य के लिए विशेष प्रशिक्षण प्राप्त किया हो और जिन्होंने अभ्यास के कारण उस काम में ज्यादा से-ज्यादा दक्षता व अनुभव प्राप्त किया हो। नौकरशाही की एक बहुत बड़ी विशेषता यह भी होती है कि यह काम-काज का संचालन व्यक्तियों को दृष्टिगत न रखकर नियमानुसार करती है। नौकरशाही मानवीय कमजोरियों व लिहाज-मुलाहिजा से जितना अधिक मुक्त होती जाती है उसमें उतनी ही अधिक पूर्णता आती जाती है और दफ्तर के काम काज में प्रेम घृणा और वैयक्तिक भावनाओं का लोप होता जाता है। नौकरशाही के ये विशेष गुण होते हैं। आधुनिक संस्कृति जितनी अधिक जटिल बनती जाती है उसके लिए ऐसी प्रशासनिक पद्धति की आवश्यकता उतनी ही बढ़ती जाती है जिसमें वैयक्तिक सहानुभूति और कृपा आदि की भावनाओं से कार्य करने वाले पुराने तरह के शासकों के स्थान पर केवल वस्तुगत दृष्टिकोण से और निर्लिप्त भाव से काम करने वाले विशेषज्ञ हों। आधुनिक संस्कृति की इस आवश्यकता की पूर्ति नौकरशाही बड़ी खूबी के साथ करती है।

प्रशासनिक साधनों का केन्द्रीकरण

प्रशासन के भौतिक साधनों के केन्द्रीकरण और नौकरशाही पद्धति का चोली-दामन का साथ होता है। उदाहरण के लिए बड़े-बड़े पूँजीवादी कारोबारों का विकास एक खास प्रक्रिया द्वारा होता है और यह प्रक्रिया केन्द्रीकरण की विशेषताओं को प्रकट करती है। सार्वजनिक संगठनों में भी इसी तरह की प्रक्रिया होती है। आधुनिक सेनायुक्त राज्य में जिनकी सेना का नेतृत्व नौकरशाही के तरीके से होता है युद्ध-सामग्री सैनिकों को शासकों द्वारा प्रदान की जाती है। पुराने जमाने में और सामन्तवादी युग में सेनाएँ अपने लिए अस्त्र-शस्त्र की व्यवस्था स्वयं ही करती थीं। पर आज के जमाने में युद्ध मशीनों द्वारा होते हैं। जिस तरह उद्योगों में मशीनों के आविष्कार ने उत्पादन के साधनों तथा प्रबन्ध के केन्द्रीकरण को अनिवार्य बना दिया है उसी तरह आज के जमाने में अस्त्रागार

(साधनों का केन्द्रीकरण) टेकनिकल दृष्टि से आवश्यक है। इसका अर्थ यह हुआ कि युद्ध-सामग्री का केन्द्रीकरण हो जाता है। सेना के नौकरशाही ढांचे के कारण ही पेशेवर स्थायी सेनाएं बनाना सम्भव हुआ है, जिनकी बड़े-बड़े राज्यों में शान्ति कायम रखने के लिए तथा शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए, आम आवश्यकता होती है। नौकरशाही ढंग की सेना से ही आजकल-जैसा उच्चस्तरीय सैन्य अनुशासन और टेकनिकल प्रशिक्षण सम्भव है। इतिहास से यह विदित होता है कि सैन्य सेवाओं को सम्पत्तिशाली लोगों की जगह सम्पत्तिहीन लोगों के सुपुर्द करने से ही सेना को नौकरशाही स्वरूप दिया जा सका है। इसके पूर्व सैनिक सेवा केवल सम्पत्तिशाली व्यक्तियों का गौरवपूर्ण विशेषाधिकार था। सेना को नौकरशाही स्वरूप देने में कई अन्य बातों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिकाएं अदा की हैं, जैसे कि भौतिक और बौद्धिक संस्कृति की आम अभिवृद्धि जनसंख्या की वृद्धि और आर्थिक कार्य-कलापों की वृद्धि इत्यादि।

सेना की ही भांति दूसरे क्षत्रों में भी संगठन के साधनों का केन्द्रीकरण और प्रशासनिक नौकरशाही का विकास साथ-साथ हुआ है। पुरानी शासन पद्धतियों द्वारा प्रशासन के भौतिक साधनों का विकेन्द्रीकरण किया जाता था। स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने और सेना का खर्च निकालने के बाद जो रकम बाकी बचती थी केवल वही केन्द्रीय खजाने में भेजी जाती थी। पर नौकरशाही प्रशासन में सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यय पहले से बजट बनाकर किया जाता है और उस पर राज्य का नियन्त्रण होता है। प्रशासनिक क्षेत्र में इसका आर्थिक परिणाम वही होता है जो कि बड़े-बड़े पूंजीवादी कारोबारों में होता है। अपनी इन टेकनिकल श्रेष्ठताओं के बावजूद नौकरशाही का विकास सभी जगह देर से हुआ है। इसका कारण थे अनेकानेक बाधाएं जो कि विशेष सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों में ही कम अथवा दूर की जा सकती थीं।

प्रजातन्त्र और नौकरशाही

मैक्स वेबर का कहना है कि शासन के प्रजातन्त्रीकरण के फलस्वरूप नौकरशाही का विकास हुआ है और इस तरह प्रजातन्त्र व नौकरशाही का गहरा सम्बन्ध रहा है। प्रजातन्त्र में सभी लोग कानून की दृष्टि में समान होते हैं और कोई भी व्यक्ति ऊँचे-से-ऊँचा पद हासिल कर सकता है। ये परिस्थितियां नौकरशाही की उत्पत्ति और विकास के लिए आवश्यक थीं। राजनीतिक दलों का भी स्वरूप जैसे जैसे प्रजातन्त्रीय बना है, वैसे उनका भी ढांचा नौकरशाही बना है। चूँकि इन्हीं राजनीतिक दलों का शासन तंत्र पर अधिकार होता है,

अतः उनके नौकरशाही ढांचे के कारण शासन में भी नौकरशाही की स्थिति बराबर सुदृढ़ होती है। यद्यपि नौकरशाही अन्य प्रशासनों की अपेक्षा कम खर्चीली होती है, फिर भी सार्वजनिक (सरकारी) खजाने का अधिक व्यय हो जाता है क्योंकि कर्मचारियों के वेतन मुद्राओं में चुकाने पड़ते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अधिकारीगण अपने अधिकारों का दुरुपयोग तथा जनता का शोषण नहीं कर पाते जिस तरह कि सामन्त किया करते थे। नौकरशाही सामन्त-वादी हितों को खत्म करने में मदद पहुंचाती है क्योंकि इन हितों को समाप्त किये बगैर उसका अस्तित्व सम्भव नहीं है। उससे पूंजीवादी हितों का पोषण होता है। यही कारण है कि उसकी स्थापना में तथा उसे शक्तिशाली बनाने में पूंजीवादी शक्तियों ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिकाएं अदा की हैं।

नौकरशाही का स्थायित्व

नौकरशाही उन सामाजिक ढांचों में से है जिसे एक बार पूर्णतः स्थापित हो जाने पर, बहुत ही मुश्किल से खत्म किया जा सकता है। नौकरशाही सामुदायिक कार्य-कलापों का माध्यम होता है। अतः नौकरशाही उसके लिए सत्ता का माध्यम बन जाती है जिसका नौकरशाही पर नियंत्रण हो।

अध्याय ६

धर्म-सम्बन्धी समाजशास्त्रीय विचार

मैक्स वेबर के धर्म-सम्बन्धी समाजशास्त्रीय विचारों को विशेष महत्त्व प्राप्त है क्योंकि धर्म का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से जितना गहन अध्ययन और सूक्ष्म विश्लेषण उन्होंने किया है, उतना किसी और ने नहीं। उन्होंने धर्म और अर्थ तन्त्र के पारस्परिक सम्बन्धों के विश्लेषण की ओर विशेष ध्यान दिया है और अपने निष्कर्षों को प्रमाणित करने के लिए बहुत से तथ्य प्रस्तुत किये हैं।

धर्म और अर्थतन्त्र

उनके समक्ष प्रमुख प्रश्न यह था कि (१) आर्थिक परिस्थितियों द्वारा धर्म-सम्बन्धी धारणाएं बनती हैं या (२) धार्मिक धारणाएं आर्थिक परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी होती हैं, या (३) धार्मिक विचार और आर्थिक गतिविधियां एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं? और यदि वे एक-दूसरी को प्रभावित करती हैं तो यह कैसे पता लगाया जा सकता है कि धर्म आर्थिक गतिविधियों को किस हद तक प्रभावित करता है और फिर उसका समाज के सम्पूर्ण सांस्कृतिक जीवन तथा सामाजिक संगठन पर क्या असर पड़ता है?

मैक्स वेबर इस नतीजे पर पहुंचे कि धर्म और आर्थिक गतिविधियां एक-दूसरे पर निर्भर होती हैं तथा एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। उनका कहना है कि यह सिद्धान्त गलत है कि आर्थिक परिस्थितियों द्वारा धार्मिक धारणाओं का निर्माण होता है। उनका कहना यह भी है कि धर्म को आर्थिक परिस्थितियों का निर्णायक तत्त्व मानना भी उतना ही गलत है। पर वेबर ने यह खोज करने की अपेक्षा कि धर्म और आर्थिक गतिविधियां एक-दूसरे को किस हद तक और भिन्न-भिन्न रूपों में प्रभावित करते हैं अपनी खोज इस बात तक सीमित रखी कि धर्म आर्थिक सिद्धान्तों तथा गतिविधियों को किस हद तक और भिन्न-भिन्न रूप में प्रभावित करता है।

प्रमुख धर्मों का विश्लेषण

वेबर ने उपर्युक्त उद्देश्य से विश्व के जिन छः धर्मों का विश्लेषण किया है वे हैं—कनफ्यूशियस धर्म हिन्दू धर्म बौद्ध धर्म ईसाई धर्म इस्लाम धर्म और यहूदी धर्म। इन धर्मों की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण करके उन्होंने यह पता लगाने की कोशिश की है कि उनका धर्म मानने वाले लोगों के जीवन तथा आर्थिक संगठन पर क्या असर पड़ा है। इस तरह उन्होंने धर्म और अर्थतन्त्र के बीच सह सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

प्रोटेस्टेण्ट धर्म और पूँजीवाद

मैक्स वेबर की सबसे महत्त्वपूर्ण खोज यह है कि प्रोटेस्टेण्ट (Protestant) धर्म और आधुनिक पूँजीवाद का गहरा सम्बन्ध रहा है। उनका कहना है कि यद्यपि पूँजीवादी अर्थतन्त्र के अनेकानेक तत्त्व पूर्वकालीन समाज में विद्यमान थे तथापि आधुनिक पश्चिमी पूँजीवाद एक नयी चीज है। इस आधुनिक पूँजीवाद के प्रमुख तत्त्व हैं—(१) वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित सुसंगठित और सुव्यवस्थित कारोबार (२) वैयक्तिक सम्पत्ति (३) बाजार के लिए उत्पादन (४) बड़ी मात्रा में उत्पादन (५) धन कमाने के लिए उत्पादन और (६) धनोपार्जन के लिए पूरी लगन और निष्ठा से काम करना। यह लगन तभी मनुष्य में आ पाती है जब वह धनोपार्जन को अपना मुख्य धन्धा और अपने जीवन का प्रमुख उद्देश्य बनाता है। पूँजीवादी अर्थतन्त्र में चूँकि मनुष्य का काम ही मुख्य चीज होती है, अतः प्रत्येक व्यक्ति को एक मजदूर माना जाता है और उसे उसकी कार्यकुशलता के अनुसार वेतन दिया जाता है।

आधुनिक पूँजीवाद के लिए जिन परिस्थितियों का होना अनिवार्य है वे हैं—(१) पूँजी लगाने और कारोबार का प्रबन्ध करने का बुद्धिसंगत तरीका (२) उत्पादन के समस्त साधनों पर वैयक्तिक अधिकार (३) उत्पादन की बढ़िया व बुद्धिसंगत टेक्नीक (४) बुद्धिसंगत कानून (५) स्वतन्त्र श्रमिक और (६) श्रम के उत्पादनों की व्यापारिक आधार पर बिक्री। लेकिन इसके साथ-साथ पूँजीवादी अर्थतन्त्र के लिए एक विशेष प्रकार की मनोवैज्ञानिक स्थिति तथा खास तरह के व्यावहारिक सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है। अतः प्रश्न यह है कि मनुष्य के स्वभाव में परिवर्तन होकर उसकी इस तरह की मनोवैज्ञानिक स्थिति कैसे बनती है और वह इस तरह का तौर-तरीका कैसे अपनाता है? वह इन सिद्धान्तों को कैसे मानने लगता है कि—"समय ही धन है" "साख ही धन है" "पैसा पैसे को खींचता है" "ईमानदारी सर्वोत्तम नीति होती है" इत्यादि?

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर-स्वरूप मैक्स वेबर का कहना है कि आधुनिक पश्चिमी पूँजीवाद की मूल भावना वही है जो कि प्रोटेस्टेण्ट धर्म की। दोनों ही के व्यावहारिक आचरण-सम्बन्धी सिद्धान्त और नियम समान हैं। आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति से पूर्व प्रोटेस्टेण्ट धर्म की छत्रछाया में उसकी (पूँजीवाद की) आत्मा प्रकट हुई। यह एक ऐसा उदाहरण है जो प्रमाणित करता है कि किस तरह धार्मिक विचारधारा अथवा धारणा की उत्पत्ति पहले होती है और अर्थ तन्त्र की उत्पत्ति उसके बाद।

प्रोटेस्टेण्ट धर्म आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति जिन कारणों से कर सका वे ये हैं—(१) उसने बड़े पैमाने पर मानव जीवन को बुद्धिसंगत बनाने का काम किया (२) उसने सांसारिक काम काज व धन्धे को धार्मिक दृष्टि से मूल्यवान् ठहराया (३) उसने श्रम की प्रतिष्ठा स्थापित की और (४) उसने व्यवस्थित ढंग से उत्साहपूर्वक तथा ईमानदारी के साथ अपना धन्धा करना मनुष्य का सबसे पुनीत कर्तव्य माना। उसने यह सीख दी कि व्यवस्थित और बुद्धिसंगत जीवन द्वारा ही नजात सम्भव है। इस तरह उसने मनुष्य को संन्यास की ओर ले जाने वाली आदर्शवादिता से विमुख करके ऐसे कर्तव्यों के पालन में लगाया जो सांसारिक होते हुए भी धार्मिक माने गए। उसने ईमानदारी के साथ किये गए धनोपार्जन को पाप से मुक्त माना। यही कारण है कि प्रमुख पूँजीवादी देश वही हैं जिनके लोग प्रोटेस्टेण्ट धर्म को मानते हैं। रोमन कैथोलिक धर्म को मानने वाले देश आर्थिक प्रगति में उनसे बहुत पीछे रहे। प्रोटेस्टेण्ट धर्म ने अपने अनुयायियों को ऐसी धार्मिक आचार-संहिता प्रदान की जिससे वे पूँजीवादी अर्थतन्त्र के लिए प्रशिक्षित हो सके। उसने उनके तौर-तरीके आचार विचार और आदर्श आदि ऐसे बनायीं जो कि आधुनिक पूँजीवादी कारोबार खड़ा करने तथा उसका प्रबन्ध करने के लिए आवश्यक थीं।

धर्म और आर्थिक संगठन

मैक्स वेबर ने जिस तरह प्रोटेस्टेण्ट धर्म का विश्लेषण करके यह बताया है कि इस धर्मों के कारण ही आधुनिक पूँजीवाद का उदय हो सका, उसी तरह उन्होंने कन्फ्यूशियस धर्म ताओ धर्म हिन्दू धर्म बौद्ध धर्म और यहूदी धर्म का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि जिस तरह के ये धर्म थे उसी तरह का आर्थिक और सामाजिक ढाँचा उन लोगों का बना जो लोग इन धर्मों को मानते थे। इन धर्मों में परम्परावाद और उनकी मूल भावना आधुनिक पूँजीवाद की मूल भावना से बिलकुल भिन्न थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इन धर्मों के

मानने वाले देशों में पूंजीवाद का विकास नहीं हो सका। इस विश्लेषण द्वारा मैक्स वेबर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जिस तरह का धर्म होता है उसी तरह का आर्थिक और सामाजिक संगठन बनता है।

आधुनिक पूंजीवाद के लिए पूर्व शर्तें

मैक्स वेबर का कहना है कि कुछ शर्तों के पूरे हो जाने पर ही आधुनिक पूंजीवाद की उत्पत्ति सम्भव थी। ये शर्तें हैं—एक लम्बे अर्से से बुद्धिसंगत कारोबार का अस्तित्व हिसाब-किताब रखने का बुद्धिसंगत तरीका बुद्धिसंगत टेक्निक बुद्धिसंगत कानून बुद्धिसंगत मानसिक स्थिति रहन-सहन का बुद्धिसंगत तौर तरीका और आर्थिक कार्य-कलापों के लिए बुद्धिसंगत उत्साह। ये पूर्व शर्तें तभी पूरी हो सकती हैं जब परम्पराओं का परित्याग किया जाय। सभी जगहों पर धार्मिक विचारों के अनुरूप आर्थिक सम्बन्ध बने हैं और फिर उन्होंने परम्पराओं का रूप ग्रहण किया। सभी जगहों के लोग अपनी इन परम्पराओं को एक पवित्र चीज मानते हैं और उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। परम्परावाद के कारण ही वे उन आर्थिक काम धन्धों और उन तरीकों को भी छोड़ना नहीं चाहते जो कि उनके बाप-दादों के जमाने से चले आ रहे हैं। यह परम्परावाद आज भी काफी बड़ी मात्रा में मौजूद है। उसकी जड़ें प्रारम्भिक धर्मों या आचार-विचार-सम्बन्धी धारणाओं और आर्थिक कार्य-कलापों के तरीकों में रही हैं। दो विशेष परिस्थितियों में इन परम्पराओं को बल मिलता है—प्रथमतः जब उन परम्पराओं में किन्हीं सामाजिक समूहों का स्वार्थ निहित हो और, द्वितीय जब भाग्य के कारण लोग लकीर के फकीर बन चुके हों।

चीन के धर्म

मैक्स वेबर का कहना है कि लाभ कमाने की इच्छा मात्र से इन परम्पराओं को तोड़ पाना सम्भव नहीं होता। यह सोचना गलत है कि हमारे इस बुद्धि-संगत और पूंजीवादी युग में दूसरे युगों की अपेक्षा धन कमाने की प्रवृत्ति अधिक है। आधुनिक पूंजीपति में धन कमाने की इच्छा पूर्वी देशों के व्यापारियों से अधिक नहीं है। इसी प्रकार जनसंख्या बढ़ जाने से ही परम्पराएं टूटने नहीं सकतीं। चीन इस बात का सबसे अच्छा उदाहरण है। ये परम्पराएं तो तभी टूटती हैं जब कोई महापुरुष अवतरित हों। ये महापुरुष अपने चमत्कारों द्वारा परम्पराओं रूपी जंजीरों को काटने में सफल हो जाते हैं, और इन परम्पराओं के खत्म होने पर ही आधुनिक आर्थिक संगठन और पूंजीवाद की नींव पड़ती

है। चीन में इस तरह के महापुरुष अवतरित नहीं हुए। लाग्रोत्से-जैसे जिन महापुरुषों ने चीन को नये धर्म प्रदान किये वे सब बाहरी लोग थे। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन परम्परावाद में जकड़ा रहा और वहाँ आधुनिक पूँजीवाद का उदय नहीं हो सका।

भारतीय धर्म

भारतीय धर्म और परम्पराओं का जिक्र करते हुए मैक्स वेबर का कहना है कि भारत की स्थिति चीन की स्थिति से इस अर्थ में भिन्न रही है कि इस देश में ऐसे महापुरुष अवतरित हुए, जिन्होंने परम्परावाद की बेड़ियों से मुक्ति पाने के लिए मार्ग प्रशस्त किया। पर दुर्भाग्यवश ये सभी महापुरुष अथवा अवतार हिन्दू ढंग के थे। इससे उनका तात्पर्य यह है कि इन सभी महापुरुषों ने जिन धर्मों का प्रतिपादन किया उनमें हिन्दू धर्म की मूल भावना निहित रही है। मैक्स वेबर ने गौतम बुद्ध का उदाहरण देते हुए कहा कि यद्यपि उन्होंने परम्पराओं से मुक्ति के लिए आह्वान किया था तथापि वे यह मुक्ति केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में चाहते थे। उन्होंने निर्वाण का रास्ता बताया और दैनिक जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्णतः उपेक्षा की। नतीजा यह हुआ कि बुद्ध-दर्शन और उनके उपदेश केवल थोड़े से विचारकों को प्रभावित कर सके। जहाँ तक जनसाधारण का सम्बन्ध है वे न तो उनके दर्शन की बारीकियों को समझ पाये और न उसको ग्रहण कर सके। फलतः बौद्ध धर्म भारतीय जनता को प्रेरणा प्रदान न कर सका और उसका धार्मिक कार्य-कलाप परम्पराओं में जकड़ा ही रहा।

यहूदी और ईसाई धर्म

चीन और भारत के धर्मों की अपेक्षा यहूदी धर्म और ईसाई धर्म ने जन साधारण पर और उसके कार्य-कलापों पर गहरा असर डाला। ये धर्म जन साधारण के धर्म थे। नतीजा यह हुआ कि एक ओर तो थोड़े-से सम्भ्रान्त बुद्धिवादी थे जो धर्म को एक दार्शनिक व्यवस्था का रूप देने की कोशिश कर रहे थे। इन लोगों ने मठों की शरण ली और ईश्वर के ध्यान में अपना जीवन लगाया। दूसरी ओर साधारण जनता थी जिस पर इन लोगों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने यहूदी धर्म और ईसाई धर्म को अपनाया क्योंकि उनके उपदेश सरल और उसके लिए ग्राह्य थे। नतीजा यह हुआ कि इन धर्मों ने जनसाधारण के कार्य-कलापों और समाज के आर्थिक संगठन को भी प्रभावित किया और, तभी प्रोटेस्टेन्ट धर्म की उत्पत्ति हुई जिसने जनसाधारण पर गहरा असर डाला

कर तथा उनके जीवन को स्वारा बुद्धिसंगत बनाकर आधुनिक पूँजीवाद की नींव डाली। केवल इस प्रोटेस्टेण्ट धर्म के कारण ही आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति हुई तथा उसका विकास हुआ।

वेबर की भविष्यवाणी

मैक्स वेबर का कहना है कि आधुनिक पूँजीवाद की वे धार्मिक जड़ें मर चुकी हैं। प्रोटेस्टेण्ट धर्म को मानने वालों में जो धार्मिक उत्साह शुरू-शुरू में था वह अब नहीं रह गया है। संसार-सम्बन्धी उनकी धार्मिक धारणाएँ अब पहले-जैसी नहीं रह गयी हैं। इसका अर्थ यह है कि आधुनिक पूँजीवाद के विकास की एक अवस्था पूरी हो चुकी है। उसकी धार्मिक जड़ों के मर जाने के कारण अब उसका रूप बदलना अनिवार्य है। इस प्रकार मैक्स वेबर ने एक नये समाज के उदय की भविष्यवाणी की।

विलफेरडो परेटो
(VILFREDO PARETO)

दृष्टिकोण उदारवादी नहीं था लेकिन आर्थिक मामलों में वे अपने पिता की उदारवादी नीति का समर्थन करते थे। उस समय इटली में उदारवादियों द्वारा व्यापारिक प्रतिबन्धों को हटाने के लिए जो आन्दोलन चल रहा था, परेटो ने उसका समर्थन किया। नतीजा यह हुआ कि सरकार ने उन पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया कि वे कोई सार्वजनिक भाषण या वक्तव्य न दे सकेंगे। फलतः परेटो ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। इसी काल में उन्होंने अनेक राजनीतिक और आर्थिक भविष्यवाणियाँ कीं लेकिन वे सबकी-सब गलत साबित हुई। इससे परेटो को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा और उन्होंने सक्रिय राजनीति में भाग लेना छोड़ दिया। इसके बाद से परेटो ने अपना शेष जीवन पठन-पाठन में लगाया। वे वालरेस के आर्थिक सिद्धान्तों से प्रभावित होकर उनको विकसित करने के कार्य में जुट गए। वालरेस का यह सिद्धान्त आर्थिक संतुलन-सम्बन्धी था। बाद में वालरेस की ही सहायता से उन्हें स्विट्जरलैण्ड के लासेन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर का पद मिल गया। वहीं रहकर उन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। सन् १९२३ में उनका देहावसान हो गया।

परेटो की कृतियाँ

परेटो विशुद्ध अर्थशास्त्री थे लेकिन बाद में उनकी दिलचस्पी समाजशास्त्र में हो गयी। उन्होंने ट्राटो (Trattato) नामक एक वृहद् समाजशास्त्रीय ग्रन्थ लिखा जो १९१५-१६ में इटालियन भाषा में प्रकाशित हुआ। उनकी यह पुस्तक दो भागों में है। सन् १९१७-१९ में इस पुस्तक का फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद हुआ। बाद में 'मस्तिष्क और समाज' के नाम से अंग्रेजी भाषा में उसका अनुवाद प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक पाठ्य-पुस्तक-जैसी नहीं है। इसमें समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों और समाजशास्त्र के मौलिक तत्त्वों आदि का विवरण तथा विवेचन नहीं है। इस पुस्तक में मौलिकता है तथा यह एक प्रतिभावान वैज्ञानिक के मस्तिष्क की उत्पत्ति है। पर इस पुस्तक में सामग्री सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत नहीं की गयी है और लिखते समय परेटो ने क्रमबद्धता तथा विचारों की सुस्पष्टता का ध्यान नहीं रखा है।

परेटो पर दूसरों का प्रभाव

जहाँ तक परेटो के आर्थिक विचारों का सम्बन्ध है उन पर लियोन वालरेस (Walras) का गहरा प्रभाव रहा है। परेटो ने उन्हीं के सामाजिक संतुलन के सिद्धान्त को विकसित किया है। लेकिन जहाँ तक पद्धति का सम्बन्ध है उन्होंने

जे० एस० मिल की पद्धति को अपनाया। परेटो की उपर्युक्त कृति स्पष्टतया प्रगट करती है कि उसने समस्त समाजशास्त्रीय विचारों का गहरा अध्ययन किया था लेकिन वह किसी भी समाजशास्त्री के विचारों से प्रभावित नहीं हुआ। इस कारण भी परेटो के विचारों में मौलिकता है और उसके विचारों की किसी भी अन्य समाजशास्त्री के विचारों के साथ समरूपता स्थापित नहीं की जा सकती।

परेटो और फासिस्टवाद

जहाँ तक परेटो के विचारों के प्रभाव का सम्बन्ध है उसकी व्यापकता से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। उसके विचारों ने इटली और फ्रांस के आर्थिक तथा समाजशास्त्रीय विचारों पर गहरा असर डाला था। इटली के राजनीतिक विचारों पर भी उसका गहरा असर रहा है। यह कहना अति श्योक्ति न होगी कि इटली के फासिस्टवाद का दर्शन एक बहुत बड़ी हद तक परेटो के सिद्धान्तों पर आधारित है। यही कारण है कि उन्हें पूँजीपतियों का कार्ल मार्क्स कहा गया है। चूँकि परेटो ने प्रजातंत्रवाद और मानवतावाद का खंडन किया है और वे यह मानकर चले हैं कि समाज में असमानता तथा वर्गों का अस्तित्व सदैव रहा है और रहेगा अतः उनकी विचारधारा ने फासिस्टवाद को बल पहुँचाया है। उनकी इस विचारधारा से भी फासिस्टवाद को समर्थन प्राप्त हुआ कि कोई भी शासन केवल निरंकुश होने के कारण बुरा नहीं होता। उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि जो उच्च वर्ग अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए जितना अधिक जुल्म ढाता है उस वर्ग का अस्तित्व उतने ही ज्यादा समय तक कायम रहता है। इन सिद्धान्तों से पूँजीपतियों को समर्थन मिला और उन्हें अपने जुल्मों के लिए सैद्धान्तिक औचित्य प्राप्त हुआ। चूंकि फासिस्टवाद पूँजीवाद की सर्वोच्च अवस्था होती है अतः परेटो के सिद्धान्तों ने इटली के पूँजीवाद को फ़ासिस्टवाद की ओर जाने के लिए प्रेरित किया। जब इटली में फासिस्ट शासन यानी तानाशाही शासन की स्थापना हो गयी तो इस शासन ने अपने अस्तित्व तथा अपनी नीतियों का औचित्य सिद्ध करने के लिए परेटो के सिद्धान्तों से मदद ली।

अध्याय २

आधारभूत समाजशास्त्रीय मान्यताएँ

परेटो 'यंत्रीयतावादी स्कूल विचारधारा' के समाजशास्त्री थे। इस विचार धारा की भी कई शाखाएँ हैं और पेरटो सामाजिक यंत्रीयता को मानने वाली शाखा का प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होंने 'विशुद्ध अर्थशास्त्र' और 'विशुद्ध सामाजिक ज्ञान' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ये सिद्धान्त 'बुद्धिसंगत यंत्रीयता सम्बन्धी सिद्धान्तों' के समरूप हैं।

प्रक्रियाओं व घटनाओं के अध्ययन की विधि

'बुद्धिसंगत यंत्रीयतावादी' विज्ञानों (Rational Mechanists) ने दो प्रकार की गतिशीलताओं का अध्ययन किया है—वास्तविक (Real) और अनुवर्तीय (Virtual)। पहली प्रकार की गतिशीलता वह है जो वास्तव में उत्पन्न होती है और दूसरी प्रकार की गतिशीलता वह है जो किन्हीं परिस्थितियों में बाद में उत्पन्न होती है। यह दूसरी प्रकार की गतिशीलता वास्तविक गतिशीलता के अध्ययन में सहायता पहुँचाती है। वास्तविक गतिशीलताओं का अध्ययन केवल वर्णनात्मक होता है, लेकिन अनुवर्तीय गतिशीलता का अध्ययन मुख्यतया सैद्धान्तिक होता है। अतः पहले प्रकार का अध्ययन समन्वयात्मक होता है और दूसरे प्रकार का अध्ययन विश्लेषणात्मक। चूँकि मानव-मस्तिष्क विभिन्न प्रक्रियाओं का अध्ययन एक साथ नहीं कर सकता और ऐसा करने का प्रयास लाभकारी सिद्ध नहीं होता अतः यह आवश्यक हो जाता है कि हम उनका अध्ययन बारी बारी से करें। ऐसा करने के लिए यह सिद्धान्त आवश्यक है कि प्रक्रिया अथवा घटना के विभिन्न अंगों को एक-दूसरे से अलग-अलग किया जाय और फिर उनका अलग-अलग अध्ययन किया जाय। फिर उन सब अध्ययनों को मिलाकर उस प्रक्रिया अथवा घटना के सम्बन्ध में समन्वित धारणा कायम की जा सकती है।

समाजशास्त्र : एक समन्वित विज्ञान

विशुद्ध राजनीतिक अर्थशास्त्र (Pure political economics) 'बुद्धिसंगत यंत्रीयतावादी समाजशास्त्र' (Rational Mechanistic Sociology)

। सम्बन्ध है। इस समाजशास्त्र की भाँति 'विशुद्ध राजनीतिक अर्थशास्त्र' में ी जटिल तथ्यों या वास्तविकताओं का साधारणीकरण (Simplification) करना पड़ता है और फिर प्रत्येक साधारणीकृत अलग-अलग स्थिति का अध्ययन करना पड़ता है, ताकि उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जा सके। इस समाजशास्त्रीय अध्ययन में मनुष्य को केवल एक पशु माना जाता है। विशुद्ध अर्थशास्त्र तथा अन्य विशुद्ध विज्ञानों द्वारा किये गए अध्ययनों के फलस्वरूप जो विश्लेषणात्मक आँकड़े प्राप्त होते हैं, उन सबको बाद में मिला दिया जाता है, ताकि वास्तविक और जटिल सामाजिक प्रक्रिया अथवा घटना को सही रूप में समझा जा सके। यद्यपि इन अध्ययनों में मनुष्य को केवल एक पशु-जैसा मान-कर चला जाता है तथापि वास्तव में वह केवल एक पशु जैसा नहीं है। परेटो का कहना है कि हमें उसकी भावनाओं प्रवृत्तियों और पूर्वाग्रहों को भी दृष्टिगत रखना चाहिए। वास्तविक और जटिल आर्थिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए हमें उन सभी महत्त्वपूर्ण प्रभावकों व तथ्यों को दृष्टिगत रखना चाहिए जिनकी हम 'विशुद्ध अर्थशास्त्र' में उपेक्षा करते हैं। यद्यपि विशुद्ध अर्थशास्त्र में इन प्रभावकों व तथ्यों की उपेक्षा की जाती है लेकिन इन प्रभावकों व तथ्यों का अस्तित्व वास्तविक है और वे विशुद्ध आर्थिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं। परेटो का कहना है कि समाजशास्त्र ही वह विज्ञान है जो विशुद्ध अर्थशास्त्र तथा विशुद्ध सामाजिक विज्ञानों द्वारा एकत्र किये गए आँकड़ों को समन्वित करता है। अतः 'विशुद्ध अर्थशास्त्र' में जैसे-जैसे महत्त्वपूर्ण मानवीय प्रवृत्तियों का समावेश होने लगता है, वैसे-वैसे वह समाजशास्त्र का रूप ग्रहण करने लगता है, क्योंकि समाजशास्त्र ही वास्तविक मनुष्य और वास्तविक सामाजिक प्रक्रियाओं का समन्वित विज्ञान है।

ऊपर कही गई जो बात विशुद्ध अर्थशास्त्र पर लागू होती है वही अन्य विशुद्ध विज्ञानों पर भी लागू होती है। परेटो के जीवन पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा कि वे स्वयं भी इसी प्रकार 'विशुद्ध अर्थशास्त्री' से समाजशास्त्री बने। युक्तिसंगत यंत्रीयतावाद की पद्धति विशुद्ध अर्थशास्त्र की पद्धति की भाँति मुख्य तथा गणितीय (Mathematical) है। अतः यंत्रीयतावादी समाजशास्त्रियों के कथनानुसार समाजशास्त्र की पद्धति भी गणित जैसी होनी चाहिए, क्योंकि समाजशास्त्र एक समन्वित सामाजिक विज्ञान है जो कि सामाजिक प्रक्रियाओं की परस्पर निर्भरता का अध्ययन करता है। परेटो ने भी इसी सिद्धान्त को अपनाया है तथा उसे विस्तृत किया है। फलतः वे गणितीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अग्रणी माने गये हैं तथा उनके सिद्धान्तों ने समाजशास्त्र के यंत्रीयतावादी स्कूल

(Mechanistic school) को पर्याप्त प्रभावित किया है। यही वजह है कि वे समकालीन समाजशास्त्र में इस स्कूल के प्रवर्तक माने गये।

परेटो की पद्धति

पर परेटो और प्राचीनिक यंत्रीकतावादियों में बड़ा अन्तर है। इन यंत्री-यतावादियों की भाँति वे सामाजिक तथ्यों को भौतिक तथ्यों के बिलकुल समरूप नहीं मानते थे। वे यन्त्रीयतावादी केवल इस अर्थ में थे कि उन्होंने यन्त्रीयतावादी पद्धति को अपनाया। इस एक बात के अलावा परेटो के समाजशास्त्र तथा पूर्ववर्ती यंत्रीयतावादियों के सिद्धान्तों में बहुत कम समानता है। इसके अलावा परेटो के विचारों में मौलिकता की ओर वे वैज्ञानिक की भाँति अपने निष्कर्षों पर पहुँचते थे।

वैज्ञानिक समाजशास्त्र की धारणा

परेटो का कहना है कि समाजशास्त्र को वैज्ञानिक होना चाहिये। उनकी मान्यता है कि वैज्ञानिक समाजशास्त्र के दो गुण होने चाहिए—उसे एक ओर तो तर्कसंगत होना चाहिए और दूसरी ओर प्रयोगात्मक (*Logico—Experimental*)। इसका अर्थ यह है कि समाजशास्त्रीय निष्कर्ष निरीक्षण और परीक्षण पर आधारित होने चाहिये। उसे निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए केवल तथ्यों को दृष्टिगत रखना चाहिये। वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्त में ऐसे किसी भी तत्व का समावेश नहीं होना चाहिए जो तथ्य से परे हो। उसमें केवल उन तत्वों का समावेश होना चाहिए जो तथ्यों के गुणों तथा उनकी समरूपताओं को प्रकट करते हों जिनका कि अध्ययन किया जा रहा हो। वैज्ञानिक समाज शास्त्र में न तो अदृश्यवादी को स्थान मिलना चाहिए, और न कोरी दलीलों को। उसमें न तो नैतिकता-सम्बन्धी धारणाओं को स्थान मिलना चाहिए और न नैतिक उद्देश्य देने की चेष्टा की जानी चाहिए। समाजशास्त्र में न तो किसी बाह्य तत्व को स्थान मिलना चाहिए और न किसी बाह्य सिद्धान्त को। वैज्ञानिक समाजवाद के अन्तर्गत केवल वे ही बातें कही जानी चाहिये जो तथ्यों के गुणों और उनकी समरूपताओं का वर्णन प्रस्तुत करती हों।

परेटो का कहना है कि कोई भी तथ्य चिरन्तन सत्य के रूप में नहीं होता। वह सापेक्षिक होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक तथ्य केवल एक काल विशेष और परिस्थिति-विशेष में सत्य के रूप में होता है। चूँकि मानव-ज्ञान की स्थिति बदलती रहती है और नये-नये तथ्य प्रकाश में आते रहते हैं अतः नये तथ्यों के प्रकाश में आने से पता लगता रहता है कि जिन तथ्यों को हम

सही मानकर चले थे वे किस हद तक गलत हैं। अतः तथ्यों की इस सापेक्षिकता के कारण वैज्ञानिक समाजशास्त्र में इन कथनों को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए कि यह तो आवश्यक है 'यह अपरिहार्य है' 'यह चिरन्तन सत्य है' 'यह सदैव ही निर्णायक तत्त्व रहा है' आदि आदि। तथ्यों की सत्यता सापेक्षिक होने के कारण हमारी प्रस्थापनाएँ किसी-न किसी हद तक 'सम्भावित सत्य' के रूप में ही होती हैं। प्रस्थापनाओं का अर्थ है वे बुनियादी धारणाएँ जिन्हें हम सत्य के रूप में मानकर चलते हैं और जिन्हें हम आगे के अग्रिम अनुसंधानों के लिए आधार बनाते हैं। जो भी चीज निरीक्षण और परीक्षण (observation and experimentation) द्वारा जानी न जा सकती हो उसे हम वैज्ञानिक समाजशास्त्र का विषय नहीं बना सकते। ऐसी समस्याओं को भी जिन्हें हम निरीक्षण और परीक्षण द्वारा नहीं समझ सकते वैज्ञानिक समाजशास्त्र में कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। उसमें न तो चिरस्थायी सिद्धान्तों का समावेश किया जा सकता है न चिरस्थायी मूल्यों का निर्धारण किया जा सकता है, और न किसी भी चीज का नैतिक मूल्यांकन किया जा सकता है।

परेटो से पूर्व के जितने भी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त हैं, वे वैज्ञानिक समाजशास्त्र की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। परेटो का कहना है कि इनमें से कुछ सिद्धान्तों में कल्पनात्मकता है तो कुछ में चिरन्तन सत्यों का आधार बनाया गया है या नैतिक उपदेश दिये गए हैं। फलतः वे निरीक्षण परीक्षण और तर्क की सीमाओं को लाँघ गए हैं। इस दृष्टिकोण से आगस्त कौंत (कॉम्ट) और हरबर्ट स्पेन्सर के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त करीब-करीब उतने ही अवैज्ञानिक हैं जितने कि वे धार्मिक सिद्धान्त जिनकी उन्होंने आलोचना की है। इन समाजशास्त्रियों ने अपने सिद्धान्तों में ऐसे बाह्य तत्त्वों का समावेश किया है जो निरीक्षण और परीक्षण से परे हैं भले ही उन्होंने इन बाह्य तत्त्वों को किसी भी नाम से क्यों न पुकारा हो। इन सिद्धान्तों में कुछ ऐसे हैं जिनमें ये उपदेश दिये गए हैं कि क्या होना चाहिए, और क्या नहीं। इसी प्रकार कुछ सिद्धान्तों में यह बताया गया है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा। इसी प्रकार कुछ सिद्धान्तों में विकास सम्बन्धी तरह-तरह के नियम दिये गए हैं। ये सभी सिद्धान्त अवैज्ञानिक हैं, क्योंकि वे धार्मिक सिद्धान्तों के परिवर्तित व संशोधित रूप हैं। उनका कहना है कि जो सिद्धान्त निरीक्षण और परीक्षण पर आधारित नहीं हैं और जो तथ्यों के गुणों तथा उनकी समरूपताओं को बताने की जगह उपदेश या निर्देश देते हैं कि क्या होना चाहिए और क्या नहीं उन्हें वैज्ञानिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए। अतः वे सिद्धान्त भी वैज्ञानिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत नहीं

माने जाने चाहिए जो मानव-धर्म धार्मिक एकसूत्रता और प्रजातन्त्र आदि के सम्बन्ध में हैं, अथवा जो प्रगति विकास समाजवाद मानुष्य स्वतन्त्रता न्याय और समानता आदि की धारणाओं पर आधारित हैं।

उपयोगितावादी दृष्टिकोण

परेटो का कहना है कि वैज्ञानिक समाजशास्त्र में उपयोगितावादी दृष्टिकोण को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। उनका कहना है कि अवैज्ञानिक सिद्धान्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं और होते भी हैं। कभी-कभी अवैज्ञानिक सिद्धान्त समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक भी हो सकते हैं। इसके विपरीत वैज्ञानिक सिद्धान्त कभी-कभी समाज के लिए हानिकर सिद्ध हो सकते हैं। पर सत्य एक चीज है और उपयोगिता दूसरी चीज। दोनों को मिलाया नहीं जा सकता। इसी प्रकार, विज्ञान और दूसरे प्रकार के सामाजिक विचारों को मिलाया नहीं जा सकता। अतः वैज्ञानिक समाजशास्त्र में अवैज्ञानिक सिद्धान्तों तथा उपयोगितावादी दृष्टिकोण का समावेश करना गलत है।

परस्पर निर्भरता का सिद्धान्त

कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक प्रक्रिया को समझने के लिए 'कार्य और कारण' (Cause and effect) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। परेटो का कहना है कि यह सिद्धान्त गलत है क्योंकि इसमें यह मानकर चला गया है कि कार्य और कारण का सम्बन्ध एकतरफा होता है अर्थात् कार्य (Effect) को कारण (Cause) पर निर्भर करना पड़ता है। परेटो का कहना है कि इस प्रकार का एकतरफा सम्बन्ध कभी नहीं होता। वास्तव में कार्य और कारण दोनों ही एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी समाज के सदस्यों की संख्या का प्रभाव उसके सामाजिक संगठन पर पड़ता है तो सामाजिक संगठन का भी प्रभाव सदस्यों की संख्या पर पड़ता है। अतः सामाजिक प्रक्रिया के वैज्ञानिक अध्ययन के हेतु कार्य और कारण के सम्बन्ध को एकतरफा नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए यदि हम किसी भी समाज को लें तो हम देखेंगे कि उस समाज का स्वरूप कई बातों पर निर्भर करता है, जैसे कि भौगोलिक स्थिति आर्थिक स्थिति राजनीतिक स्थिति धर्म ज्ञान आचार विचार, इत्यादि। ये सभी तत्व एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं और उनकी अन्तः प्रक्रिया (Inter action) के फलस्वरूप ही समाज का स्वरूप बनता है। अतः यह समझना गलत होगा कि ऊपर उल्लिखित तत्वों में से कोई भी एक तत्व 'कारण'

है और अन्य तत्त्व उसके 'परिणाम' हैं। फलतः सामाजिक जीवन का विश्लेषण न तो केवल भौगोलिक तथ्यों के आधार पर किया जा सकता है और न केवल आर्थिक अथवा राजनीतिक आधार पर। यदि इनमें से किसी एक तत्त्व को सामाजिक जीवन का मूल कारण मानकर किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जायगा तो वह अधूरा और गलत होगा। परेटो का कहना है कि इसी प्रकार की गलती विकासवादी सिद्धान्तों के प्रवर्तकों ने की है। वे एक-एक चीज को अलग अलग करके लेते हैं। उदाहरण के लिए, यदि उन्होंने राजनीति को लिया तो वे केवल यह बतायेंगे कि समाज की राजनीतिक व्यवस्था विकसित होकर कब किस स्थिति में पहुँची। इसी प्रकार वे बताते हैं कि धर्म आर्थिक व्यवस्था अथवा अन्य चीजों का विकास किस तरह से हुआ और वह एक अवस्था से दूसरी किसी अवस्था में कैसे पहुँचे। इस प्रकार से उनके सिद्धान्त केवल ऐतिहासिक विवरण होते हैं। वे किसी भी प्रक्रिया अथवा घटना का विश्लेषण प्रस्तुत नहीं कर पाते क्योंकि वे विभिन्न तथ्यों की परस्पर-निर्भरता को नहीं देख पाते। *परेटो का कहना है कि समाजशास्त्र में 'कार्य-कारण' सिद्धान्त यानी* एकतरफा निर्भरता के सिद्धान्त के स्थान पर, तथ्यों की पारस्परिक निर्भरता के सिद्धान्त को अपनाना चाहिए तथा कार्य और कारण के एकतरफा सम्बन्ध के स्थान पर तथ्यों के कार्यात्मक सम्बन्धों को दृष्टिगत रखना चाहिए। सामाजिक व्यवस्था के आकस्मिक अनोखे और अनियमित तत्त्वों के स्थान पर स्थायी तत्त्वों का अध्ययन करना चाहिए। स्थायी तत्त्वों का अध्ययन करते समय उनकी अमूर्त तथ्यों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के केवल गुणों को न देखकर उनकी मात्रा को भी दृष्टिगत रखना चाहिए।

अध्याय २

तार्किक और अतार्किक क्रियायें

प्रत्येक सामाजिक प्रक्रिया अथवा घटना के दो पहलू (पक्ष) होते हैं। एक तो होता है उसका वास्तविक पक्ष और दूसरा पक्ष वह होता है जिस रूप में अलग अलग व्यक्ति उसे देखते हैं। पहले पक्ष को वस्तुगत (Objective) और दूसरे पक्ष को कर्तागत (Subjective) कहा जा सकता है। इस प्रकार का वर्गीकरण आवश्यक है क्योंकि हम रसायनशास्त्री के प्रयोगों और जादूगर के करिश्मों को एक ही श्रेणी में नहीं रख सकते। किसी जमाने में यूनान के नाविक अपनी यात्रा की सफलता के लिए पोसीडन नामक देवता को भेंट चढ़ाते थे। हम जानते हैं कि यात्रा को सफल बनाने पर इसका कोई असर नहीं पड़ सकता। अतः हम इन कार्यों को उन कार्यों की श्रेणी में नहीं रख सकते जिनसे अपेक्षित परिणाम की अपेक्षा की जा सकती है। मान लीजिए कि हमें बाद में पता लगता है कि हमारी यह धारणा गलत थी कि पोसीडन को भेंट चढ़ाने से कोई लाभ नहीं होता और हमें यह पता लग जाता है कि पोसीडन को भेंट चढ़ाने का यात्रा की सफलता पर गहरा असर पड़ता है। यह पता लगते ही हमें अपने वर्गीकरण को बदलना पड़ेगा और पोसीडन को भेंट चढ़ाने के कार्य को उन कार्यों की श्रेणी में रखना पड़ेगा जिनसे अपेक्षित परिणामों की आशा की जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का वर्गीकरण मनुष्य अपने ज्ञान के आधार पर करता है।

तर्कसंगत और तर्कहीन कार्य

पेरेटो का कहना है कि मनुष्यों की क्रियाएँ अथवा कार्य (Actions) भी दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के कार्य वे होते हैं जिनमें मनुष्य साध्य के अनुरूप साधन अपनाता है। ये कार्य साध्य और साधन को तर्कसंगत रूप (Logically) जोड़ते हैं। दूसरे प्रकार के कार्य वे होते हैं जिनमें साध्य औ साधन को जोड़ने वाली यह तर्कसंगत कड़ी नहीं होती। दूसरे शब्दों में कार्यों में साध्य के अनुरूप साधन नहीं अपनाए जाते। इन्हें अतार्किक कार्य अ क्रियाएँ (Illogical Actions) कहते हैं। लेकिन जब इन दोनों ही प्रका

कार्यों पर वस्तुगत (Objective) अथवा कर्त्तागत (Subjective) रूप से विचार किया जाता है तो वे बिलकुल ही भिन्न रूप में दिखाई पड़ते हैं। कर्त्तागत दृष्टि कोण से मनुष्य के प्रायः सभी कार्य ऊपर उल्लिखित पहले वर्ग के होते हैं, यानी तर्कसंगत होते हैं। यूनानी नाविक पोसीडन को भेंट चढ़ाना एक तर्कसंगत कार्य अथवा उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक तर्क-संगत साधन मानते थे पर ऐसे दूसरे लोगों की दृष्टि में जिन्हें ज्यादा ज्ञान प्राप्त है, यह कार्य न साधन तर्क-संगत नहीं है। अतः हम उन कार्यों को तर्क-संगत कार्य कहेंगे जो कर्त्ता की दृष्टि से ही नहीं बल्कि उन दूसरे लोगों की दृष्टि से भी जिन्हें ज्यादा ज्ञान प्राप्त है साध्य और साधन को तर्क-संगत ढंग से जोड़ते हैं। दूसरे शब्दों में तर्क-संगत कार्य वे हैं जो कर्त्तागत तथा वस्तुगत दोनों दृष्टियों से तर्कसंगत हों। दूसरे सभी कार्यों को अतार्किक अथवा तर्कहीन माना जायेगा। परेटो ने इस दूसरी श्रेणी के कार्यों को अनेक उपवर्गों में विभाजित किया है।

अतार्किक कार्यों (क्रियाओं) का वर्गीकरण

तर्क संगत कार्यों में वस्तुगत उद्देश्य और दृष्टागत अथवा कर्त्तागत उद्देश्य समान होता है—

तर्कसंगत कार्य

वस्तुगत लक्ष्य (Objective end)	कर्त्तागत उद्देश्य (Subjective purpose)
हाँ	हाँ

लेकिन अतार्किक कार्यों या क्रियाओं में वस्तुगत (Objective) उद्देश्य और कर्त्तागत (Subjective) उद्देश्य का मेल खाना आवश्यक नहीं। उनमें अन्तर हो सकता है और यह स्थिति चार प्रकार की हो सकती है—

अतार्किक कार्य

वस्तुगत लक्ष्य (Objective end)	कर्त्तागत उद्देश्य (Subjective purpose)
प्रथम स्थिति—नहीं	नहीं
द्वितीय स्थिति—नहीं	हाँ
तृतीय स्थिति—हाँ	नहीं
चौथी स्थिति—हाँ	हाँ

उपर्युक्त दृष्टान्त में तात्कालिक लक्ष्यों और उद्देश्यों को लिया गया है और अप्रत्यक्ष लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को छोड़ दिया गया है। वस्तुवादी लक्ष्य वास्तविक होता है क्योंकि उसको निरीक्षण और परीक्षण द्वारा जाना जा सकता है। वस्तुवादी लक्ष्य काल्पनिक नहीं होता जो कि निरीक्षण और परीक्षण के क्षेत्र से बाहर हो। पर कदाचित यह लक्ष्य काल्पनिक हो सकता है।

अतार्किक क्रियाओं का प्राधिक्य

सभ्य लोगों में तर्कसंगत कार्यों की संख्या काफी होती है। कलाओं और विज्ञानों से सम्बन्धित कार्य इसी वर्ग के होते हैं, कम-से-कम कलाकारों और वैज्ञानिकों के लिए। लेकिन जो लोग दूसरों के आदेशानुसार शारीरिक श्रम द्वारा कला और विज्ञान-सम्बन्धी कार्यों में योग देते हैं उनकी दृष्टि से ये कार्य ऊपर दी गई तालिका की चौथी स्थिति के अन्तर्गत आने वाले अतार्किक कार्य हो सकते हैं। राजनीतिक-अर्थतन्त्र के भी बहुत से कार्य इसी श्रेणी के होते हैं। इसी प्रकार बहुत से सैनिक राजनीतिक और कानूनी कार्य इसी श्रेणी में आते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अतार्किक कार्य हमारे समाज में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं और मनुष्य के अधिकांश कार्य अथवा क्रियाएँ इसी श्रेणी की होती हैं। यही कारण है कि परेटो ने अपने समाजशास्त्र में अतार्किक (तर्कहीन) कार्यों अथवा क्रियाओं (Actions) का विशेष रूप से अध्ययन व विवेचन किया है।

अध्याय ४

समाज और सामाजिक व्यवस्था

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समाज-सम्बन्धी विभिन्न धारणाएँ प्रस्तुत की हैं। उन्होंने समाज की अलग-अलग ढंग से व्याख्या की है। कुछ समाजशास्त्रियों ने उसे जैवकीय इकाई (जीव) (Organism) के सदृश माना है तो कुछ समाजशास्त्रियों ने कहा है कि समाज व्यक्तियों का समूह-मात्र है। कुछ समाजशास्त्रियों ने उसे एक यंत्र के रूप में देखा है और वे सामाजिक प्रक्रियाओं को यंत्रवत् मानते हैं। समाज के प्रति इन विभिन्न दृष्टिकोणों तथा समाज के सम्बन्ध में इन विभिन्न अवधारणाओं (Conceptions) के फलस्वरूप विभिन्न समाजशास्त्रीय स्कूलों (विचारधाराओं) को जन्म मिला। इन स्कूलों अथवा विचारधाराओं का नामकरण भी समाज-सम्बन्धी उनकी अवधारणाओं के अनुसार हुआ। जहाँ तक परेटो की समाजशास्त्रीय अवधारणा का सम्बन्ध है वह इन सभी विचारधाराओं से भिन्न है। अतः इस दृष्टि से उन्हें इनमें से किसी भी स्कूल का नहीं माना जा सकता।

समाज-सम्बन्धी अवधारणा अथवा समाज की व्याख्या

परेटो ने समाज की व्याख्या करते हुए कहा है कि सामाजिक व्यवस्था (Social system) ही समाज अथवा सामाजिक समुदाय (Social group) होता है। उनकी दृष्टि में कोई भी सामाजिक समुदाय अथवा समाज सामाजिक व्यवस्था से अधिक कुछ भी नहीं है। उनका कहना है कि जब तक वह सामाजिक व्यवस्था कायम रहती है, तब तक वह एक प्रकार के संतुलन (Equilibrium) की स्थिति में होती है। संतुलन की स्थिति से परेटो का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक सामाजिक समुदाय में दो प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। पहले प्रकार की शक्ति वह होती है जो सामाजिक व्यवस्था को नष्ट भ्रष्ट करने की कोशिश करती है। दूसरे प्रकार की शक्ति वह होती है जो सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने की कोशिश करती है (Integrating force)। दूसरे प्रकार की शक्ति पहले प्रकार की शक्ति का सफलतापूर्वक मुकाबला करके एक ऐसा संतुलन कायम

रखती है जिससे सामाजिक व्यवस्था नष्ट भ्रष्ट नहीं होने पाती। इस प्रकार परेटो के अनुसार समाज की व्याख्या यह हुई कि समाज महज एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जो, अपने अस्तित्व-काल में संतुलन की स्थिति कायम रखती है। उन्होंने सामाजिक भौतिकशास्त्रियों (Social physicists) की भाँति मानव-समाज की परिकल्पना ऐसे मानवीय अणुओं (मानव रूपी अणुओं) (Human molecules) की व्यवस्था के रूप में की है जो जटिल पारस्परिक सम्बन्धों (Complex mutual relationship) द्वारा सम्बद्ध होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार बहुत से अणु मिलकर अपनी अपने परस्पर सम्बन्धों द्वारा किसी भौतिक व्यवस्था का रूप धारण करते हैं, ठीक उसी प्रकार बहुत से मनुष्य मिलकर अपने पारस्परिक सम्बन्धों द्वारा समाज का रूप धारण करते हैं। पर इन मानवीय सम्बन्धों की एक विशेषता यह भी होती है कि वे अत्यन्त जटिल (Complex) होते हैं।

सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप

परेटो का कहना है कि सभी सामाजिक व्यवस्थाएँ एक-जैसी नहीं होतीं। उनका ठोस या वास्तविक स्वरूप अलग-अलग तरह का होता है। अतः सामाजिक व्यवस्था के अनेक स्वरूप रहे हैं और हैं। उसके ये स्वरूप बदलते भी रहे हैं। यदि हम किसी भी सामाजिक समुदाय को लें तो देखेंगे कि उसका स्वरूप सदैव एक जैसा नहीं रहा है, बल्कि अलग अलग समय में उसके स्वरूप अलग-अलग रहे हैं। अतः प्रश्न यह उठता है कि सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करने वाले तथ्य अथवा प्रभावक (Factors) क्या हैं और सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप किस प्रकार बदलता है ?

प्रभावकों (Factors) सम्बन्धी सिद्धान्त

परेटो ने उन प्रभावकों का विश्लेषण तथा उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है जिन्हें सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप-निर्धारण के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है। उनका कहना है कि समाज के स्वरूप का निर्धारण वे सभी तत्त्व मिलकर करते हैं जो उसे प्रभावित करते हों। दूसरे शब्दों में समाज का ठोस स्वरूप विभिन्न तत्वों द्वारा पड़ने वाले प्रभावों का समूह होता है। पर इन तत्वों पर समाज के स्वरूप की भी प्रतिक्रिया होती है यानी समाज का स्वरूप उन तत्वों को भी प्रभावित करता है जिनके प्रभावों द्वारा समाज का स्वरूप बनता है। इस प्रकार समाज के तत्वों और समाज के स्वरूप में क्रिया प्रतिक्रिया का पारस्परिक सम्बन्ध होता है।

प्रभावकों का वर्गीकरण

परेटो ने समाज का स्वरूप निर्धारित करने वाले तत्वों अथवा प्रभावकों को तीन वर्गों में बाँटा है। उन्होंने पहले वर्ग में भूमि (Soil) जलवायु (Climate) जीव-जन्तु वनस्पति (Flora fauna) और भू-तत्त्व (Geologic conditions) आदि को रखा है। दूसरे वर्ग में उन्होंने समाज के बाहर के तत्वों (*Exterior elements*) को रखा है। इन तत्वों से उनका अभिप्राय है—ऐसे तत्व जो किसी समय के किसी समाज (काल विशेष के समाज-विशेष) के आन्तरिक तत्व न हों। उदाहरण के लिए, इस वर्ग के अन्तर्गत उन दूसरे समाजों को भी माना जा सकता है जिनका प्रभाव उस समाज पर पड़ता हो जिसके बारे में विचार किया जा रहा हो। इस वर्ग में परेटो ने उन तत्वों को भी शामिल किया है जो किसी समाज के वर्तमान स्वरूप में तो मौजूद न हों लेकिन उसके पूर्ववर्ती स्वरूपों (Preceding stages of society) में मौजूद रहे हों। तीसरे वर्ग में परेटो ने सामाजिक व्यवस्था के आन्तरिक तत्वों (Inner elements) को रखा है, जैसे कि स्वार्थ भावनाएँ, विचारधाराएँ तथा अन्य मानवीय गुण।

प्रभावकों की पारस्परिक निर्भरता

परेटो का कहना है कि ऊपर उल्लिखित तत्व अथवा प्रभावक एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। अतः किसी भी समाज के स्वरूप को पूरी तरह समझने के लिए यह जानकारी होना आवश्यक है कि इनमें से कौन-कौनसे तत्व किस-किस मात्रा में मौजूद हैं उनका एक दूसरे के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है और वे क्या प्रभाव डालते हैं। परेटो का कहना है कि इस सम्बन्ध में इन सभी तत्वों की मात्राओं उनके पारस्परिक सम्बन्धों और प्रभाव के बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर पाना असम्भव है। अतः समाज के स्वरूप को समझने के लिए फिलहाल केवल ऐसे कुछ तत्वों को लिया जा सकता है जो ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। इन महत्त्वपूर्ण तत्वों में से प्रत्येक की मात्रा और दूसरे महत्त्वपूर्ण तत्वों के साथ उसके पारस्परिक सम्बन्धों का पूर्ण रूप से अध्ययन करने पर ही किसी भी समाज के स्वरूप को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझा जा सकता है।

पाँच प्रमुख प्रभावक (तत्व)

परेटो ने सामाजिक व्यवस्था के पाँच प्रभावकों (तत्वों) (Factors) को विशेष महत्त्व दिया है और अपने समाजशास्त्र में उन्हीं का अध्ययन विश्लेषण

(३) समूहगत निरन्तरता के अवशेष (Residues of persistence of aggregates)—ये वे प्रेरक तत्त्व (Drives) होते हैं जो दूसरे मनुष्यों और स्थानों के साथ मनुष्य के सम्बन्ध की निरन्तरता (Persistence) को कायम रखते हैं। ये ही मृत व्यक्तियों प्रतीकों तथा मूर्त धारणाओं (Personified concepts) के साथ मनुष्यों के सम्बन्धों को निरन्तर कायम रखते हैं।

(३) बाह्य कार्यों द्वारा भावनाओं को अभिव्यक्ति के अवशेष अथवा आवश्यकताएँ (Residues or needs of the manifestation of sentiments through exterior acts)—इन अवशेषों के अन्तर्गत राजनीतिक आन्दोलन तथा दूसरे आन्दोलन आदि आते हैं। विशेष धार्मिक काम भी इसी अवशेष के अन्तर्गत आते हैं।

(४) सामाजिकता-सम्बन्धी अवशेष (Residues in regard to sociability)—ये अवशेष वे प्रेरक तत्त्व होते हैं जिनसे अलग अलग प्रकार के समाजों तथा समूहों का निर्माण होता है और जो समूह अथवा समाज के सदस्यों पर समरूपताएँ लादते हैं। यथा सदाचार, निर्दयता औरअप्रियता के लिए प्रयास, हीनता अथवा श्रेष्ठता की भावनाएँ आदि इसी वर्ग के अवशेषों के अन्तर्गत माने जाते हैं।

(५) व्यक्तित्व की संश्लिष्टता के अवशेष (Residues of the integrity of personality)—ये प्रेरक तत्त्व वे होते हैं जो मनुष्य के व्यक्तित्व की विशुद्धता की रक्षा करते हैं। समानता और स्वतन्त्रता आदि के लिये किए जाने वाले प्रयास इसी अवशेष के अन्तर्गत आते हैं।

(६) यौन अवशेष (Sexual residues)।

ये छः अवशेष प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के स्थिर तत्त्व (Constant elements) माने गए हैं क्योंकि ये प्रत्येक समाज में विद्यमान होते हैं लेकिन प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक समूह में इन अवशेषों की मात्रा समान नहीं होती। कुछ व्यक्तियों तथा समूहों में किसी अवशेष की मात्रा अधिक होती है तो किसी व्यक्ति अथवा समूह में किसी अवशेष की। किसी भी समाज में अवशेषों की मात्रा सदैव एक-जैसी नहीं रहती। कभी किसी अवशेष की मात्रा बढ़ जाती है तो कभी किसी अवशेष की मात्रा कम हो जाती है। समाज के सदस्यों में भी इन अवशेषों की मात्रा घटती-बढ़ती रहती है। अवशेषों की मात्रा में घट बढ़ के कारण समाज के आन्तरिक तत्त्वों का संतुलन बदल जाता है। इसके फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप बदल जाता है।

मानवीय क्रियाओं का स्वरूप भी इन्हीं अवशेषों पर निर्भर करता है। वास्तव में मानवीय क्रियाएं इन अवशेषों की अभिव्यक्ति (manifestation) होती है। मनुष्यों में इस अभिव्यक्ति के दो मुख्य स्वरूप होते हैं। एक स्वरूप तो यह होता है जब कि क्रियाओं के बाद शब्दों द्वारा प्रतिक्रियाओं का प्रकटीकरण नहीं होता (Action not followed by speech reactions)। इससे अभिप्राय है वे क्रियाएं जिनके बाद कोई चेतन व्यक्तिगत प्रक्रिया नहीं होती (Action not followed by conscious subjective processes)। ये क्रियाएं भावनामात्र होती हैं। किसी अवशेष से प्रेरित क्रिया और ये क्रियाएं हो गयीं। अभिव्यक्ति का दूसरा स्वरूप यह होता है कि क्रियाओं के बाद शब्दों में उसकी प्रतिक्रिया प्रकट होती है और विचारधाराएं सामने आती हैं (Actions followed by speech reactions ideologies)। ये सचेतन मानसिक प्रक्रियाएं होती हैं। सिद्धान्त निरूपण किसी कार्य को उचित सिद्ध करने की कोशिश और किन्हीं निश्चित उद्देश्यों के लिए किए जाने वाले काम इसी वर्ग में आते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रेरक तत्वों द्वारा प्रेरित होकर मनुष्य काम करता है और फिर उसकी शाब्दिक प्रतिक्रिया के रूप में सिद्धान्त आदि बनते हैं।

२ भ्रमोत्पादक तत्व (Derivations)

अवशेषों द्वारा प्रेरित क्रियाओं के फलस्वरूप जो सिद्धान्त और आदर्श आदि बनते हैं उन्हें परेटो ने भ्रमोत्पादक तत्व (Derivations) कहा है। ये वास्तव में वे प्रतिक्रियाएं होती हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने कार्यों के औचित्य को सिद्ध करने की कोशिश करता है। परेटो का यह सिद्धान्त मार्क्स के सिद्धान्तों से बहुत-कुछ मिलता जुलता है। जिस प्रकार परेटो ने अवशेषों को सिद्धान्तों की जननी माना है ठीक उसी प्रकार मार्क्स ने भौतिक परिस्थितियों को विचारों और सिद्धान्तों की जननी माना है। मार्क्स का कहना है कि जिस प्रकार की भौतिक परिस्थितियां होती हैं, मनुष्यों के उसी प्रकार के विचार सिद्धान्त और संस्कृति आदि होती है। परेटो और मार्क्स में अन्तर केवल यह है कि परेटो ने विचारों और सिद्धान्तों को भौतिक परिस्थितियों की उत्पत्ति न मानकर अवशेषों की उत्पत्ति माना है। पर अवशेषों की उत्पत्ति का स्रोत भौतिक परिस्थितियां तथा मनुष्य का शरीर (जिसमें मस्तिष्क भी शामिल है) होता है। इस प्रकार परेटो ने भी परोक्ष रूप से भौतिक चीजों को ही विचारों और सिद्धान्तों की उत्पत्ति का स्रोत माना है। जिस प्रकार मार्क्स ने कहा है कि विचार और सिद्धान्त अपनी उत्पत्ति के स्रोत यानी भौतिक परिस्थिति और मनुष्य के मस्तिष्क को

ित करते हैं ठीक उसी प्रकार परेटो ने भी प्रस्फुत्पादकों (Derivations)
ी विचारों और सिद्धान्तों के प्रभाव को स्वीकार किया है। उसका कहना
भी है कि एक ही अवशेष अनेक प्रस्फुत्पादकों को जन्म दे सकता है। इसी
ार एक ही प्रकार के अनेक प्रस्फुत्पादकों अथवा अनेक प्रकार के प्रस्फुत्पादकों
पीछे एक से अधिक अवशेष हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, हत्या न करने
शिक्षा देने वाले विभिन्न सिद्धान्तों की उत्पत्ति का स्रोत एक ही अवशेष
ता है। जब हम कहते हैं कि मनुष्य को हत्या नहीं करनी चाहिए वरना उसे
ाप लगेगा या यह कि हत्या करना ईश्वर की दृष्टि में पाप है या यह कि हत्या
करना बुरा होता है अथवा यह कि हत्या करना कानूनी अपराध है तो इन
सभी अभिव्यक्तियों अथवा इन सभी विचारों और सिद्धान्तों का मूल स्रोत एक
ही अवशेष है। पर उस अवशेष ने अलग-अलग परिस्थितियों में अलग अलग
प्रकार के सिद्धान्तों को जन्म दिया। अतः प्रस्फुत्पादक यानी सभी प्रकार के
सिद्धान्त और सभी प्रकार की विचारधाराएँ, वास्तव में अवशेष की अभिव्यक्ति
मात्र होती हैं। यहाँ एक और उदाहरण दिया जा सकता है। जब कोई व्यक्ति
धार्मिक सहिष्णुता की बात कहता है और कोई दूसरा व्यक्ति धार्मिक असहि
ष्णुता की बात कहता है तो उन दोनों विचारों की विपरीतता के बावजूद
उनकी उत्पत्ति का स्रोत (अवशेष) एक ही होता है। ये अवशेष ऐसे प्रयत्न
उत्पन्न होते हैं जो दूसरों पर अपने विचारों तथा विश्वासों को लादने की कोशिश
करते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण यह प्रकट करता है कि क्रियाएँ (Actions) और
प्रस्फुत्पादक (Derivations) (विचारधाराएँ और सिद्धान्त) दोनों ही अवशेषों
पर निर्भर होते हैं तथा अवशेष ही उनकी उत्पत्ति के स्रोत होते हैं। इसका परि
णाम यह होता है कि एक ही व्यक्ति में परस्पर-विरोधी विचार पाये जाते हैं
और मनुष्यों के बहुत से कार्य तथा व्यवहार परस्पर विरोधी और अतार्किक
होते हैं। इसी सिद्धान्त के आधार पर परेटो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनुष्य के
अधिकांश कार्य अतार्किक होते हैं। मनुष्य की अधिकांश क्रियाओं के तर्कसंगत
न होने का कारण यह है कि किसी समय उस पर किसी अवशेष का प्रभाव होता
है और किसी समय दूसरे अवशेष का प्रभाव होता है। अतः उसे किसी समय
पर कोई अवशेष एक बात के लिए प्रेरित करता है तो दूसरे ही क्षण कोई
दूसरा अवशेष किसी दूसरी बात के लिए प्रेरित करता है। फलतः उसके कार्यों
में असंगतता आ जाती है और वे अतार्किक बन जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य पर
जब जिस अवशेष का प्रभाव अधिक होता है तब उसका व्यवहार उसी के अनुरूप

होता है। अलग-अलग अवशेषों के प्रभावों के फलस्वरूप उसके व्यवहार अलग तरह के होते हैं।

परेटो का कहना है कि अवशेषों के परस्पर सम्बन्ध इतने जटिल (Complex) होते हैं और उनमें इतना अधिक विरोधाभास होता है कि उनके व्युत्पादन (मनुष्य की क्रियाएँ और सिद्धान्त) बहुत ही कम तर्कसंगत और सही होते हैं। अपने इस सिद्धान्त के अनुसार परेटो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अधिकांश धार्मिक आर्थिक राजनीतिक और समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अतार्किक असंगत और अवैज्ञानिक हैं। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने कौंत (Comte) के पॉजिटि-विस्ट (Positivist) सिद्धान्त को भी अवैज्ञानिक कहा है। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने प्रगति प्रजातंत्र समाजवाद राष्ट्रीयतावाद एकता देश-भक्ति अन्तर्राष्ट्रीयता-वाद विकास बुनियादी अधिकार और नैतिकता-सम्बन्धी सिद्धान्तों तथा धारणाओं को अतार्किक और अवैज्ञानिक माना है।

३. आर्थिक हित (Economic Interest)

परेटो का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक समूह के कुछ-न-कुछ आर्थिक हित (Economic Interest) होते हैं। उनमें ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं जो उन्हें भौतिक (Material) पदार्थों तथा उपकरणों आदि की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती हैं। ये हित कुल मिलाकर, सामाजिक संतुलन के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। ये इतने जटिल होते हैं कि उनका पूर्ण अध्ययन अर्थशास्त्रियों द्वारा सम्भव नहीं है और यह समाजशास्त्रियों द्वारा किया जाना चाहिए। परेटो का कहना यह भी है कि समाजशास्त्र भी तब तक उसका अध्ययन पूर्ण रूप से नहीं कर सकता जब तक वह विशुद्ध अर्थशास्त्र के निष्कर्षों की सहायता न ले। परेटो का कहना है कि सामाजिक प्रक्रिया में आर्थिक तत्त्व महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं लेकिन केवल उन्हें ही सामाजिक प्रक्रिया का मूल कारण मानना गलत होगा।

४. सामाजिक विभिन्नतायें

परेटो का कहना है कि मनुष्यों और समूहों की विभिन्नता (Heterogeneity of human beings and social groups) भी सामाजिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है और यह उसका एक स्थिर तत्त्व है। यह सर्वविदित है कि व्यक्तियों में शारीरिक नैतिक और बौद्धिक विभिन्नतायें होती हैं। इसी से सामाजिक असमानता की उत्पत्ति हुई है। यह असमानता प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में रही है। परेटो ने अपने इस सिद्धान्त को आधार बनाकर

ही समानता और प्रजातन्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तों की आलोचना की है। उनका कहना है कि ऐसी कोई भी सामाजिक या राजनीतिक व्यवस्था नहीं रही है जिसमें पूर्ण रूप से समानता रही हो अथवा जो पूर्ण रूप से प्रजातन्त्रीय रही हो। उनका कहना है कि चाहे जो उपाय काम में लिए जायें व्यक्तियों में विभिन्नता रहेगी ही और उसके फलस्वरूप असमानता भी रहेगी।

५ सामाजिक गतिशीलता और वर्ग-निर्धारण

परेटो ने सामाजिक गतिशीलता (Social mobility) और वर्ग-निर्धारण (Circulation of Elites) को भी समाज का एक स्थिर तत्त्व माना है। उनका कहना है कि प्रत्येक समाज में व्यक्तियों का वर्गीकरण होता है। ये वर्ग मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं—उच्च वर्ग और निम्न वर्ग। इन वर्गों में विभिन्न अवशेषों की मात्राएँ अलग-अलग होती हैं। वर्गीकरण बदलता भी रहता है, जिसका परिणाम यह भी होता है कि व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में पहुँच जाते हैं। इस सामाजिक गतिशीलता की मात्रा अलग अलग समाज में और अलग-अलग काल में अलग-अलग होती है। उन समाजों में भी यह गतिशीलता विद्यमान होती है जो जातीयता पर आधारित होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक संभ्रान्त वर्ग (Aristocracy) का देर-सवेर पतन अवश्य होता है और वह कभी-न-कभी लुप्त अवश्य हो जाता है। इसी से परेटो ने इतिहास को संभ्रान्त वर्गों का कब्रिस्तान (Graveyard of Aristocracy) कहा है। जब किसी संभ्रान्त वर्ग का पतन शुरू हो जाता है और उस वर्ग के लोग गिरकर निम्न वर्ग में पहुँचने लगते हैं, तो वह संभ्रान्त वर्ग मरणासन्न हो जाता है। उस वक्त उसका स्थान ग्रहण करने के लिए निम्न वर्गों के लोग तरक्की करके उच्च सामाजिक पदों पर पहुँचने लगते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक समाज में मनुष्यों का *वर्गीकरण होता रहता है, मानो वर्ग बनते और बिगड़ते रहते हैं।* प्रत्येक समाज का संभ्रान्त वर्ग अपने को कायम रखने की पूरी चेष्टा करता है। इसके लिए वह घूसखोरी और भ्रष्टाचार करता है, लोगों को जेलों में डालता है कितने ही लोगों को खत्म कर डालता है। और निम्न वर्गों के जिन लोगों को वह अपने लिए खतरनाक समझता है, उन्हें उच्च पद देकर अपनी ओर मिलाने की कोशिश करता है। इस प्रकार के कुत्यों तथा शक्ति-प्रयोग द्वारा अक्सर वह अपने अस्तित्व को कुछ ज्यादा समय तक कायम रखने में सफल हो जाता है। परेटो का कहना है कि जो संभ्रान्त वर्ग निर्दयी और जुल्मी रहे हैं वे मानवतावादी सम्भ्रान्त वर्गों की अपेक्षा ज्यादा समय तक कायम रह सके।

इमाइल दुर्खीम

(EMILE DURKHEIM)

अध्याय १

सामान्य परिचय

इमाइल दुर्खीम फ्रान्स के बहुत प्रसिद्ध समाजशास्त्री तथा विचारक थे और समाजशास्त्रियों में उनका प्रमुख स्थान रहा है। फ्रान्स में समाजशास्त्री के रूप में वे जितने प्रभावशाली रहे हैं उतना प्रभावशाली जी० टार्डे के अलावा अन्य कोई समकालीन समाजशास्त्री अथवा विचारक नहीं रहा है। उनके इस प्रभाव के अनेक कारण थे पर उनमें से सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि एक ओर तो उनके दार्शनिक विचार अत्यन्त तर्कसंगत थे और दूसरी ओर उनकी कार्य पद्धति एक वैज्ञानिक की भाँति थी। इस प्रकार उनमें दार्शनिक और वैज्ञानिक, दोनों ही के गुण मौजूद थे और उनकी योग्यता उनकी कृतियों में भली प्रकार परिलक्षित हुई है। वे अत्यन्त अध्ययनशील थे और तथ्यों का धैर्यपूर्वक अध्ययन करने के बाद ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचते थे। इसके बाद वे एक वैज्ञानिक की तरह इन निष्कर्षों की जाँच करते थे। यही कारण है कि उनकी कृतियाँ बहुत ही ऊँचे स्तर की हैं।

दुर्खीम एक पॉजिटिविस्ट थे और उन्होंने सामाजिक क्रियाओं प्रक्रियाओं के अध्ययन के लिए भौतिक विज्ञान के तरीकों को अपनाया। उन्होंने कोंत (कॉम्टे) के पॉजिटिविस्ट सिद्धान्तों को विकसित किया तथा उसे सुदृढ़ आधार प्रदान किया। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि कोंत (कॉम्टे) के पॉजिटिविस्ट सिद्धान्तों में पूर्णता लाने का श्रेय उन्हीं को रहा है। इसके अलावा उन्होंने अनेक सामाजिक तथ्यों का वैज्ञानिक विश्लेषण और विवेचन प्रस्तुत किया।

प्रारम्भिक जीवन

इमाइल दुर्खीम का जन्म फ्रान्स के एपीनल नामक स्थान में सन् १८५८ में हुआ था। अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद वे बोर्डियो विश्वविद्यालय में सामाजिक विज्ञान के प्रोफेसर हो गये। इसके बाद वे पेरिस के विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र और शिक्षा के प्रोफेसर बने। पेरिस विश्वविद्यालय से ही उन्हें डॉक्टर की उपाधि भी मिली थी। उन्हें 'समाज में श्रम विभाजन' नामक थीसिस

पर डॉक्टर की उपाधि मिली थी। इस थीसिस के प्रकाशित होते ही उन्हें बहुत ख्याति मिली। उसका प्रकाशन १८९३ में हुआ था। इसके बाद उन्होंने 'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम' नामक पुस्तक लिखी। उनकी तीसरी पुस्तक 'आत्महत्या' १८९७ में प्रकाशित हुई। १९१२ में उनकी पुस्तक 'धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक रूप' प्रकाशित हुई और यही उनकी अन्तिम पुस्तक थी। उन्होंने समाजशास्त्र पर एक पत्रिका भी निकाली थी जिसका सम्पादन वे स्वयं ही करते थे। पर इस पत्रिका के केवल कुछ ही अंक निकल सके और सन् १९१७ में उनका देहावसान हो गया।

इमाइल दुर्खीम पर बहुत सी पुस्तकें और लेख आदि लिखे गये हैं और संसार के अनेक प्रसिद्ध समाजशास्त्रियों ने उन पर पुस्तकें लिखी हैं। जिन समाजशास्त्रियों ने उन पर पुस्तकें लिखी हैं उनमें से मुख्य हैं—ऐपके गैम्लोई, बेनफोरड, हैलबाक्स बार्नेस और बोगले।

अध्याय २

दुर्खीम के समाजशास्त्र की विशिष्टतायें

जैसा कि हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं दुर्खीम को कौंत (कॉम्टे) के पॉज़िटिविस्ट सिद्धान्तों को विकसित करने तथा उनमें पूर्णता लाने का श्रेय प्राप्त है। कौंत (कॉम्टे) एक नयी विचारधारा अथवा 'स्कूल' के जन्मदाता थे। जैसा कि आप कौंत (कॉम्टे) सम्बन्धी अध्यायों में पढ़ चुके हैं उन्होंने विज्ञानों का वर्गीकरण किया था और अपने इस वर्गीकरण में उन्होंने प्राणीशास्त्र (Biology) के तत्काल बाद समाजशास्त्र को रखा था। जे० एस० मिल्, हर्बर्ट स्पेन्सर तथा कई अन्य समाजशास्त्रियों ने उनके इस वर्गीकरण की तीव्र आलोचना की थी। उनका कहना था कि मनोविज्ञान को समाजशास्त्र के ऊपर स्थान मिलना चाहिए। पर कितने ही ऐसे समाजशास्त्री भी हुए हैं जिन्होंने कौंत (कॉम्टे) के इस वर्गीकरण का समर्थन किया है और उनका कहना है कि कौंत (कॉम्टे) ने समाजशास्त्र को मनोविज्ञान से ऊपर स्थान देकर ठीक ही किया है, क्योंकि मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण समाजशास्त्र द्वारा किया जाना चाहिए, न कि समाजशास्त्रीय प्रक्रियाओं का विश्लेषण मनोविज्ञान द्वारा। कुछ भी हो इन मतभेदों के कारण कई नयी विचारधाराएँ उत्पन्न हो गयीं और जो समाजशास्त्री कौंत (कॉम्टे) के विचारों से सहमत थे उनकी जो समाजशास्त्र को प्राणीशास्त्र के तत्काल बाद रखने के पक्ष में थे उन्हें समाजशास्त्रीय स्कूल' के अनुयायी कहते हैं। दुर्खीम भी इन्हीं में से एक थे। यद्यपि इस स्कूल के अनुयायियों के चिन्तन का आधार समान रहा है, तथापि उनके विचारों ने अलग-अलग दिशाएँ ग्रहण कीं। अलग अलग विचार-पद्धतियों के कारण वे अलग अलग निष्कर्षों पर पहुँचे और इस तरह उन्होंने ऐसे अलग-अलग सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिनकी अलग अलग विशिष्टतायें तथा विशेषतायें रही हैं।

समाजशास्त्र और मनोविज्ञान

दुर्खीम ने मनोविज्ञान की अपेक्षा समाजशास्त्र को प्रमुखता प्रदान की है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि सामूहिक चेतना (Collective

consciousness)और वैयक्तिक चेतना (Individual consciousness) में बड़ा अन्तर होता है और उनका निर्माण करने वाले तत्व भी अलग अलग होते हैं। दुर्खीम के कथनानुसार समाजशास्त्र को मनोविज्ञान का पूरक या पर्याय (Corollary) मानना भी गलत है, क्योंकि सामाजिक जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक प्रश्न का उत्तर स्वयं सामाजिक ढाँचे में ढूँढना पड़ता है न कि मनोविज्ञान में। सामूहिक प्रतिनिधानों (Collective representations) का अस्तित्व व्यक्ति के बाहर होता है और वे उसके मस्तिष्क में विभिन्न नैतिक धार्मिक और तार्किक नियम के रूप में आते हैं। उनके पीछे एक सत्ता (Power) भी होती है जिसके कारण व्यक्ति को उन्हें मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। यही विशेषताएँ सामाजिक और विशुद्ध मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं में विभेद स्थापित करती हैं।

व्यक्ति और समाज

दुर्खीम का कहना है कि सामाजिक मस्तिष्क (चेतना) (Social mind) का अस्तित्व व्यक्तियों के बाहर और उनसे स्वतन्त्र होता है। उनके समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का यह पक्ष काफी विवादास्पद रहा है। पर उनके इस कथन में मत भेद की गुंजाइश नहीं है कि सामाजिक क्रिया प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं मे परिवर्तन आता है। यदि ये सामाजिक क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ (Social actions and reactions) न हों तो मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ बिलकुल भिन्न प्रकार की होंगी। इसी प्रकार उनका यह कहना बिलकुल सही है कि व्यक्तियों के अलग-अलग कार्य-कलापों में जो नियमितता होती है, सामाजिक प्रक्रियाओं में उस नियमितता की आशा नहीं की जा सकती। पर कुछ समाजशास्त्रियों ने उनके इस कथन को चुनौती दी है कि सामाजिक मस्तिष्क (Social mind) अथवा सामूहिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया (psychical phenomena) का अस्तित्व व्यक्तियों के मस्तिष्क के बाहर होता है और इस तरह समाज अपने सदस्यों से स्वतन्त्र होता है। टार्डे ने दुर्खीम की आलोचना करते हुए लिखा है कि "मेरे लिए यह समझ पाना कठिन है कि यदि व्यक्तियों को अलग कर दिया जाय तो समाज कैसे शेष बचेगा? यदि किसी विश्वविद्यालय से छात्रों और प्रोफ़ेसरों को अलग कर दिया जाय तो वह केवल नाम मात्र का विश्वविद्यालय रह जायगा। यह आलोचना तर्क-संगत प्रतीत होती है क्योंकि व्यक्तियों को अलग कर देने के बाद समाज के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। व्यक्तियों से ही मिलकर समाज बनता है, अतः

समाज की सफलता व्यक्तियों को ग्रसम करके नहीं की जा सकती। टार्डे की भाँति अनेक समाजशास्त्रियों ने दुर्खीम के समाजशास्त्र के इस अंग को अवैज्ञानिक कहा है।

सामाजिक प्रक्रियायें

दुर्खीम के इस कथन को भी अनेक समाजशास्त्रियों ने चुनौती दी है कि सामाजिक प्रक्रियाओं (Social phenomenas) के पीछे कोई-न-कोई ऐसी सत्ता होती है जो व्यक्तियों को उसे मानने के लिए बाध्य करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि केवल उन्हीं प्रक्रियाओं को सामाजिक प्रक्रिया की संज्ञा दी जा सकती है जिन्हें मानने के लिए व्यक्ति बाध्य हो। दुर्खीम ने इस प्रकार सामाजिक प्रक्रियाओं को अत्यन्त सीमित बना दिया है। टार्डे ने उनकी आलोचना करते हुए लिखा है कि यदि दुर्खीम के इस सिद्धान्त को मान लिया जाय तो केवल विजेता और विजित के सम्बन्धों को गुलाम बनाने वाले तथ्यों को और केवल उन प्रक्रियाओं को जिनमें जोर-जबरदस्ती निहित हो सामाजिक प्रक्रिया माना जा सकता है। उसका अर्थ यह भी होगा कि स्वतन्त्र सहयोग को सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए यदि व्यक्तियों का एक समूह स्वेच्छा से किसी नये धर्म को अपनाता है तो उसे सामाजिक प्रक्रिया नहीं माना जायेगा। इसी प्रकार स्वैच्छिक सम्बन्धों स्वैच्छिक पर स्पर-सहायता व सहयोग (Free mutual aid and co-operation) तथा स्वैच्छिक एकता (Free solidarity) को सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत नहीं माना जायेगा। टार्डे का कहना है कि दुर्खीम का यह कथन सही नहीं है कि केवल वही प्रक्रियाएं सामाजिक प्रक्रियाएं मानी जा सकती हैं जिन्हें मानने के लिए व्यक्ति बाध्य हों क्योंकि सामाजिक प्रक्रियाओं का आधार जोर-जबर दस्ती (Compulsion) के अलावा स्वेच्छा व सहयोग भी हो सकता है।

अध्याय ३

आधारभूत मान्यताएँ

बहुत से समाजशास्त्री यह मानकर चले हैं कि समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक प्रक्रिया की उपयोगिता सिद्ध करना है। अतः उन्होंने यह पता लगाने की कोशिश की है कि कौनसा सामाजिक तत्त्व समाज में क्या भूमिका अदा करता है। उनके तर्क इस तरह के होते हैं मानो सामाजिक तथ्यों का अस्तित्व इन्हीं भूमिकाओं को अदा करने के लिए हो। फलतः वे यह समझ बैठे कि यह पता लगा लेने से ही उनका काम पूरा हो गया कि किस सामाजिक तथ्य अथवा सामाजिक प्रक्रिया द्वारा किस सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति होती है।

कौंत से मतभेद

कौंत (कॉम्टे) भी उन समाजशास्त्रियों में से थे जिन्होंने सामाजिक तथ्यों और सामाजिक प्रक्रियाओं की उपयोगिताओं पर जोर दिया है। उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि मानव-समाज के समस्त प्रगतिशील तत्त्वों की बुनियादी रुझान इस बात की ओर रही है कि मनुष्य अपनी स्थिति को बराबर बेहतर बनाता जाए। स्पेन्सर का भी कहना है कि मनुष्य ने अधिकाधिक सुख प्राप्त करने के लिए ही निरन्तर प्रयास किया है। उनका कहना है कि समाज का निर्माण भी इसीलिए हुआ कि उससे मनुष्य को लाभ पहुँचते हैं। उन्होंने इसी तरह सरकार और सेना आदि की भी उपयोगिता पर जोर दिया है। पर दुर्खीम कौंत और स्पेन्सर के इस उपयोगितावादी सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं और उन्होंने उसकी कड़ी आलोचना की है।

सामाजिक तथ्य

दुर्खीम का कहना है कि सामाजिक तथ्यों (Social facts) की उपयोगिता बता देने से ही यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उनकी उत्पत्ति कैसे हुई, क्यों हुई, और वे क्या हैं? तथ्यों की उपयोगिता उनके किन्हीं विशिष्ट गुणों के कारण होती है। पर वे हमारी जिन आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं उन आवश्यकताओं

के कारण उनकी उत्पत्ति नहीं होती। उनकी उत्पत्ति के कारण कुछ और ही होते हैं। उनके विशेष गुणों के कारण हम उनका उपयोग कर सकते हैं लेकिन हम उस चीज के अस्तित्व के बिना उसके उन गुणों की उत्पत्ति नहीं कर सकते। यह बात जिस तरह के भौतिक तथ्यों और मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर लागू होती है, उसी तरह यह समाजशास्त्र में सामाजिक तथ्यों पर भी लागू होती है। चूंकि आम तौर पर हम यह देखते हैं कि सामाजिक तथ्य की उत्पत्ति मानसिक प्रयास द्वारा होती है अतः हमें ऐसा लगता है कि हम जब चाहें तब उनकी उत्पत्ति कर सकते हैं। पर यह समझ बैठना गलत है। चूंकि प्रत्येक सामाजिक तथ्य स्वयं में एक शक्ति होती है चूंकि यह व्यक्ति की अपेक्षा ज्यादा ताकतवर और प्रभावशाली होता है और चूंकि उसका पृथक अस्तित्व होता है, यानी उसका अस्तित्व व्यक्ति से बाहर होता है अतः यह समझ बैठना गलत है कि व्यक्ति जब चाहे तब उसकी उत्पत्ति कर सकता है। किसी भी शक्ति की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक उसे उत्पन्न करने वाली दूसरी शक्ति मौजूद न हो। यदि कोई परिवार छिन्न-भिन्न हो रहा हो और उसकी एकता नष्ट हो चुकी हो तो उस परिवार में फिर से एकता लाने के लिए यह पर्याप्त नहीं है कि परिवार के सब लोग एकता के लाभ को समझते हों। इसी तरह सरकार की आवश्यकता महसूस करने से ही किसी भी सरकार को वह सत्ता प्राप्त नहीं हो पाती जो सरकार के अस्तित्व के लिए आवश्यक होती है। उसके लिए परम्पराओं (Traditions) और समान भावना आदि की आवश्यकता पड़ेगी क्योंकि उनके द्वारा ही इस सरकार को आवश्यक सत्ता प्राप्त हो सकती है।

सामाजिक तथ्य और उपयोगितावादी सिद्धान्त

सामाजिक तथ्यों-सम्बन्धी उपयोगितावादी सिद्धान्तों (Utilitarian theories) का खण्डन करते हुए दुर्खीम ने लिखा है कि ऐसे तथ्य भी हो सकते हैं जिनकी कोई उपयोगिता न हो अथवा जिनके उपयोग की कभी कोशिश न की गई हो या जो किसी जमाने में उपयोगी रहे हों और अब अपनी उपयोगिता नष्ट कर चुकने के बाद भी महज लोगों की आदतों के कारण मौजूद हों। इस तरह के बहुत से तथ्य समाज में मौजूद हैं। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब कि किसी प्रचलन (Convention or practice) अथवा सामाजिक संस्था (Social institution) का स्वरूप तो न बदला हो लेकिन उसके कार्य-कलाप (functions) बदल गए हों। उदाहरण के लिए जो कानून किसी समय में पिता के सम्पत्ति-अधिकारों की रक्षा करते थे आज वे ही कानून सन्तानों के

सम्पत्ति-अधिकारों की रक्षा करते हैं। अदालतों में पहले शपथ इसलिए दिलाई जाती थी ताकि शपथ खाने वाला व्यक्ति जो कुछ कहे वह सच कहे लेकिन आज यह रिवाज केवल रस्म अदायगी के रूप में है। इसी प्रकार अनेक धर्मों में कही गयी बातें आज भी वही-की-वही हैं, लेकिन हमारे आधुनिक समाज में वे वह भूमिकाएं अदा नहीं करतीं जो भूमिकाएँ वे मध्य-युग (Middle ages) में अदा करती थीं। उनका स्वरूप तो ज्यों-का-त्यों है पर उनकी भूमिकाएँ बदल गयी हैं। इसी तरह शब्दों के अर्थ भी बदलते रहे हैं। समाजशास्त्र में सामाजिक तथ्यों के बारे में भी यही बात लागू होती है। सामाजिक तथ्यों का अस्तित्व उन कार्य-कलापों उपयोगिताओं और भूमिकाओं से पृथक तथा स्वतन्त्र होता है जो वे समाज में अदा करते हैं। इस प्रकार सामाजिक तथ्यों का अस्तित्व उन उद्देश्यों से स्वतन्त्र (Independent) होता है जिनकी वे पूर्ति करते हैं।

सामाजिक विकास

दुर्खीम का कहना है कि सामाजिक तथ्यों और प्रक्रियाओं के स्वतन्त्र अस्तित्व का अर्थ यह कदापि नहीं है कि मनुष्य की इच्छाएं, भावनाएं और आवश्यकताएँ सामाजिक विकास में सक्रिय रूप से सहायक अथवा बाधक नहीं बनतीं। वास्तविकता यह है कि मनुष्य सामाजिक विकास में सहायक भी बन सकता है और बाधक भी। यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है। मनुष्य शून्य (Vacuum) से किसी सामाजिक तथ्य या प्रक्रिया की उत्पत्ति तो नहीं कर सकता लेकिन वह सामाजिक तथ्यों और प्रक्रियाओं को प्रभावित अवश्य कर सकता है, अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं के अनुसार उनमें हस्तक्षेप अवश्य कर सकता है। उसके इस सक्रिय हस्तक्षेप के फलस्वरूप कोई नई प्रक्रिया भी जन्म ले सकती है।

मानव-आवश्यकताओं का प्रभाव

दुर्खीम का कहना है कि श्रम के विभाजन (Division of labour) ने मानव-विकास में सहायता पहुँचाई है लेकिन श्रम का विभाजन इसलिए शुरू नहीं हुआ कि मनुष्य ने उसकी आवश्यकता महसूस की। पहले वे परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिनके फलस्वरूप श्रम-विभाजन प्रारम्भ हुआ और श्रम विभाजन प्रारम्भ हो जाने के बाद ही मनुष्य उसकी उपयोगिता को देख सका और उसकी आवश्यकता को महसूस कर सका। जब मनुष्य श्रम-विभाजन की आवश्यकताओं को महसूस करने लगा तो उससे श्रम-विभाजन के विकास में मदद मिली। इस

प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य की आवश्यकताएँ सामाजिक विकास को प्रभावित कर सकती हैं लेकिन इन आवश्यकताओं को बाह्य परिस्थितियाँ जन्म देती हैं और उन परिस्थितियों को पैदा करने वाला कारण मोद्देश्य नहीं होते।

दुर्खीम का कहना है कि परिस्थितियाँ समान होने पर भी सभी व्यक्तियों की आवश्यकताएँ और इच्छाएँ समान नहीं होतीं। लोग अपनी इन इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने-अपने स्वभाव के अनुसार अलग-अलग रास्ता अपनाते हैं। कोई व्यक्ति परिस्थितियाँ बदलकर उन्हें अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है तो कोई व्यक्ति अपने को बदलकर परिस्थितियों के अनुकूल बनने की कोशिश करता है। एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भी लोग अलग अलग मार्ग अपनाते हैं। अलग-अलग लोगों के सामाजिक जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ भी अलग अलग होती हैं। पर समान परिस्थितियों में एक-जैसी सामाजिक प्रक्रिया ने ही जन्म लिया है। यही कारण है कि अलग-अलग स्थानों पर रहने वाले लोगों में हमें बहुत से ऐसे रीति-रिवाज दिखाई पड़ते हैं जो बुनियादी रूप से समान हैं।

सामाजिक प्रक्रिया के कारण

दुर्खीम का कहना है कि जब हम किसी सामाजिक प्रक्रिया का अध्ययन करते हैं तो हमें उसे उत्पन्न करने वाले कारणों तथा उसकी उपयोगिता का अध्ययन अलग-अलग करना चाहिए। यहाँ पर उपयोगिता से तात्पर्य है वह काम जिसे कि कोई सामाजिक प्रक्रिया पूरा करती है। सामाजिक प्रक्रिया का अस्तित्व उसकी उपयोगिता के कारण नहीं होता। अतः यह खोज करने की जरूरत रहती है कि जिस सामाजिक तथ्य का हम अध्ययन कर रहे हैं उसका समाज की सामान्य आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध है या नहीं। पहले हमें इस बात की खोज करनी चाहिए कि अमुक सामाजिक प्रक्रिया को किन कारणों ने जन्म दिया और उसके बाद उस सामाजिक प्रक्रिया की उपयोगिता की खोज करनी चाहिए। पहले प्रश्न का उत्तर मिल जाने पर दूसरे प्रश्न का उत्तर मिलना आसान हो जाएगा। उदाहरण के लिए, जुर्मों के लिए दी जाने वाली सजाएँ एक प्रकार की सामाजिक प्रक्रिया है। दण्ड की व्यवस्था इसलिए की गयी है कि जुर्मों से सामूहिक भावनाओं को आघात पहुँचता है लेकिन यदि एक दूसरी दृष्टि से देखें तो दण्ड विधान सामूहिक भावनाओं की मात्रा को कायम रखने का भी काम करता है क्योंकि यदि दण्ड की व्यवस्था न हो तो जुर्मों के प्रति ये सामूहिक भावनाएँ कम होने लगेंगी। यद्यपि किसी भी सामाजिक तथ्य का

अस्तित्व उसकी उपयोगिता के कारण नहीं होता, तथापि वह कायम तभी रह सकता है जब वह उपयोगी हो। अतः किसी भी सामाजिक तथ्य का विवेचन प्रस्तुत करने के लिए केवल यह बता देना पर्याप्त नहीं है कि उसकी उत्पत्ति किन कारणों से हुई, बल्कि उसके साथ-साथ यह भी बताना पड़ेगा कि सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने में वह सामाजिक तथ्य कौनसी भूमिका अदा करता है

अध्याय ४

श्रम विभाजन

जैसा कि हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं दुर्खीम की यह मान्यता है कि सामाजिक प्रक्रिया का अस्तित्व मनुष्य की इच्छाओं तथा आवश्यकताओं से स्वतन्त्र है। जो सामाजिक प्रक्रियाएँ उपयोगी होती हैं आम तौर से वे ही कायम रह पाती हैं। पर सामाजिक प्रक्रियाओं तथा सामाजिक तथ्यों की उत्पत्ति उपयोगिता के कारण नहीं होती। यही सिद्धान्त श्रम-विभाजन पर भी लागू होता है।

श्रम विभाजन का प्रारम्भ

दुर्खीम का कहना है कि मनुष्य जैसे-जैसे प्रगति करता जाता है वैसे वैसे श्रम विभाजन के विकास की आवश्यकता बढ़ती जाती है, ताकि मनुष्य नवीन परिस्थितियों में अपने को कायम रख सके। यहाँ मनुष्य की अपने को कायम रखने की प्रवृत्ति महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, लेकिन यह समझना गलत होगा कि केवल इस प्रवृत्ति के कारण श्रम-विभाजन का प्रारम्भ हुआ और अलग अलग तरह के काम धन्धों में वैयक्तिक विशेषीकरण (Specialisation) की प्रक्रिया आरम्भ हुई। यदि वे परिस्थितियाँ पहले से उत्पन्न न हो चुकी होतीं जिन पर श्रम-विभाजन आधारित है, तो मनुष्य की यह प्रवृत्ति उपर्युक्त भूमिका अदा न कर पाती। श्रम-विभाजन के प्रारम्भ के लिये उपयुक्त परिस्थितियाँ सामूहिक चेतना और वंशानुगत प्रभावों के विघटन के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थीं। जब श्रम-विभाजन की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी तो मनुष्य ने उसकी उपयोगिता को देखा और उसकी आवश्यकता को महसूस किया। व्यक्तियों में विभेद जैसे-जैसे बढ़ता गया वैसे-वैसे उनकी रुचियों और इच्छाओं में भी अन्तर आता गया। इसके बाद मनुष्य के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपने को कायम रखने के लिए विशेषीकरण (Specialisation) का विकास करे। इस प्रकार मनुष्य की अपने अस्तित्व को कायम रखने की प्रवृत्ति श्रम-विभाजन के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकी।

विशेषीकरण का विकास

दुर्खीम का कहना है कि जैसे-जैसे समाज का विकास होता गया वैसे-वैसे विशेषीकरण और श्रम-विभाजन का भी विकास हुआ क्योंकि जैसे-जैसे समाजों का घनत्व बढ़ता गया वैसे-वैसे जीवन के लिये संघर्ष भी बढ़ता गया और उन व्यक्तियों के लिये अपने को जीवित रखना उत्तरोत्तर कठिन होता गया, जिन्होंने किसी काम में विशेष दक्षता हासिल न की हो यानी जिन्होंने विशेषीकरण की प्रक्रिया न अपनाई हो। फलतः नई परिस्थितियों ने मनुष्यों को अपने जीवन के तौर-तरीके बदलने के लिये विवश कर दिया। श्रम-विभाजन के विकास में इस बात से भी मदद मिली कि व्यक्ति के लिये अपने अस्तित्व को कायम रखने हेतु सरलतम यही था कि वह इस प्रक्रिया का विरोध न करे और उसे समय की आवश्यकता मानकर स्वीकार कर ले। जो व्यक्ति या जन-समूह श्रम-विभाजन को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे उनके समक्ष दूसरा रास्ता ही क्या था? वे अपने देश को छोड़कर कहीं और जाकर बस सकते थे आत्महत्या कर सकते थे या जुर्मों का रास्ता अपना सकते थे। पर औसत व्यक्ति में अपने जीवन तथा देश के प्रति इतना मोह होता है और अपने साथियों के साथ वह भावनात्मक रूप से ऐसा बँधा होता है कि उसके ये बन्धन उसकी उन भावनाओं से ज्यादा बलशाली होते हैं जो उसे विशेषीकरण का मार्ग अपनाने के लिये प्रेरित करती हों।

श्रम विभाजन-सम्बन्धी आधारभूत मान्यतायें

दुर्खीम ने श्रम-विभाजन-सम्बन्धी अपने विचारों और विश्लेषणों को 'समाज में श्रम-विभाजन' नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में उन्होंने वास्तव में सामाजिक सुदृढ़ता (Social solidarity)-सम्बन्धी अध्ययन प्रस्तुत किया है और इस दृष्टि से इस पुस्तक का नाम भ्रामक है।

दुर्खीम ने अपनी इस पुस्तक में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं उसके आधारभूत तत्त्व हमें प्लाटो अरस्तू, कोमेनियस डब्लू० पेट्टी फरगुसन अदम स्मिथ सेन्ट साइमन कौंत (कोम्टे) स्पेन्सर, जे० एस० मिल, एच सी० कैरे तथा कई अन्य अर्थशास्त्रियों व दार्शनिकों की कृतियों में देखने को मिलते हैं। दुर्खीम से छः वर्ष पूर्व फर्डिनान्ड टोनीज और तीन वर्ष पूर्व जॉर्ज सीमेल ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे वे करीब-करीब वैसे ही हैं जैसे कि दुर्खीम के सिद्धान्त। फिर भी दुर्खीम की यह कृति मौलिकता से वंचित नहीं है क्योंकि उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को विकसित किया है और नये तथ्यों की खोज करके उनका समावेश किया है।

श्रम विभाजन एक परिवर्तनकारी तत्त्व

दुर्खीम ने इस पुस्तक के प्रथम भाग में यह विवेचन प्रस्तुत किया है कि श्रम-विभाजन का अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं के साथ क्या सम्बन्ध है और वह उन्हें किस तरह प्रभावित करता है। उन्होंने श्रम-विभाजन को एक ऐसा सामाजिक तथ्य कहा है जो परिवर्तनकारी (Variable) है। अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं को उन्होंने प्रभावों (Effects) अथवा कार्य-कलापों (Functions) की संज्ञा दी है। फिर उन्होंने अपने विश्लेषणों द्वारा यह बताया है कि इस परिवर्तनकारी तत्त्व में परिवर्तन आने से सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार उन्होंने यह बताया है कि श्रम-विभाजन की विभिन्न अवस्थाओं अथवा उसके विभिन्न स्वरूपों ने एक सामाजिक तथ्य के रूप में सामाजिक जीवन और मनोविज्ञान के विभिन्न पक्षों (Aspects) पर क्या असर डाला है।

श्रम विभाजन का प्रभाव

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को श्रम विभाजन ने किस रूप में प्रभावित किया है इसका विश्लेषण करके दुर्खीम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचे —

(१) मानव-व्यवहार और मनोविज्ञान—श्रम-विभाजन से पूर्व व्यक्तियों में मानसिक नैतिक और सामाजिक समरूपता (Homogeneity) थी। उनके विश्वास उनकी मान्यताएँ, उनके मत आचरण और तौर-तरीके एक-जैसे थे। व्यक्तियों में विभेद केवल वंशानुगत था। व्यक्तिवादिता (Individualism) का अभाव था और परम्पराएँ प्रभावशाली होती थीं। श्रम-विभाजन के फलस्वरूप व्यक्तियों की मानसिक व नैतिक समरूपताएँ नष्ट होती गईं। उनमें व्यक्तिवादिता बढ़ती गयी। जैसे-जैसे श्रम-विभाजन की प्रक्रिया विकसित होती गई, वैसे-वैसे लोगों की रुचियों धारणाओं विश्वासों और नैतिक मान्यताओं की समरूपताएँ नष्ट होती गई। विशेषीकरण के कारण परम्पराओं के प्रभावों में कमी आई और वंश-परम्पराओं का महत्त्व घटता गया जिससे जातीयता की दीवारें टूटने लगी और वंशानुगत पेशे अपनाने की परम्पराएँ भी कमजोर पड़ गई।

(२) कानून नैतिकता और सामाजिक नियन्त्रण—श्रम-विभाजन से पूर्व सामाजिक चेतना में समरूपता थी। जुर्मों से सामाजिक चेतना (Social conscience) को आघात पहुँचता था इसलिये उनका कड़ाई के साथ दमन किया जाता था। न्याय का मुख्य उद्देश्य जुर्म करने वाले अथवा दूसरों को नुकसान पहुँचाने वालों का दमन करना होता था और इस तरह के नियमों तथा

कानूनों को समाज का नैतिक समर्थन प्राप्त होता था। पर श्रम विभाजन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकने के बाद सामाजिक चेतना (Social conscience) की सम रूपता (homogeneity) कम होने लगी। अब जुर्मों से सामाजिक चेतना को पहले जितना गहरा आघात नहीं पहुँचता था। इन जुर्मों (Crimes) को पूरे समाज के लिये हानिकारक मानने की अपेक्षा समाज के केवल कुछ सदस्यों के लिये हानिकारक माना जाने लगा। फलतः कानूनों का दमनकारी (Repressive) स्वरूप बदलने लगा। सजाओं की मात्रा भी कम होने लगी क्योंकि अब समूह की नैतिक चेतना को सुदृढ़ बनाये रखने के लिये (reinforcement of moral conscience of the group) उसकी उतनी आवश्यकता नहीं रह गई। अतः जुर्म करने वाले से केवल क्षतिपूर्ति (Restoration) की अपेक्षा की जाने लगी। सामाजिक नियंत्रण उत्तरोत्तर ढीला पड़ने लगा। आचरण-सम्बन्धी-नियमों के क्षेत्र संकुचित होने लगे। वैयक्तिक स्वतन्त्रता से वृद्धि हुई और स्वैच्छिक सम्बन्धों (contractual relationship) को कानूनी व सामाजिक मान्यता मिली।

(३) सामाजिक सुदृढ़ता और सामाजिक बन्धन (Social solidarity and socialities)—श्रम-विभाजन से पूर्व सामाजिक सुदृढ़ता यन्त्रवत् (mechanistic) थी क्योंकि वह व्यक्तियों की समरूपता (homogeneity of the individuals) पर आधारित थी। व्यक्तियों के मानसिक और नैतिक समरूपता पर आधारित जनमत के प्रभावशाली होने के कारण व्यक्ति एकसूत्रता (Solidarity) के बन्धन से बंधे रहते थे। पर श्रम विभाजन ने व्यक्तियों की नैतिक और मानसिक समरूपता (Moral and mental homogeneity) नष्ट कर दी अतः अब वह सामाजिक एकसूत्रता (Social solidarity) कायम रखने की भूमिका अदा करने की स्थिति में नहीं रह गई। यदि नये बन्धन न होते तो समूहों की एकता पूर्णतः नष्ट हो चुकी होती। श्रम विभाजन स्वयं एक नया बन्धन बन गया। अब समूहगत एकता का आधार आत्म-निर्भरता (Self sufficiency) के स्थान पर श्रम विभाजन हो गया। अब व्यक्ति एक-दूसरे की आवश्यकता महसूस करने लगे। चूँकि दूसरों के सहयोग के बगैर किसी भी व्यक्ति का अस्तित्व सम्भव नहीं रह गया फलतः समाज की सुदृढ़ता संघटनात्मक (Organic) सुदृढ़ता में परिवर्तित हो गई।

(४) राजनीतिक शासन—श्रम-विभाजन से पूर्व सभी महत्वपूर्ण सामाजिक मामलों में निर्णय पूरे समूह द्वारा ग्राम सभाओं में लिये जाते थे और कानून भी इसी तरह बनते थे। लेकिन श्रम-विभाजन के फलस्वरूप राजनीतिक कार्य-कलापों का भी विशेषीकरण शुरू हो गया। वंशानुगत राजनीतिक सत्ता

मुक्त होने लगी और सरकार तथा नागरिकों के सम्बन्ध कान्ट्रैक्ट के रूप में होने लगे।

(५) आर्थिक संगठन—श्रम-विभाजन से पूर्व सम्पत्ति पर पूरे समूह का अधिकार होता था लेकिन श्रम विभाजन ने वैयक्तिक सम्पत्ति (Private property) को जन्म दिया। फलतः आर्थिक व्यक्तिवादिता का विकास हुआ और ऐसी आर्थिक व्यवस्था की उत्पत्ति हुई, जिसमें व्यक्ति कोई भी धन्धा अपना सकता है। वंशानुगत सामाजिक पेशों का ह्रास होने के फलस्वरूप वंशानुगत विशेष योग्यताएँ भी कम होती गईं।

(६) धर्म और विश्वास—श्रम विभाजन से पूर्व मनुष्य निर्गुण देवी-देवताओं में आस्था रखता था और देव प्रायः स्थानिक तथा जातिगत होता था। श्रम-विभाजन के फलस्वरूप व्यक्तिवादिता का विकास होने के कारण सगुण देवी-देवताओं की परिकल्पना सम्भव हुई और सार्वदेशिक धर्मों का उदय हुआ।

श्रम-विभाजन के विकास के कारण

दुर्खीम ने अपनी इस पुस्तक के द्वितीय भाग में इस बात पर प्रकाश डाला है कि श्रम-विभाजन का विकास किन कारणों से हुआ। उन्होंने इस प्रश्न का उत्तर बहुत विस्तार से तो नहीं दिया है लेकिन यह प्रत्यक्ष है कि उनका उत्तर प्रभावशाली है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि यह समझना गलत है कि श्रम-विभाजन का विकास सुखी जीवन के लिए मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के फलस्वरूप हुआ। उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि यह मानने का कोई आधार नहीं है कि श्रम-विभाजन के विकास के साथ-साथ सुख की अभिवृद्धि हुई है। इसके विपरीत वास्तविकता यह है कि एक ओर तो आदिकाल में मनुष्य ज्यादा सुखी और सन्तुष्ट था लेकिन दूसरी ओर वर्तमान समाजों में जिनमें कि श्रम विभाजन विकसित अवस्था में है आत्म-हत्याओं और स्नायु-दुर्बलता की घटनाएँ अधिक होती हैं तथा असन्तोष अधिक देखने को मिलता है। इससे स्पष्ट है कि श्रम-विभाजन के विकास से सुख में वृद्धि नहीं हुई है बल्कि कमी हुई है। उनका कहना है कि सामाजिक विभेदीकरण तथा श्रम-विभाजन में उत्तरोत्तर वृद्धि के कारणों पर इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से प्रकाश नहीं पड़ता है। उसके कारणों की खोज तो हमें स्वयं सामाजिक परिस्थितियों में करनी पड़ेगी। उनका कहना है कि सामाजिक विभेद के प्रमुख कारणों में से एक है जनसंख्या और उसके घनत्व में वृद्धि। जनसंख्या और उसके घनत्व में वृद्धि के फलस्वरूप जीवन के लिए ज्यादा तीव्र संघर्ष करना पड़ता है। यदि उस हालत में समाज

ा है तो उसमें एकसूत्रता और एकता की भावना बढ़ जाती है।
तो क्या आत्महत्या का अनुपात इस बात पर निर्भर करता है कि किस जगह
धार्मिक समुदाय की जनसंख्या कम या अधिक है ? दुर्खीम का कहना है कि
संख्या की स्थिति आत्महत्या की दर को प्रभावित अवश्य करती है, लेकिन
मूल निर्णायक तत्त्व नहीं है। अपने इस निष्कर्ष को प्रमाणित करने के लिए
ने बताया है कि जिन स्थानों में कैथोलिक अल्पसंख्या में हैं वहाँ भी यहूदियों
अपेक्षा उनमें आत्महत्या का अनुपात अधिक है। इसी तरह कैथोलिकों और
स्टेन्टों का तुलनात्मक अध्ययन यह प्रकट करता है कि प्रोटेस्टेन्टों में आत्महत्या
अनुपात अधिक रहा है। दुर्खीम के काल में उत्तरी सिलिसिया और उत्तरी
ारिया में प्रोटेस्टेन्टों की संख्या बहुत ही कम रही है। फिर भी उनमें आत्म
ाओं का अनुपात अधिक रहा है। इससे यह प्रकट होता है कि यद्यपि किसी
ंक समुदाय के अल्पमत में होने का प्रभाव आत्महत्या के अनुपात पर पड़ता
ौर यह उसे कम कर देता है, तथापि इस बात को आत्महत्या के प्रति रुझान
निर्णायक तत्त्व नहीं माना जा सकता।

धर्म और आत्महत्या

प्रश्न यह उठता है कि यदि अल्पसंख्या आत्महत्या का निर्णायक तत्त्व नहीं है
क्या यह निर्णायक तत्त्व धर्म है ? जहाँ तक धार्मिक विचारों का सम्बन्ध है,
ोलिक और प्रोटेस्टेन्ट दोनों ही धर्मों में आत्महत्या की मनाही है और उसकी
र निन्दा की गई है। केवल यही नहीं इन दोनों ही धर्मों में यह कहा गया है
मनुष्य को मृत्यु के बाद उसके कुकर्मों का फल भुगतना पड़ता है। इन दोनों
धर्मों में आत्महत्या का निषेध ईश्वरीय आदेश के रूप में है। जब दोनों ही
ों में समान रूप से आत्महत्या का निषेध है तो क्या कारण है कि प्रोटेस्टेन्टों
आत्महत्या के प्रति अधिक रुझान पायी जाती है ? यदि इन धर्मों की तुलना
ूदी धर्म से करें तो हम देखेंगे कि यहूदी धर्म के मूल ग्रन्थों में आत्महत्या का
ेध नहीं है। इस धर्म में अमरत्व की धारणा को भी कोई खास महत्त्व नहीं
ा गया है। पुरानी बाइबिल में इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है कि
ुष्य को आत्महत्या नहीं करनी चाहिए और उसमें पुनर्जन्म के सम्बन्ध में भी
पष्ट विचार व्यक्त नहीं किये गये हैं। अतः यदि धार्मिक उपदेश निर्णायक तत्त्व
ते तो यहूदियों में आत्महत्या का अनुपात कैथोलिकों और प्रोटेस्टेन्टों की अपेक्षा
धिक होना चाहिए था पर ऐसा नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि धार्मिक
ग अथवा धार्मिक आदेश आत्महत्या की रुझान के निर्णायक तत्त्व नहीं होते।

धार्मिक एकसूत्रता और आत्महत्या

इसके बाद दुर्खीम ने यह पता लगाने की कोशिश की है कि धार्मिक एक-सूत्रता का आत्महत्या की रुझान पर क्या प्रभाव पड़ता है ? कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट धर्मों की तुलना करते हुए उन्होंने कहा है कि उनमें बुनियादी अन्तर केवल यह है कि कैथोलिक धर्म की अपेक्षा प्रोटेस्टेण्ट धर्म में विचार-स्वातन्त्र्य की छूट अधिक है। यद्यपि कैथोलिक धर्म में प्रत्येक बात को समझाने के लिए तर्क का सहारा लिया गया है तथापि कैथोलिक अपने धार्मिक उपदेशों को बिना कोई प्रश्न उठाए मान लेते हैं। वे उसका परीक्षण नहीं करते। वे परम्परा वादी होते हैं और उनका चर्च (Church) बहुत ही सुसंगठित है। सभी जगह उनके पादरियों की आनुपातिक संख्या अधिक होती है। उनकी धार्मिक सत्ता सम्बन्धी व्यवस्था भी बहुत पुष्ट है और पादरी परम्पराओं की रक्षा के प्रति सतर्क और जागरूक रहते हैं। अतः कैथोलिकों में धार्मिक एकसूत्रता (Solidarity) अधिक है।

जहाँ तक प्रोटेस्टेण्टों का सम्बन्ध है उनमें कैथोलिकों-जैसी धार्मिक एक-सूत्रता नहीं है। प्रोटेस्टेण्ट को धार्मिक मामलों में भी विचार-स्वातन्त्र्य की बहुत छूट मिली हुई है। उसके हाथ में बाइबल दे दी जाती है, लेकिन उस पर कोई भी व्याख्या लादने की कोशिश नहीं की जाती। वह बाइबल में दिये गए उपदेशों की व्याख्या अपनी समझ और अपने दृष्टिकोण के अनुसार कर सकता है। अतः उनमें धार्मिक व्यक्तिवादिता पाई जाती है यानी धर्म के प्रति अलग अलग व्यक्तियों का अलग-अलग दृष्टिकोण होता है और धार्मिक उपदेशों की उनकी अपनी-अपनी व्याख्या होती है। ब्रिटेन के अलावा अन्य प्रोटेस्टेण्ट देशों में धार्मिक सत्ता की सुसंगठित व्यवस्था का अभाव है। धार्मिक उपदेशों की व्याख्या के लिए पादरियों को बड़े पादरी के आदेश पर निर्भर नहीं करना पड़ता बल्कि उसे भी इस धर्म के अन्य अनुयायियों की भाँति अपनी अन्तरात्मा पर निर्भर करना पड़ता है। पादरी को धर्म-सम्बन्धी ज्ञान अधिक प्राप्त होता है, लेकिन उसे ऐसी कोई विशेष सत्ता प्राप्त नहीं होती जिससे वह अपनी व्याख्याओं को दूसरों पर लाद सके। इस धार्मिक विचार-स्वातन्त्र्य का परिणाम यह रहा है कि प्रोटेस्टेण्टों में धार्मिक एकसूत्रता कैथोलिकों की अपेक्षा कम है और यही कारण है कि उनमें कैथोलिकों की अपेक्षा आत्महत्या का अनुपात अधिक है।

प्रोटेस्टेण्ट देशों में केवल इंगलैण्ड ही एक ऐसा देश है जहाँ आत्महत्या के प्रति रुझान बहुत कम पायी जाती है। यद्यपि इंगलैण्ड वैयक्तिक विचार स्वातन्त्र्य के लिए प्रसिद्ध है, तथापि वहाँ जर्मनी इंगलैण्ड डेनमार्क स्विटजरलैण्ड और

हंगरी आदि देशों की अपेक्षा उन विश्वासों और रिवाजों की संख्या अधिक है जिन्हें मानना सबके लिए अनिवार्य है और जिनके औचित्य के बारे में व्यक्तियों द्वारा सन्देह प्रगट नहीं किया जा सकता। वहाँ कुछ ऐसे कानून भी मौजूद हैं जिनसे धार्मिक एकसूत्रता को बल पहुँचता है और विचार-स्वातन्त्र्य के दायरे में कमी आती है। उदाहरण के लिए, वहाँ बाइबल के किसी भी पात्र को रंगमंच पर अभिनीत नहीं किया जा सकता। इंगलैण्ड के लोग धर्म के मामले में भी बहुत परम्परावादी हैं और यह परम्परावादिता व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को सीमित कर देती है। इंगलैण्ड का चर्च भी अन्य प्रोटेस्टेण्ट चर्चों की अपेक्षा ज्यादा सुसंगठित है। वहाँ अन्य प्रोटेस्टेण्ट देशों की अपेक्षा पादरियों की संख्या अधिक है और धार्मिक सत्ता की व्यवस्था सुदृढ़ है। फलतः उनमें अन्य प्रोटेस्टेण्ट देशों की अपेक्षा धार्मिक एकसूत्रता अधिक है और इस कारण उनमें आत्महत्याओं का अनुपात कम है।

जहाँ तक यहूदियों का सम्बन्ध है उनमें धार्मिक एकसूत्रता कैथोलिकों और प्रोटेस्टेण्टों, दोनों की अपेक्षा अधिक है। चूँकि कुछ वर्ष पूर्व तक सभी स्थानों में वे अल्पमत में रहे हैं और उनकी संख्या बहुत ही कम रही है अतः उनमें एकसूत्रता की भावना ज्यादा विकसित हो सकी। ईसाई देशों में शेष आबादी द्वारा निरन्तर विरोध होने के कारण उन्हें बिलकुल अलग-अलग रहना पड़ता था। इससे उनमें परस्पर सम्पर्क और एकता अधिक मात्रा में रही। ईसाइयों के विरोध के कारण यहूदी धर्म को ज्यादा सुसंगठित बनना पड़ा। अन्य लोगों से अलग अलग रहने के कारण उनमें परम्परावादिता का भी विकास हुआ और उनका विचार-स्वातन्त्र्य का दायरा अत्यन्त सीमित रहा। इस सबके फलस्वरूप उनमें धार्मिक एकसूत्रता अधिक रही और उसके कारण आत्महत्या का अनुपात बहुत कम रहा है।

पारिवारिक और राजनीतिक एकसूत्रता

दुर्खीम का कहना है कि जिस प्रकार धार्मिक एकसूत्रता आत्महत्या की रुझान को प्रभावित करती है, ठीक उसी तरह पारिवारिक और राजनीतिक एकसूत्रता भी आत्महत्याओं की रुझान को प्रभावित करती है। जहाँ पारिवारिक और राजनीतिक समाज सुदृढ़ होता है, वहाँ वह व्यक्तियों की भावनाओं को वैसे ही प्रभावित करता है जैसे कि धर्म। पारिवारिक और राजनीतिक एकसूत्रता में कमी आने का प्रभाव भी वही पड़ता है जो धार्मिक एकसूत्रता में कमी आने का। फलतः आत्महत्या की रुझान धार्मिक पारिवारिक और राजनीतिक समाजों

की एकसूत्रता पर निर्भर करती है। जिस समाज में ये एकसूत्रताएं (Solidarities) जितनी अधिक होती हैं उस समाज में आत्महत्याओं का अनुपात उतना ही कम होता है, और जिस समाज में ये एकसूत्रताएं जितनी कम होती हैं, उस समाज में आत्महत्या के प्रति रुझान उतनी ही अधिक होती है।

अध्याय ६

आत्महत्या के प्रकार और कारण

जैसा कि हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं दुर्खीम ने आत्महत्या और उसके कारणों की खोज समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से की है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आत्महत्याओं का कारण सामाजिक होता है। उन्होंने आत्महत्याओं का वर्गीकरण भी किया है। उनका कहना है कि आत्महत्याएँ मुख्यतः तीन प्रकार की होती हैं—आत्मस्वार्थी (Egotistical) अप्राकृतिक (Anomique) परार्थी (Altruistic)। ये तीनों ही प्रकार की आत्महत्याएँ किसी-न किसी प्रकार के सामूहिक विघटन के फलस्वरूप होती हैं और उनका कारण वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक अथवा भौगोलिक न होकर सामाजिक होता है। वास्तव में आत्महत्याएँ सामाजिक परिस्थितियों के प्रतिबिम्ब-स्वरूप होती हैं। अलग-अलग तरह की आत्महत्याओं के अलग-अलग सामाजिक कारण होते हैं और वे सामाजिक एकसूत्रता की किसी-न-किसी कमी को प्रदर्शित करते हैं।

(१) आत्मस्वार्थी आत्महत्या (Egotistical suicide)—जब किसी समुदाय की सामाजिक एकसूत्रता में कमी आ जाने के कारण व्यक्ति अपने को समाज से अलग-अलग तथा असम्बद्ध पाता है और इस सामाजिक विलगाव के कारण वह आत्महत्या करने को प्रेरित होता है तो उसे आत्मस्वार्थी आत्महत्या कहते हैं। व्यक्ति समाज से कई रूपों में बँधा होता है। जब समाज के साथ उसके अन्य सभी बन्धन ढीले पड़ जाते हैं तो भी अपने परिवार के साथ उसका सम्बन्ध उसे समाज के साथ बाँधे रखता है और वह *बिलकुल अकेलापन महसूस नहीं* करता। यही कारण है कि विवाहितों में आत्महत्या का अनुपात अविवाहितों की अपेक्षा कम होता है। वैवाहिक सम्बन्ध विच्छेद कर लेने वाले व्यक्तियों में भी इसी कारण विवाहितों की अपेक्षा आत्महत्या का अनुपात अधिक होता है। पारस्परिक बन्धन न होने के कारण ये लोग अकेलापन जल्दी महसूस करने लगते हैं। यह स्थिति उन समुदायों के लोगों के सामने अधिक आती है जिनकी सामाजिक एकसूत्रता विचार-स्वातन्त्र्य आदि के कारण कम है। यही कारण है कि कैथोलिकों में प्रोटेस्टेन्टों की अपेक्षा इस प्रकार की आत्महत्याएँ कम होती हैं।

युद्ध तथा आन्दोलनों के समय सामाजिक कार्यकलाप बढ़ने के साथ-साथ सामाजिक एकसूत्रता भी बढ़ जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि ऐसे अवसरों पर व्यक्ति अकेलापन कम महसूस करता है समाज के साथ उसकी सम्बद्धता बढ़ जाती है और उसके फलस्वरूप आत्महत्याओं का अनुपात घट जाता है। पर जैसे ही यह विशेष स्थिति समाप्त होती है और सामान्य स्थिति आती जाती है, वैसे ही आत्महत्या का अनुपात बढ़ता जाता है क्योंकि सामान्य स्थिति में युद्ध-काल जैसी सामाजिक एकसूत्रता नहीं होती।

(२) अप्राकृतिक आत्महत्या (Anomique suicide)—इन आत्महत्याओं का कारण होता है सामाजिक सन्तुलन तथा समाज के नैतिक संगठन का नष्ट भ्रष्ट हो जाना। आर्थिक संकटों तथा दिवालियापन के कारण जो आत्महत्याएँ होती हैं वे इस श्रेणी में आती हैं। आमतौर से यह कहा जाता है कि इन आत्महत्याओं में वृद्धि गरीबी के कारण होती है। पर यह गलत है। ऐसे अनेक समुदाय और वर्ग हैं जो निर्धन हैं, फिर भी जिनमें आत्महत्या करीब-करीब होती ही नहीं। इस प्रकार की आत्महत्याएँ केवल उस हालत में नहीं होतीं जब सामाजिक सन्तुलन के बिगड़ने के फलस्वरूप निर्धनता में वृद्धि हुई हो। सामाजिक सन्तुलन के बिगड़ने से कभी-कभी समुदाय तथा समुदाय के सदस्यों की सम्पन्नता बढ़ जाती है और सम्पन्नता में इस वृद्धि के कारण भी आत्महत्याओं का अनुपात बढ़ जाता है।

(३) परार्थी आत्महत्या (Altruistic suicide)—इस प्रकार की आत्महत्याएँ उन समुदायों में होती हैं जिनमें व्यक्ति को समूह का केवल एक अंग माना जाता है, उस पर समूह का पूर्ण नियन्त्रण होता है और उसके व्यक्तित्व को कोई खास महत्त्व नहीं दिया जाता। ऐसे समुदायों में अक्सर व्यक्ति समुदाय के प्रति कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर पूरे समुदाय की भलाई के लिए आत्म बलिदान कर डालता है। यदि व्यक्ति से कोई ऐसा काम हो जाता है जिससे समुदाय को धक्का लगे तो उस हालत में भी वह आत्महत्या कर लेता है। प्रारम्भिक समुदायों में इस कर्तव्य की अभिव्यक्ति यन्त्रवत् सामाजिक एकसूत्रता द्वारा होती थी। सेना में सैनिक की कर्तव्य-भावना भी इसी प्रकार की होती है।

इस प्रकार दुर्खीम ने यह सिद्ध किया है कि आत्महत्याओं के जो मनोवैज्ञानिक आर्थिक और वैयक्तिक कारण दिखाई पड़ते हैं वे उसके वास्तविक कारण नहीं हैं। उसका वास्तविक कारण सामाजिक होता है और आत्महत्याएँ सामाजिक स्थिति को प्रतिबिम्बित करती हैं। इस प्रकार दुर्खीम ने आत्महत्याओं का अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से किया है और उसके कारणों तथा प्रभावों

का समाजशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। अपने समाजशास्त्रीय विश्लेषण द्वारा वे इन निष्कर्षों पर भी पहुँचे कि सामान्य परिस्थितियों में (१) आत्म हत्याओं का औसत समान रहता है (२) आत्महत्याएं सर्दियों की अपेक्षा गर्मियों में अधिक होती हैं (३) स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष आत्महत्याएँ अधिक करते हैं (४) कम उम्र वाले लोगों की अपेक्षा ज्यादा उम्र वाले व्यक्तियों में आत्महत्या का अनुपात अधिक होता है (५) ग्रामीणों की अपेक्षा शहरी लोगों में आत्महत्या का अनुपात अधिक होता है (६) सामान्य नागरिकों की अपेक्षा सैनिकों में आत्महत्या का अनुपात अधिक होता है (७) अविवाहितों विधवाओं और विधुरों में विवाहितों की अपेक्षा आत्महत्या का अनुपात अधिक होता है (८) विवाहितों में सन्तानहीन व्यक्तियों में आत्महत्या का अनुपात अधिक होता है और (९) उन धर्मों के अनुयायियों में आत्महत्या का अनुपात उतना ही अधिक होता है जिनमें विचार-स्वातन्त्र्य की जितनी अधिक छूट प्राप्त होती है।

अध्याय ७

सामाजिक नियन्त्रण और नैतिकता

दुर्खीम ने नैतिकता और सामाजिक नियन्त्रण-सम्बन्धी अपने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन 'समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र' नामक पुस्तक में किया है। दुर्खीम का कहना है कि प्रत्येक नैतिकता एक आचरण-संहिता के रूप में होती है। वैसे तो आचरण-सम्बन्धी नियम भी हैं लेकिन उनमें और नैतिकता सम्बन्धी नियमों में बहुत अन्तर होता है। नैतिक नियमों में एक विशेष सत्ता निहित होती है जिसके कारण लोग उनका बढ़-चढ़कर पालन करते हैं। पर इन नैतिक नियमों का पालन महज उसमें निहित सत्ता के कारण नहीं किया जाता। लोग इन नियमों के पालन को अपना कर्तव्य समझते हैं। इसकी वजह यह है कि वे इन्हें किसी-न-किसी हद तक वांछनीय मानते हैं और वांछनीयता की यह भावना ही उनमें कर्तव्य की भावना पैदा करती है। नैतिक नियमों की विषय-वस्तु ऐसी होती है जो लोगों को पसन्द आये, लेकिन इन नियमों का स्वरूप ऐसा होता है कि उनका पालन प्रयत्न और आत्मानुशासन के बगैर नहीं किया जा सकता। फलतः मनुष्य को नैतिक नियमों का पालन करने के लिए अपनी प्रकृति से ऊपर उठना पड़ता है और ऐसा करते समय उसके मन में आन्तरिक द्वन्द्व पैदा होता है। इस प्रकार से वांछनीयता और कर्तव्य की भावना को नैतिक नियमों की प्रमुख विशेषता कहा जा सकता है।

नैतिक यथार्थता

दुर्खीम ने नैतिकता को एक यथार्थ माना है। उनका कहना है कि अन्य यथार्थताओं की भाँति नैतिक यथार्थता के भी दो पक्ष अथवा दो पहलू होते हैं। पहला पक्ष वह है जिसमें हम चीजों को ठीक उसी रूप में देखते हैं जिस रूप में वे दिखाई पड़ती हों। इसे वस्तुवादी (Objective) दृष्टिकोण कहते हैं। दूसरा पक्ष वह है जिसमें हम किन्हीं चीजों के बारे में पहले से कोई धारणा बना लेते हैं और फिर उस दृष्टि से उन चीजों को देखते हैं। इसको पूर्वाग्रही या आत्मगत (Subjective) दृष्टिकोण कहते हैं।

सामूहिक नैतिकता

इतिहास की प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक जन-समुदाय की कोई-न-कोई नैतिकता होती है। यह नैतिकता इस समुदाय के सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होती है। अत: हम इसे उस जन-समुदाय की सामान्य अथवा सामूहिक नैतिकता कह सकते हैं।

वैयक्तिक

ऊपर उल्लिखित सामूहिक नैतिकता के अलावा कितनी ही अन्य नैतिकताएँ भी हैं जिन्हें वैयक्तिक नैतिकता कह सकते हैं। व्यक्तियों की नैतिक चेतनाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। वे अपनी-अपनी नैतिक चेतना के अनुसार सामूहिक नैतिकता की अभिव्यक्ति तथा व्याख्या करते हैं। उनमें से प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक नैतिकता को एक भिन्न दृष्टिकोण से देखता व समझता है। किसी भी व्यक्ति की नैतिक चेतना सामूहिक चेतना के ठीक अनुरूप नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन और वंश-परम्परा के प्रभाव के कारण नैतिक नियमों को एक भिन्न दृष्टिकोण से देखता है। हो सकता है कि कोई व्यक्ति नागरिक नैतिकता को ज्यादा महत्त्व देता हो तो कोई पारिवारिक नैतिकता को। इस तरह से दोनों के अलग अलग दृष्टिकोण हो सकते हैं।

सामूहिक नैतिकता को दुर्खीम ने वस्तुवादी नैतिक यथार्थता और वैयक्तिक नैतिक चेतना को पूर्वाग्रही नैतिक यथार्थता माना है। उनका कहना है कि वैयक्तिक नैतिक चेतनाओं में इतनी अधिक विभिन्नताएँ हैं कि उन्हें आधार बनाकर नैतिकता को नहीं समझा जा सकता। नैतिकता-सम्बन्धी वैयक्तिक धारणाओं के साथ-साथ दार्शनिकों और नैतिक विचारकों के विचारों को भी दुर्खीम ने अपने अन्वेषण का विषय नहीं बनाया। उन्होंने केवल सामूहिक नैतिक यथार्थता को अपने अध्ययन और अन्वेषण का विषय बनाया। उनका कहना है कि इस यथार्थता का अध्ययन दो तरीके से किया जा सकता है—(१) उनकी खोज करके और उनकी जानकारी हासिल करके या (२) उनका मूल्यांकन करके।

दुर्खीम का कहना है कि नैतिकता-सम्बन्धी विचार और नियम आदि इतने जटिल हैं कि किसी-न-किसी सुनिश्चित पद्धति को अपनाये बगैर उनकी खोज कर पाना अथवा उनको समझ पाना असम्भव है। उनका कहना है कि इसके लिये सबसे पहले हमें नैतिक यथार्थता और दूसरी यथार्थताओं के अन्तर को देखना व समझना पड़ेगा। अत: प्रश्न यह उठता है कि नैतिक यथार्थता की कौनसी ऐसी विशेष मुद्रायें हैं जिनके द्वारा उसे समझ व जाना जा सकता है?

नैतिक नियम

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं नैतिकता आचरण-सम्बन्धी नियमों की संहिता के रूप में होती है। पर हमारे अन्य आचरणों के लिए अनेक नियम हैं। अतः हमें यह देखना पड़ेगा कि नैतिक नियमों की क्या विशिष्टताएँ हैं। यदि हम आचरण सम्बन्धी समस्त नियमों पर दृष्टिपात करें तो हम देखेंगे कि उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनकी अपनी कुछ विशिष्टताएँ हैं। यदि ये विशिष्टताएँ नैतिक नियमों-सम्बन्धी आम धारणाओं से मेल खाती हों तो उन्हें हम नैतिक नियमों की संज्ञा दे सकते हैं। अतः यह पता लगाने के लिए कि आचरण-सम्बन्धी कौन से नियम नैतिकता की श्रेणी में आते हैं और कौनसे नियम दूसरी श्रेणियों में हमें उन नियमों पर इस दृष्टि से विचार करना पड़ेगा कि किस नियम का उल्लंघन करने पर क्या परिणाम होता है।

आमतौर से किसी भी नियम का उल्लंघन करने पर उसका परिणाम उस व्यक्ति के लिए अच्छा नहीं होता जो उसका उल्लंघन करता है। ये परिणाम दो तरह के होते हैं—

(१) उदाहरण के लिए, यदि हम स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करें तो हमें बीमार पड़ना पड़ेगा। अतः हम पहले से ही समझ सकते हैं कि यदि हम अमुक नियम का उल्लंघन करेंगे तो उसका अमुक परिणाम होगा।

(२) अब हम दूसरा उदाहरण लें। मान लीजिए कि हम जीवहत्या न करने के नियम का उल्लंघन करते हैं। हम पहले से यह बात नहीं कह सकते कि उसका परिणाम क्या होगा क्योंकि यह जरूरी नहीं है कि हम पकड़े ही जाएँ और हमें सजा मिले। इसका अर्थ यह हुआ कि उस नियम के उल्लंघन में ही कोई सजा निहित नहीं है, जो मुझे तुरन्त खुद मिलेगी। ऐसा भी हो सकता है कि यदि कहीं पर जीवहत्या करना कानूनी अपराध हो तो कहीं पर वह कानूनी अपराध न हो। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि मुझे कोई सजा मिलती है तो वह सजा जीवहत्या करने के कारण नहीं मिलेगी बल्कि जीवहत्या न करने के नियम का उल्लंघन करने के कारण मिलेगी। इतिहास में इस बात के अनगिनत उदाहरण मौजूद हैं कि एक ही काम एक समय-विशेष में अपराध माना जाता था तो वही काम किसी अन्य समय-विशेष में अथवा किन्हीं अन्य परिस्थितियों में अपराध नहीं माना जाता था। अतः जीवहत्या करने के कारण हमें जो सजा मिलेगी वह सजा जीवहत्या के कर्म में निहित नहीं है बल्कि वह सजा हम एक पूर्व-निर्धारित नियम का उल्लंघन करने के कारण मिलेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये नियम दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे

जिसमें उनका परिणाम भी निहित होता है जैसे कि स्वास्थ्य-सम्बन्धी
। दूसरा नियम वह होता है जो हमें कोई कार्य-विशेष करने से मना करता
र हम उन्हें केवल इस मनाही के कारण नहीं करते । नैतिक नियम का भी
स्वरूप होता है ।

जिस तरह नैतिक नियमों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति को दोषी माना
ता है उसी तरह नैतिक नियमों के अनुरूप आचरण करने वाले व्यक्ति को
माज में सम्मान व प्रशंसा मिलती है । यहाँ पर जन-समुदाय की नैतिक चेतना
क दूसरे रूप में काम करती है । यह नैतिक नियमों का सकारात्मक (Positive)
क्ष है । पर हम कोई भी काम केवल इसलिए नहीं करना चाहिये क्योंकि हमें
उसे करने के लिए आदेश दिया गया है भले ही वह काम हमारे लिए अर्थहीन
हो अथवा उससे हमें कोई लाभ न हो । जिस काम में हम रुचि न हो, उसे हम
बराबर करते नहीं रह सकते । अतः नैतिकता में केवल कर्तव्य की भावना ही
नहीं होनी चाहिए, बल्कि वह (नैतिकता) वांछनीय भी होनी चाहिए ।

अतः नैतिक नियम की पहली विशेषता यह है कि उसका पालन करना लोग
अपना कर्तव्य समझें । उसकी दूसरी विशेषता यह है कि इन नियमों को लोग
वांछनीय समझें ।

दुर्खीम का कहना है कि नैतिक यथार्थता की केवल यही दो विशिष्टताएं
ऐसी हैं जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ सर्वव्यापी भी हैं । ऐसा
कोई भी नैतिक नियम नहीं है जिसमें ये विशिष्टताएं न पाई जाती हों । पर
विभिन्न नैतिकता अथवा विभिन्न नैतिक नियमों में उनका अनुपात अलग अलग
होता है ।

दुर्खीम का कहना है कि व्यक्तिगत लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किये जाने
वाले कार्य नैतिक नियमों के अन्तर्गत नहीं माने जा सकते । दूसरे, कोई भी व्यक्ति
नैतिक नियमों अथवा दायित्वों का स्रोत नहीं हो सकता । तीसरे यह कि नैतिक
नियमों का निर्माण जनसमुदाय की सामूहिक चेतना द्वारा होता है । व्यक्ति नैतिक
नियमों को इसलिए स्वीकार करता है क्योंकि उसकी दृष्टि में वे सामाजिक हित
के लिए वांछनीय होते हैं और वह स्वयं समाज को छोड़ नहीं सकता उसस
अलग नहीं हो सकता । दुर्खीम ने यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक नैतिकता
काल-विशेष के सामाजिक संगठन पर आधारित होती है । अतः समस्त काल
विशेषों अथवा सामाजिक संगठनों की नैतिक धारणाएं समान नहीं हो सकतीं

अध्याय ८

धर्म और ज्ञान

दुर्खीम ने 'धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक रूप' नामक अपनी पुस्तक में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से धर्म की उत्पत्ति उसकी प्रवृत्तियों, उद्गम-सूत्रों प्रभावों और स्वरूपों की विवेचना की है। उनका कहना है कि धर्म-सम्बन्धी प्रचलित व्याख्याएँ गलत हैं। उदाहरण के लिए, धर्म को ईश्वर अथवा अन्य पारलौकिक शक्तियों में आस्था को संज्ञा देना गलत है। उनका कहना है कि धर्म एक ऐसी व्यवस्था है जो विश्वासों और प्रचलनों पर आधारित है। इन विश्वासों और प्रचलनों का सम्बन्ध उन चीजों से होता है जिन्हें पवित्र माना जाता है। दूसरे शब्दों में उनका सम्बन्ध उन चीजों से होता है जिन्हें सामान्य जीवन से अलग-अलग कर दिया जाता है। इन विश्वासों और प्रचलनों के समन्वय से सामुदायिक नैतिकता का जन्म होता है जिसे धर्म कहते हैं।

वस्तुओं और प्रक्रियाओं का विभाजन

धर्मों में समस्त वस्तुओं और प्रक्रियाओं को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—सांसारिक और पवित्र (धार्मिक)। धर्मों में ये उपदेश मिलते हैं कि सांसारिक और धार्मिक (पवित्र) मामलों को एक-दूसरे से मिलना नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसा करना धर्मों के अनुसार पाप होता है। जो लोग इस पाप के भागीदार होते हैं, उनके लिए धर्मों में यह कहा गया है कि उन्हें धार्मिक शुद्धि करनी चाहिए। इस धार्मिक शुद्धि के लिए अलग अलग धर्मों में अलग-अलग उपाय बताये गए हैं। धार्मिक कार्यों यानी पूजा पाठ आदि के लिए पृथक स्थान होते हैं जहाँ सांसारिक कार्य-कलाप करने की मनाही होती है। कुछ धर्मों में ऐसे दिन भी निश्चित किये गए हैं जब कि सांसारिक काम-काज में समय न लगाकर केवल धार्मिक कामों में समय लगाना चाहिए। धार्मिक पूजा-पाठ का यही उद्देश्य होता है कि वे या तो मनुष्य की शुद्धि के लिये किए जाते हैं या उस धार्मिक दीक्षा देने के लिए।

धर्म का उद्गम अथवा उत्पत्ति

धर्म के उद्गम अथवा उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी दुर्खीम ने प्रचलित मान्यताओं व सिद्धान्तों का खण्डन किया है। ई० टेलर और एच० स्पेन्सर ने स्वप्नों प्रतिबिम्बों मृत्यु और इसी प्रकार की अन्य जैवकीय मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को, जिन्हें जैवकीय-सामाजिक कारण कहा जा सकता है धर्मों की उत्पत्ति का स्रोत माना है। मैक्स वेबर तथा कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि धर्म की उत्पत्ति उन प्राकृतिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप हुई है जो मनुष्यों पर गहरा असर डालती हैं। आदिमकालीन मनुष्य बिजली तूफान भूडोल सूर्य चन्द्रमा और नदियों के बारे में कुछ भी नहीं जानता था। वह यह समझ नहीं पाता था कि ये क्या हैं और क्यों हैं? ये उसके जीवन को प्रभावित करते थे लेकिन उसका उन पर कोई वश नहीं था। अतः वह उन्हें दैवी देवता अथवा पारलौकिक शक्तियाँ मान बैठा और इस प्रकार उसमें देवी-देवता, ईश्वर तथा अन्य पारलौकिक शक्तियों के प्रति आस्था उत्पन्न हुई और धार्मिक विश्वासों की उत्पत्ति हुई। दुर्खीम का कहना है कि ये दोनों ही सिद्धान्त गलत हैं।

दुर्खीम ने धार्मिक प्रक्रियाओं के प्रारम्भिक स्वरूपों का विस्तृत और गहन विश्लेषण करके धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि धर्म की उत्पत्ति का स्रोत मनोवैज्ञानिक और जैवकीय सामाजिक प्रवृत्तियाँ अथवा प्राकृतिक प्रक्रियाएँ न होकर स्वयं समाज है। उनका कहना है कि धार्मिक धारणाएँ समाज की विशिष्टताओं को प्रतिबिम्बित करती हैं और उसके प्रतीक-स्वरूप हैं। ईश्वर भी समाज का ही मूर्त रूप है। धर्म-सम्बन्धी बुनियादी सामाजिक कार्य-कलापों का उद्देश्य सामाजिक एकसूत्रता उत्पन्न करना उसे सुदृढ़ बनाना और उसे कायम रखना रहा है। यही कारण है कि धर्म ने मानव-इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और स्थायी भूमिका अदा की है। कुछ धर्मों में अल्पकालिक संकट भी आए हैं, पर इन संकटों के बावजूद वे किसी-न-किसी रूप में कायम रहे। दुर्खीम ने भविष्यवाणी की है कि जब तक धार्मिक एकसूत्रता कायम रहेगी तब तक धर्म भी किसी-न किसी रूप में कायम रहेंगे। धर्मों के बाह्य स्वरूप बदलते रहते हैं लेकिन उनका आन्तरिक तत्व चिरन्तन है।

प्रतिनिधानों का सिद्धान्त

दुर्खीम का कहना है कि धार्मिक प्रतिनिधान (Religious representations) सामूहिक प्रतिनिधान (Collective representations) होते हैं और

वे सामूहिक वास्तविकताओं (Realities) को अभिव्यक्त करते हैं। धार्मिक विधियों (पूजा-पाठ के तरीकों) का उद्देश्य उपस्थित जनसमूहों में उत्साह या उत्तेजना पैदा करना होता है। अतः धार्मिक जीवन के रूप में सामूहिक भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। समाज-सम्बन्धी धारणा ही धर्म की आत्मा है। अतः धार्मिक शक्तियाँ वास्तव में सामाजिक शक्तियाँ ही होती हैं। वे मनुष्य की नैतिक शक्तियाँ होती हैं। धर्म में वास्तविक समाज की उपेक्षा होने की बात तो दूर रही धर्म वास्तव में समाज का ही प्रतिबिम्ब होता है। वह समाज के सभी पहलुओं को प्रतिबिम्बित करता है यहाँ तक कि उसके भद्दे-से-भद्दे पहलुओं को भी।

ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त

दुर्खीम ने जिस प्रकार समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से धर्म की व्याख्या व विश्लेषण किया है, इसी प्रकार उन्होंने मनुष्य की अन्य धारणाओं परिकल्पनाओं और मान्यताओं का भी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विवेचन किया है। उनके इस विवेचन में काल दूरी वर्ग व्यक्तित्व और कार्य-कुशलता आदि सम्बन्धी मानव-धारणाओं का भी समावेश है। अपने विश्लेषणों द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ये सभी धारणाएँ केवल सामाजिक तथ्य होती हैं।

दुर्खीम से पहले किसी भी समाजशास्त्री ने मानव ज्ञान का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विवेचन नहीं किया था। यह काम सबसे पहले दुर्खीम ने ही किया और इसीलिए उन्हें 'ज्ञान समाजशास्त्र' का जन्मदाता माना जाता है। उन्होंने अपने 'ज्ञान-समाजशास्त्र' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ज्ञान मानव मस्तिष्क की एक ऐसी उपज (धारणा या परिकल्पना) है जो सामाजिक परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न हुई है। इस प्रकार उन्होंने यह सिद्ध किया है कि धर्म की भाँति ज्ञान की भी उत्पत्ति का स्रोत समाज और उसकी विभिन्न अवस्थाओं की विशिष्टताएँ हैं।

काल (समय)-सम्बन्धी धारणा

दुर्खीम का कहना है कि हम समय अथवा काल को इसीलिए समझ पाते हैं क्योंकि समाज ने उसके विभाजन तथा माप के लिये तरीके विकसित कर दिए हैं। यदि समय अथवा काल को विभाजित करने और उसे नापने के ये तरीके न बनाये गये होते तो काल (समय) की परिकल्पना कर पाना असम्भव होता। मनुष्य ने काल को दिनों सप्ताहों, महीनों और वर्षों में विभाजित किया है।

यह विभाजन एक प्रकार का सामूहिक निर्णय है जिसे सब लोग मानते हैं। समय के विभाजन और माप के इन्हीं तरीकों के माध्यम से हम समय अथवा काल को समझ पाते हैं। समाज ने विभिन्न रीति-रस्मों भोजों और सार्वजनिक उत्सवों के लिए भी दिन निश्चित कर दिये हैं। कलेण्डर यह आश्वासित करने के लिए बनाया गया है कि ये रीति-रस्म और उत्सव आदि निश्चित अवधि पर नियमित रूप से होते रहें। इस प्रकार से कलेण्डर सामूहिक कार्यकलापोंको प्रतिबिम्बित करता है और यह इन सामूहिक कार्यकलापों की समय-सारणी (Time Schedule) के रूप में है।

दूरी और दिशाएँ

हम कहते हैं कि अमुक स्थान इतने मील की दूरी पर है, अथवा अमुक चीज बायें या दायें रखी हुई है अथवा यह कि अमुक स्थान अमुक दिशा में है। पर दूरी को मापने का हमारा माप समाज द्वारा बनाया गया है। इसी तरह सामूहिक निर्णयों द्वारा दिशाएँ निर्धारित की गयी हैं। यदि दूरी को नापने आदि के ये तरीके समाज द्वारा न बनाये गये होते तो न तो दूरी के सम्बन्ध में हमारी कोई धारणा हो सकती था और न दिशाएँ अथवा दायाँ-बायाँ होता। इससे यह प्रकट है कि दूरी और दिशाओं-सम्बन्धी हमारा ज्ञान वास्तव में उन सामूहिक निर्णयों की जानकारी मात्र है जो सर्वमान्य हैं। वर्ग और व्यक्तित्व आदि सम्बन्धी हमारी धारणाएँ भी सामूहिक निर्णयों को ही प्रकट करती हैं तथा उन पर ही आधारित होती हैं। इससे स्पष्ट है कि सभी प्रकार के ज्ञान का स्रोत केवल समाज ही है।

मूल्य और उनका निर्धारण

दुर्खीम का कहना है कि जिस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति का स्रोत समाज है, उसी तरह से मूल्यों की उत्पत्ति भी समाज द्वारा ही हुई है, चाहे वे नैतिक मूल्य हों या अन्य कोई। मूल्य कई प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए सोने चाँदी का आर्थिक मूल्य होता है संगीत का सौन्दर्य-सम्बन्धी मूल्य होता है और सदाचार का नैतिक मूल्य होता है। पर इन मूल्यों का निर्धारण मापदण्ड द्वारा होता है और इन मापदण्डों के सहारे ही हम मूल्यांकन करते हैं। वास्तव में किसी भी वस्तु या गुण का मूल्य स्वयं उस वस्तु या गुण में निहित नहीं होता, बल्कि वह उसमें समाज द्वारा आरोपित किया जाता है।

जीवन के मूल्यों तथा आदर्शों की उत्पत्ति भी समाज द्वारा ही होती है।

व्यक्तियों में विचारों के आदान-प्रदान अथवा मानसिक अन्तःक्रिया के फल स्वरूप सामूहिक विचारों अथवा मानसिक जीवन की उत्पत्ति होती है। जब बहुत से व्यक्ति एक स्थान पर एकत्र होते हैं तो मानसिक अन्तःक्रिया तीव्रतम होती है और उसके फलस्वरूप कुछ ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं अथवा कुछ ऐसी धारणाएँ बनती हैं जिन्हें पूरे समूह की मान्यता प्राप्त होती है। ये धारणाएँ ही आदर्श अथवा जीवन के मूल्यों का रूप ग्रहण करती हैं। जिस समय किसी समाज में उथल-पुथल हो रही हो अथवा आन्दोलन आदि चल रहे हों उस समय समूह की मानसिक अन्तःक्रिया तीव्रतम हो जाती है। फलतः ऐसे अवसरों पर वैयक्तिक और सामाजिक जीवन ज्यादा आदर्शपूर्ण हो जाता है। पर स्थिति के सामान्य होते ही वैयक्तिक और सामाजिक जीवन साधारण स्तर पर वापस आ जाता है। लेकिन आदर्शों की प्रस्थापना के लिए यह आवश्यक होता है कि उस असाधारण समय की याद लोगों को दिलाई जाती रहे। अतः समय-समय पर धार्मिक उत्सवों समाकृतियों और नाटकों आदि के माध्यम से लोगों को यह स्मरण दिलाते रहा जाता है कि उन्होंने किस असाधारण अथवा संकटकालीन समय में किन आदर्शों को अंगीकार करके अपने जीवन में उतारा था ताकि वे आदर्श कायम रहें और व्यक्तियों को प्रेरणा प्रदान करते रहें।

टालकोट पारसन्स
(TALCOTT PARSONS)

अध्याय १

सामान्य परिचय

टालकोट पारसन्स एक प्रसिद्ध अमरीकी समाजशास्त्री हैं। सामाजिक निर्माण और सामाजिक क्रिया-सम्बन्धी उनके समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को समूचे विश्व में मान्यता मिली है। उनके सिद्धान्तों को समाजशास्त्र में नयी खोज कहा जा सकता है। आजकल के समाजशास्त्रियों को उनके इन सिद्धान्तों ने बहुत प्रभावित किया है। फलतः पारसन्स को वर्तमान समाजशास्त्रियों में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

समाजशास्त्र के क्षेत्र में पारसन्स का एक महत्त्वपूर्ण योगदान यह भी है कि उन्होंने यह सिद्ध किया है कि मैक्स वेबर, परेटो और दुर्खीम के सिद्धान्तों में एक प्रकार की समरूपता है क्योंकि वे समान निष्कर्षों को इंगित करते हैं। उन्होंने यह सिद्ध करने की भी चेष्टा की है कि इन समाजशास्त्रियों के सिद्धान्तों का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में मार्शल के आर्थिक सिद्धान्तों से रहा है। पारसन्स का कहना है कि समाजशास्त्र सामाजिक विज्ञान है अतः उसमें परिपक्वता लाने के लिए सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाना चाहिए। उन्होंने सामाजिक अनुसंधान के क्षेत्र में भी सिद्धान्तों के प्रतिपादन पर जोर दिया है। उनका कहना है कि जिस भी लौकिक ज्ञान की पुष्टि की जा सकती है उसे सिद्धान्तों के रूप में आबद्ध करना चाहिए। सी डब्लू० एफ० मीलस का कहना है कि समाजशास्त्र को टालकोट पारसन्स का योगदान त्रिमुखीय है। प्रथमतः यह कि उन्होंने समाजशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादन पर जोर दिया है, द्वितीय यह कि समस्त पुष्टि योग्य लौकिक ज्ञान में सिद्धान्त निहित हैं। अन्ततः यह कि पारसन्स ने अन्तःसम्बन्धों के बारे में सुव्यवस्थित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

जन्म और शिक्षा

टालकोट पारसन्स का जन्म अमरीका में सन् १६०२ में हुआ था। १६२४ में उन्होंने ग्रेजुएट की डिगरी हासिल की। उस समय तक उनकी रुचि केवल

प्राणीशास्त्र में थी। लेकिन इस समय के बाद से उन्होंने अर्थशास्त्र में दिलचस्पी लेना शुरू किया। उनकी इस दिलचस्पी का मुख्य कारण वाल्टन हैमिल्टन का प्रभाव था। फलतः पारसन्स ने अर्थशास्त्र में भी ग्रेजुएट की डिग्री हासिल की। सन् १९२४ से उन्होंने समाजशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया। १९२५ में उन्हें जर्मनी में अध्ययन करने के लिए एक फैलोशिप मिल गयी जिसके फलस्वरूप उन्होंने वहाँ के हेडलबर्ग विश्वविद्यालय में मार्क्स के सिद्धान्तों का अध्ययन किया। उन्होंने मार्क्स की एक पुस्तक 'प्रोटेस्टेन्ट आचार संहिता' (Protestant Ethics) का अनुवाद भी किया। १९२७ में इसी विश्वविद्यालय से उन्हें डॉक्टरेट की उपाधि मिली। उनकी थीसिस का विषय था "मैक्स वेबर और वर्नर सोमबार्ट के सिद्धान्तों में पूँजीवाद-सम्बन्धी अवधारणाएँ।" सन् १९२७ से १९३१ तक वे हारवर्ड (अमरीका) विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर रहे और सन् १९३१ से १९३६ तक समाजशास्त्र के अध्यापक रहे। १९३६ में वे समाजशास्त्र के सहायक प्रोफ़ेसर हो गए और १९४४ में प्रोफ़ेसर बने। सन् १९४६ में हारवर्ड विश्वविद्यालय में सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन व अध्यापन के लिए एक नया विभाग खोला गया और श्री पारसन्स को उसका अध्यक्ष बना दिया गया। उसके बाद से वे उसी पद पर काम कर रहे हैं।

पारसन्स की कृतियाँ

पारसन्स की सर्वप्रथम पुस्तक १९३१ में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक का नाम है 'सामाजिक क्रिया का ढाँचा' (The Structure of Social Action)। उन्होंने अपनी इस पुस्तक में सामाजिक क्रिया (Action) सम्बन्धी अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक के प्रकाशन ने उन्हें विश्वविख्यात समाजशास्त्री बना दिया। इसके बाद उन्होंने 'सामाजिक सिद्धान्त सम्बन्धी लेख' नामक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने अपने उपर्युक्त सिद्धान्तों को विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया। इसके बाद से उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं जिनमें से 'सामाजिक व्यवस्था' (Social System) और 'परिवार, समाजी-करण और अन्तर्क्रिया की प्रक्रिया' (Family Socialisation and Interaction Process) नामक पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने कुछ समाज शास्त्रियों की कृतियों के अनुवाद भी किए हैं तथा कुछ समाजशास्त्रियों के सिद्धान्तों पर विवेचनात्मक पुस्तकें भी लिखी हैं। इसके अलावा उन्होंने सामाजिक विज्ञान के विश्वकोष के भी कुछ अंश लिखे हैं।

पारसंस पर अन्य समाजशास्त्रियों का प्रभाव

पारसन्स पर मैक्स वेबर और दुर्खीम के सिद्धान्तों का विशेष रूप से असर रहा है। उन पर फ्रायड के सिद्धान्तों का भी असर पड़ा है और इसी प्रभाव के कारण वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि गतिशील सामाजिक व्यवस्था की सैद्धान्तिक समस्याओं का भी अध्ययन किया जाना चाहिए। पारसन्स पर परेटो के सिद्धान्तों का भी असर रहा है। इसके अलावा अनेक अर्थशास्त्रियों ने उनके विचारों को प्रभावित किया है।